समर्पण।

झालावाड़ राज्य के दीवान

रायबहादुर परिडत परमानन्द चतुर्वेदी, बी॰ ए॰,

की

विद्वत्ता, बहुभाषाभिज्ञता, हिन्दीहितैषणा आदि
अनेक सद्गुणों के कारण

उनके विषय में उत्पन्न हुए अपने हार्दिक भक्ति-भावोद्रेक की प्रबल प्रेरणा से

अनुवादक ने

इस पुस्तक-रूपी प्रसून-स्तबक को

उन्हें

सादर, सानुराग और सविनय

समर्पित

किया।

शिक्षा

मानसिक, नैतिक और शारीरिक ।

अर्थात्

प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेन्सर के "एजुकेशन" नामक
ग्रन्थ का अनुवाद ।

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनूं
को सप्रेम भेट -

१९१०

प्रथम बार]

[मूल्य २॥)

पुस्तक-सूची

प्रकरण-सूची

विषय-सूची

दूसरा प्रकरण

(मानसिक शिक्षा)

नम्बर	विषय	पृष्ठ

तीसरा प्रकरण

(नैतिक शिक्षा)

चौथा प्रकरण

(शारीरिक शिक्षा)

भूमिका।

रप के तत्त्वज्ञानियों में महा-दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर का स्थान सबसे ऊँचा है। बड़े बडे विद्वानों तक ने आपको पाश्चात्य दार्शनिकों का शिरोमणि माना है। यह पुस्तक आपही की "यजुकेशन" (Education) नामक अँगरेजी-पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद है।

शिक्षा की जैसी विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण मीमांसा इस पुस्तक मे स्पेन्सर ने की है वैसी आज तक और किसी ने नहीं की। शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों मे यह पुस्तक अद्वितीय है। स्पेन्सर की पुस्तकों में से जितना प्रचार इस पुस्तक का हुआ है उतना और किसी का नहीं हुआ। योरप और एशिया की अनेक भाषाओ में इसके अनुवाद हो गये हैं और होते जारहे हैं। अमेरिका मे तो इस पुस्तक का बहुत ही अधिक आदर हुआ है। आज तक इसकी लाखों कापियाँ छपकर बिक चुकी हैं और बराबर बिक रही है। स्पेन्सर ने इस पुस्तक में ऐसी योग्यता से शिक्षा की मीमांसा की है और ऐसे अखण्डनीय प्रमाणों से अपने कथन को सिद्ध किया है कि उसके सिद्धान्तों को मानने मे प्रायः किसी को भी "किन्तु", "परन्तु' करने की जगह नहीं रह गई। स्पेन्सर के सिद्धान्तों के प्रायः सर्वांश को मान्य समझ कर अँगरेजों ने अपने देश में अपनी शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन आरम्भ कर दिया है और जैसे जैसे सुभीता होता जाता है वैसे वैसे वे यथासमय बराबर परिवर्तन करते चले जा रहे हैं। इतनेहीं से इस पुस्तक की योग्यता और उपयोगिता अच्छी तरह समझ में आ सकती है। शिक्षा-प्रचार के सम्बन्ध में इँगलैंड के मुक़ाबले में बेचारा भारतवर्ष कोई चीज़ ही नहीं। इस देश में तो शिक्षा की बड़ोही हीन दशा है। अतएव हम लोगों के लिए तो स्पेन्सर के शिक्षा-विषयक सिद्धान्तों के जानने और तदनुसार व्यवहार करने की बहुतही अधिक आवश्यकता है। बालक, युवा और वृद्ध, सबके

लिए, यह पुस्तक एकसी उपयोगी है। स्पेन्सर ने इस बात के सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है कि अपनी सन्तति का जीवन सार्थक करना अथवा उसे आमरण महादुर्दमनीय आपदाओं में फंसाना सर्वथा माता-पिता के हाथ मे है। इससे यदि औरों के लिए नहीं ते बाल बच्चेदार मनुष्यों के लिए तो यह परमावश्यक है कि वे स्पेन्सर की मीमांसा को विचारपूर्वक पढ़ें और प्राणों से भी प्यारी अपनी सन्तति की शिक्षा का सुप्रबन्ध करके अपने पितृत्वधर्म्म का पालन करें। सन्तान के अच्छी तरह पालन, पोषण और शिक्षण की योग्यता न रख कर जो लोग पिता के पद के अधिकारी बनते है वे ईश्वर की दृष्टि मे अपने को अपराधी बनाते है। पुत्र उत्पन्न करके उसकी शिक्षा में अवहेलना करना, और अपनी अयोग्यता अथवा मूर्खता के कारण उसके जीवन को हमेशा के लिए कण्टकमय बनाना, बहुत बड़ा पाप है। इस घोर पातक—इस कर्त्तव्यहीनता के महा अनर्थकारी परिणाम—से बचने की जिन्हें कुछ भी इच्छा हो उनका यह परम धर्म्म है कि वे स्पेन्सर साहब की पुस्तक को ध्यान से पढ़ कर अपनी सन्तति के कल्याण का तन, मन, धन से उपाय करें। जो मनुष्य अपनी सन्तति के जीवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नहीं रखते, अथवा जान बूझ कर उस तरफ़ ध्यान नहीं देते, उनको पिता बनने का अधिकार नहीं; उनको पुत्रोत्पादन करने का अधिकार नहीं; उनको विवाह करने का अधिकार नहीं। जितने विद्यार्थी मदरसों, स्कूलों और कालेजों में शिक्षा पा रहे हैं वे सब एक न एक दिन पिता के पद पर अवश्य आरूढ़ होंगे। अतएव युवा और जरठो ही को नहीं, इन छोटे बड़े सब उम्र के विद्यार्थियों को भी चाहिए कि वे स्पेन्सर साहब की शिक्षा से लाभ उठाने का जी जान से प्रयत्न करें।

स्पेन्सर ने शिक्षा की जो मीमांसा इस पुस्तक में की है उसके किसी किसी अंश का सम्बन्ध पाश्चात्य देशों ही की सामाजिक अवस्था और शिक्षा-प्रणाली के अनुकूल है। ऐसे अंशों को छोड़ कर और सब अंश सब देशों के लिए समान उपयोगी हैं। पुस्तककर्त्ता ने शिक्षा का जो नमूना इस पुस्तक में दिखलाया है वह सर्वोत्कृष्ट नमूना है। उच्च कोटि की शिक्षा कैसी होनी चाहिए, इसका एक सजीव चित्र सा उसने खींच दिया है। हिन्दुस्तान के समान अवनत, परावलम्बी, अकर्म्मण्य और शिक्षा-पराङ्मुख देश के

लिए स्पेन्सर के नमूने की शिक्षा का एक दम अनुसरण करना बिलकुल ही असम्भव है। उसके सिद्धान्तो को पढ़ कर तत्काल उनके अनुसार व्यवहार नहीं हो सकता। परन्तु शिक्षा के परमोपयोगी नमूने का ज्ञान लेना हम लोगों के लिए बहुत आवश्यक है। यदि यह बात मालूम हो जायगी कि सबसे अच्छी शिक्षा कैसी होनी चाहिए तो क्रम क्रम से तदनुकूल व्यवहार करने का द्वार तो उन्मुक्त हो जायगा। पथिक को अपने गन्तव्य स्थान की दिशा और उसका मार्ग मालूम हो जाने से उस तक पहुँचने में बहुत सुभीता होता है। जिसे यही नहीं मालूम कि हमे कहाँ और किस मार्ग से जाना है वह, सम्भव है, कभी अपने अभीष्ट स्थान को न पहुँच सके। और यदि पहुँचे भी तो, मार्ग मे अनेक कष्ट उठाने के बाद, देर से पहुँचे।

स्पेन्सर मे विषय-प्रतिपादन करने की शक्ति बहुत ही अद्भुत थी। जिस विषय की विवेचना उसने आरम्भ की है उसकी पराकाष्ठा कर दी है। जगह जगह पर उसने प्राकृतिक नियमों की दुहाई दी है। जितने नैसर्गिक नियम हैं, सब मानों प्रत्यक्ष परमेश्वर के बनाये हुए कानून हैं। उनकी पाबन्दी करना मानों परमेश्वर की आज्ञा पालन करना है। और परमेश्वर की आज्ञायें कभी अनुचित और अनिष्टकारिणी नहीं हो सकतीं। अतएव स्पेन्सर ने यथासम्भव इन्हीं आज्ञाओं का अनुसरण करने की सलाह की है। प्राकृतिक नियम तोड़ने पर प्राकृतिक ही सज़ा देने, प्राकृतिक मनोविकारों की तत्काल तृप्ति करने, भूख और प्यास आदि के रूप मे प्राकृतिक अपेक्षाओं की पूर्ति करने, जो प्राकृतिक शक्ति जितना काम कर सकती है उससे अधिक काम उससे न लेने, का स्पेन्सर ने बार बार विधान किया है। उस के प्रायः सभी सिद्धान्तो का आधार प्राकृतिक नियमों ही पर अवलम्बित है। इसी से उसके उपदेश इतने मर्म्मस्पर्शी हैं; इसीसे उसके निश्चय इतने अखण्डनीय हैं। जितने नैसर्गिक व्यापार हैं सब कार्य्य-कारण-भावों से नियमित हैं। इस बात को स्पेन्सर ने बड़ी ख़ूबी से समझाया है। इस बात को समझ लेने से मनुष्य में उद्योगशीलता और समाधान-वृत्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती। कार्य्य-कारण-भाव का ज्ञान होने से मनुष्य के ध्यान में यह बात भी आ जाती है कि प्रत्येक विषय के सुधार का उसके कार्य्य-कारण से क्या सम्बन्ध है। और इस सम्बन्ध का समझ लेना मानों सुधार के सच्चे तरीक़े को ढूँढ़ निकालना है।

स्पेन्सर की विषय-विवेचना से एक और भी बहुत ही उपयोगी बात की शिक्षा मिलती है। वह यह है कि मनुष्य को प्रत्येक चीज परिश्रम करके प्राप्त करना चाहिए और स्वाभाविक शक्तियों का विकास, बिना औरो की मदद के, मनुष्यों को यथासम्भव .खुद ही करना चाहिए। स्पेन्सर का यह सिद्धान्त बहुत ही उपयोगी है। यदि इस बात को सब लोग मान लें और परिश्रमपूर्वक सब चीजो की प्राप्ति का .खुद ही प्रयत्न करें, और .खुद ही अपनी ईश्वरदत्त शक्तियों को विकसित करे, तो देश की उन्नति होने में कुछ भी देर न लगे।

बच्चो के मानसिक और नैतिक शिक्षण के विषय में स्पेन्सर के विचार बड़े ही उदात्त और श्रद्धेय हैं। अपने बच्चो के मानसिक और नैतिक शिक्षण के लिए माता-पिता को जिन शास्त्रो, जिन नियमों, या जिन बातों का जानना ज़रूरी है उनको जान कर यदि वे तदनुकूल व्यवहार करने लगें तो कुछ ही दिनों में भावी सन्तति की मानसिक और नैतिक अवस्था उन्नत हो जाय। और, मानसिक तथा नैतिक उन्नति का समाज पर जो असर पड़ता है वह बहुत ही मङ्गलकारक होता है। अतएव इन विषयों मे भी स्पेन्सर के सिद्धान्तो का अनुसरण करने से हमारे समाज और हमारे देश के कल्याण की बहुत कुछ आशा है।

व्यापार-धन्धा करके यथेष्ट धन-सम्पादन का जो मार्ग स्पेन्सर ने बतलाया है वह और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है। क्योंकि, इस समय, इस विषय में, हमारे देश की दशा अत्यन्त हीन हो रही है। हम लोगों को पेट भर खाने तक को नहीं मिलता। इस अवस्था में, सामाजिक या राजनैतिक विषयों की उन्नति होना प्रायः असम्भव है। जो भूखा है वह समाज का क्या सुधार करेगा? उससे राजनैतिक विषयों की उन्नति की आशा रखना केवल दुराशा है। इस लिए हम लोगो को उदरपूर्ति के लिए पहले प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में हमारा एक मात्र त्राता विज्ञान है। वैज्ञानिक शिक्षा को स्पेन्सर ने इसी लिए प्रधानता दी है और सब तरह की शिक्षाओ में इसी को सबसे अधिक उपयोगी बतलाया है। इस शिक्षा की ओर ध्यान देना प्रत्येक भारतवर्षवासी का परम कर्तव्य होना चाहिए।

शारीरिक शिक्षा की दुर्दशा का जो वर्णन स्पेन्सर ने किया है वह बड़ा

ही हृदयविदारी है। उसने, इस विषय में, जो कुछ लिखा है उसका सम्बन्ध विलायत से है। इस देश मे तो विद्यार्थियों की शारीरिक दुर्दशा का अन्त ही नहीं। उसके खयाल से स्पेन्सर की बतलाई हुई दुर्गतियों को सोच कर पढ़नेवाले को रोमांच होता है। व्यायाम का बहुत कुछ अभाव, अपरिपक्व वय में सोलह सोलह घंटे मानसिक मेहनत करके परीक्षाओ का पास करना, पाँच छः वर्ष के होते ही छोटे छोटे बच्चो का मदरसे जाना—शरीरारोग्य का एक दम ही नाश कर डालना है। वर्तमान शिक्षा के भयङ्कर परिणामों को सोच कर बदन थर थर काँपने लगता है। इस निर्दय शिक्षा-प्रणाली की बदौलत कितने ही सुकुमार बालक अकाल ही मे मैात के मुँह में चले जाते हैं। जो बच जाते है वे जन्मरोगी हो जाते हैं और अपने शारीरिक रोगों और व्यङ्गो से अपनी सन्तति का भी जीवन कण्टकमय बनाने के कारण होते है। स्पेन्सर ने इन बातों का बहुत ही भयानक चित्र खींचा है। उसे पढ़ कर हम लोग वर्तमान कठोर शिक्षा-प्रणाली की हानियों से बहुत कुछ बच सकते हैं। यदि यह पुस्तक हमें उस समय पढ़ने को मिलती जिस समय हम विद्यार्थी थे, या उसके बाद जब हमने पहले ही पहल सांसारिक व्यवहारों का जाल अपने गले में डाला था, तो हम अनेक दुस्सह व्याधियों से बच जाते। पाठक, विश्वास कीजिए, हम आपसे सर्वथा सच कह रहे हैं। इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं।

इस पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में करने का निश्चय कर चुकने पर जब हमने मूल पुस्तक को ध्यान से पढा तब हमें मालूम हुआ कि पुस्तक बहुत क्लिष्ट है। अतएव उसका अनुवाद हिन्दी मे करना सहज काम नहीं। इस पर हमने इस बात की खोज की कि इस देश की और भी किसी भाषा में इसका अनुवाद हुआ है या नहीं। खोज का फल यह हुआ कि हमें संस्कृत, मराठी और उर्दू, इन तीन भाषाओ मे इसके अनुवाद का पता लगा। इसका संस्कृत-अनुवाद किसी मदरासप्रान्त वासी सज्जन ने किया है। वह बॅंगलैार से प्रकाशित हुआ था। बहुत सम्भव है माइसोर गवर्नमेंट की मदद से यह अनुवाद प्रकाशित हुआ हो। पर यह अनुवाद हमें न मिल सका। प्रकाशकों ने हमारे पत्र के उत्तर में लिखा कि संस्कृत-अनुवाद की सब कापियाँ बिक गईं। इसका मराठी अनुवाद श्रीयुत वासुदेव गणेश सहस्रबुद्धे ने किया है और आज तक इसके

कई संस्करण छप कर बिक चुके हैं। पूना में "दक्षिणा प्राइज कमिटी" नाम की एक सभा है। वह उत्तमोत्तम ग्रन्थों के लेखकों को पुरस्कार देती है। उसकी बदौलत आज तक अनेक उपयोगी पुस्तकें मराठी में प्रकाशित हो चुकी हैं और अब भी प्रकाशित होती जाती हैं। यह मराठी-अनुवाद इस सभा का पसन्द किया हुआ है। सहस्रबुद्धे महाशय को इसके लिए दक्षिणा भी मिली है। इसे उन्होंने कोई डेढ़ वर्ष के परिश्रम से समाप्त किया था। उर्दू-अनुवाद मौलवी ख़्वाजह ग़ुलामुलहसनी साहब पानीपती ने किया है। यह अनुवाद "अंजुमने-तरक़्क़ी-उर्दू" के प्रयत्न का फल है। १९०३ में इस अंजुमन ने कुछ किताबों के अनुवाद कराने के लिए एक विज्ञापन दिया और यह लिखा कि जो लोग इन किताबों का अनुवाद करना चाहें वे अपने अपने अनुवाद का नमूना भेजें। इन किताबों में स्पेन्सर की "शिक्षा" का भी नाम था। पाँच आदमियों ने इस पुस्तक के कुछ पृष्ठों का अनुवाद करके अंजुमन के पास भेजा। सब नमूनों की जाँच कई नामी नामी विद्वानों से कराई गई। बहु-सम्मति से ख़्वाजह साहब का अनुवाद सबसे अच्छा ठहरा। अतएव वही प्रकाशित किया गया। स्पेन्सर की इस पुस्तक के सम्बन्ध में अंजुमन ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में लिखा है —

> "यह किताब प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेन्सर की रचना है। इसका नाम "शिक्षा" है। यह किताब इस रुतबे की है कि यदि "अंजुमने-उर्दू" की तरफ़ से सिर्फ़ यही एक किताब तरजमा होकर प्रकाशित होती तो अंजुमन धन्यवाद की पात्र थी"।

जिस अंजुमन की यह राय है उसके सभासद कितनेही प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान् हैं। अतएव, इस राय को पढ़ कर, पाठक इस पुस्तक की योग्यता और उपयोगिता का अन्दाज सहज ही में कर सकेंगे।

सहस्रबुद्धे महाशय ने अपने अनुवाद में खूब स्वतन्त्रता से काम लिया है। इस बात को उन्होंने भूमिका में स्वीकार भी किया है। उन्होंने मनमनी काट छाँट की है। जो बात आपको इस देश की समाज-व्यवस्था के प्रतिकूल देख पड़ी है उसे तो आपने छोड़ ही दिया है; किन्तु और भी आपने मनमानी छाड़ छाड़ की है। अनेक स्थलों में आपने नया मज़मून भी अपनी

तरफ़ से मिलाया है। उदाहरण के लिए, आपके अनुवाद के अन्तिम पृष्ठ पर जो मजमून है वह बिलकुलही नया है। विपरीत इसके, ख़्वाजह साहब ने स्पेन्सर के एक एक शब्द का अनुवाद किया है। कहीं विन्दु-विसर्ग भी आपसे छूटने नहीं पाया। 'अंजुमने-तरक्की-उर्दू" की आज्ञा अनुवाद करने की थी, मूल पुस्तक का मतलब लिखने की नहीं। इसी से, आप कहते हैं, आपने ऐसा किया। इस पर भी आपका अनुवाद बहुत अच्छा हुआ है। शाब्दिक अनुवाद होने पर भी मूल का मतलब समझने में बाधा नहीं आती। बड़े बड़े विद्वानों ने आपके अनुवाद की प्रशंसा की है। यह प्रशंसा सर्वथा यथार्थ है। यदि आप स्वतन्त्रतापूर्वक मूल पुस्तक का मतलब उर्दू में लिखते ते फिर क्या कहना था। ऐसा करने से सोने में सुगन्ध आजाती। अनुवाद और भी उत्तम होता। इस अनुवाद में हमें सिर्फ़ यही एक त्रुटि देख पड़ी कि मूल का भाव कहीं कहीं ठीक नहीं उतरा। उदाहरणार्थ—स्पेन्सर ने चौथे प्रकरण के अन्त में बहुत अधिक मानसिक मेहनत करने के दुःखकारक परिणामों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "बिना बाहर परिश्रम के कारण भूख जाती रहती है। थोड़ा भी पैदल चलने से थकावट मालूम होती है। ज़ीने पर चढ़ने से दम फूलने लगता है। दृष्टि अत्यन्त मन्द हो जाती है और बाढ़ मारी जाती है।" इस अंश का अनुवाद करने मे ख़्वाजह साहब ने "Greatly impaired vision' का अर्थ किया है—"सख़्त परेशान ख़्वाब नज़र आने"। यह ठीक नहीं मालूम होता। यहाँ पर स्पेन्सर का मतलब सिर्फ़ दृष्टि की कमज़ोरी से जान पड़ता है, बुरे बुरे स्वप्नों से नहीं। "Vision" का अर्थ "स्वप्न" भी हो सकता है, परन्तु यहाँ स्वप्नो से मतलब नहीं, सिर्फ़ दृष्टि की कमज़ोरी से है। परेशान ख़्वाब ते कभी कभी नीरोग आदमियों को भी होते हैं। इसी तरह की और भी त्रुटियाँ इस अनुवाद में हैं। कुछ भी हो, इन दोनों अनुवादो से हमें बहुत सहायता मिली है। अतएव हम अनुवादक महाशयो के हृदय से कृतज्ञ हैं। कोई ९ महीने के सतत परिश्रम से हमारा यह हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ है।

हमने अपने अनुवाद में मूल की कोई बात नहीं छोड़ी। पर न ते हमने मूल के एक एक शब्द ही का अनुवाद किया है और न अपनी तरफ़ से कोई बात बढ़ाई ही है। स्पेन्सर के मतलब को हमने अपने शब्दो में लिखने की यथाशक्ति चेष्टा की है। परन्तु उसकी भाषा इतनी जटिल और बहुर्थगर्भित

है कि उसका मतलब अच्छी तरह समझाने के लिए हमें बहुधा अनुवाद को पल्लवित करना पड़ा है। उसकी एक बात को स्पष्ट करने के लिए कहीं कहीं पर हमे चार बातें कहनी पड़ी हैं। परन्तु कोई बिलकुल ही नई बात हमने अपनी तरफ़ से नहीं लिखी। हाँ, जहाँ पर स्पेन्सर ने ग्रीक, लैटिन आदि पुरानी भाषाओं की शिक्षा की अनुपयोगिता दिखलाई है वहाँ हमने "संस्कृत" का भी नाम लिख दिया है। यदि हमने कुछ अधिक लिखा है, तो इतनाहीं। एक आध जगह पर जहाँ हमें अपनी तरफ़ से कुछ कहना था वहाँ हमने अपने कथन को पादटीका में लिख दिया है।

पुस्तक के प्रत्येक प्रकरण में जितने पाराग्राफ़्स हैं सबमें हमने नम्बर-वार अङ्क दे दिये हैं और प्रत्येक पाराग्राफ़ का सारांश ऊपर लिख दिया है। यह सारांश प्रत्येक पाराग्राफ के मतलब को थोड़े मे जान लेने के लिए आईने का काम देता है। उसे पढ़ लेने से यह झट मालूम हो जाता है कि इस पाराग्राफ़ का विषय क्या है। पुस्तक के आरम्भ में प्रकरण-क्रम से सब पाराग्राफ़ो की नम्बरवार एक सूची दे दी गई है और प्रत्येक पाराग्राफ़ का सारांश भी उसके सामने लिख दिया गया है। इसके सिवा सारी पुस्तक का संक्षिप्त सारांश लिख कर अलग भी लगा दिया गया है। जिसे पूरी पुस्तक का अनुवाद पढ़ने के लिए समय नहीं, वह सिर्फ़ संक्षिप्त सारांश ही पढ़ कर स्पेन्सर के सिद्धान्तो का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिसे सारांश भी पढ़ने की फ़ुरसत नहीं वह सिर्फ़ विषय-सूची ही पढ़ कर यह जान सकता है कि इस पुस्तक में किन किन बातों का वर्णन है। इसके सिवा हर्बर्ट स्पेन्सर का जीवन-चरित और मूल-अँगरेज़ी-पुस्तक के प्रकाशक की भूमिका का अनुवाद भी आरम्भ में लगा दिया गया है। कोई पुस्तक पढ़ने समय पढनेवाले के मन में पुस्तककर्त्ता का परिचय प्राप्त करने की इच्छा सहज ही उत्पन्न होती है। इसी लिए स्पेन्सर का संक्षिप्त चरित भी लिख कर इस पुस्तक के साथ प्रकाशित कर देना हमने मुनासिब समझा। मतलब यह कि शक्ति भर पुस्तक को उपयोगी बनाने में कोई कसर नहीं की गई।

इस अनुवाद में भाषा के सौन्दर्य्य पर हमने ध्यान नहीं दिया। सीधी सादी भाषा में ही मूल-पुस्तक के मतलब को समझाने का हमने यत्न किया है। कहीं कहीं निरुपाय होकर हमें संस्कृत के कठिन शब्दों का भी प्रयोग

करना पड़ा है। पर उर्दू, फ़ारसी आदि भाषाओं के जो शब्द बोल चाल में आते हैं उनका प्रयोग भर सक करने में हमने त्रुटि भी नहीं की। भाषा चाहे जैसी हो, पुस्तक का मतलब समझ में आजाना चाहिए। मतलब ही मुख्य है। भाषा-सौन्दर्य्य गौण बात है। अतएव, यदि, इस अनुवाद को पढ़ कर स्पेन्सर का मतलब पाठको की समझ में आ जाय तो हम इतनेहीं से अपने को कृतार्थ मानेंगे। स्पेन्सर बहुत बड़ा विद्वान् था। उसकी लेखनी में अद्भुत और आश्चर्य्य-कारिणी शक्ति थी। उसके विचार अत्यन्त गहन और गम्भीर हैं। जगह जगह पर उसने, इस पुस्तक में, वैज्ञानिक विषयों का विचार किया है। अतएव हमें इस अनुवाद मे बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इस बात को वही लोग समझ सकेंगे जिनको कभी इस तरह की क्लिष्ट और गम्भीर-विवेचना-पूर्ण पुस्तक के अनुवाद करने का मौक़ा आया होगा। स्पेन्सर के ग्रन्थों का अनुवाद करने की हममें यथेष्ट योग्यता नहीं। तथापि इस परमोपयोगी पुस्तक के अनुवाद से होनेवाले लाभ के ख़याल से हमने जो यह चापल्य किया है, आशा है, उसे विचार-शील पाठक क्षमा करेंगे।

जुही, कानपुर,
८ अक्तूबर, १९०६

महावीरप्रसाद द्विवेदी

मूल अँगरेज़ी पुस्तक "शिक्षा" के प्रकाशक की

भूमिका ।

१८७८ ईसवी में इस पुस्तक का एक सस्ता संस्करण निकाला गया। उसकी भूमिका में पुस्तककर्त्ता, हर्बर्ट स्पेन्सर, कहते हैंः—

"शिक्षा के विषय मे यह छोटी सी पुस्तक जो मैंने लिखी है उसके असली संस्करण की माँग बढ़ती देख मेरे मन में यह कल्पना हुई कि मैं इसका एक सस्ता सस्करण निकालूँ जिसमें सब लोगो को इसे मोल लेने में अधिक सुभीता हो। अमेरिका में इस पुस्तक का बहुत अधिक प्रचार हुआ है और फ़्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, हंगारी, हालैंड और डेनमार्क की भाषाओं में इसके अनुवाद हो गये हैं। इन बातों ने मेरे इरादे को और भी पक्का कर दिया और इस बात का विश्वास दिला दिया कि अधिक प्रचार के लिए इँगलैंड में इस पुस्तक के एक सस्ते संस्करण के निकलने की ज़रूरत है।"

"इसके मूल लेख में कोई फेरफार नहीं किये गये। यदि मेरे पास और अधिक ज़रूरी काम न होते तो मैं इस पुस्तक को सावधानी से दुबारा देख जाता। पर विशेष महत्त्व के कामों को रोक कर इसे दुहराना मैंने मुनासिब नहीं समझा"।

अब तक (१९०३ ईसवी तक) यह पुस्तक स्पेन, स्वीडन, बोहेमिया, ग्रीस,जपान, चीन, बलगेरिया और अरब में भी भाषान्तरित हो गई है—इन देशों की भाषाओं में भी इसके अनुवाद छप गये हैं। संस्कृत में भी इसका अनुवाद हो गया है।

इस पुस्तक का और भी अधिक प्रचार करने के लिए, स्पेन्सर साहब की सलाह से, रेशनैलिस्ट प्रेस असोसिएशन अब इसका पहले से भी सस्ता संस्करण प्रकाशित करती है। ऐसा करने में पुस्तक का मूलांश पूर्ववत् अक्षर प्रत्यक्षर वैसा ही रक्खा गया है।

हर्बर्ट स्पेन्सर का जीवन-चरित।

यह संसार प्रकृति और पुरुष का लीला-स्थल है। बिना इन दोनों का संयोग हुए संसार क्या, कुछ भी नहीं बन सकता। संसार में दृष्टादृष्ट जो कुछ है प्रकृति का खेल है; पर उस खेल का दिखानेवाला पुरुष है। प्रकृति का दूसरा नाम पदार्थ है और पुरुष का दूसरा नाम शक्ति। जितने पदार्थ हैं सबमे कोई न कोई शक्ति विद्यमान है। पानी से भाफ, भाफ से मेघ और मेघों से फिर पानी। रुई से सूत, सूत से कपड़े और कपड़ों से फिर रुई। बीज से वृक्ष, वृक्ष से फूल, फूल से फल और फल से फिर बीज। इसी तरह संसार मे उलट फेर लगा रहता है और प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहने वाली शक्ति-विशेष इसका कारण है। जबसे सृष्टि हुई तबसे प्रकृति-पुरुष का झँझट जो शुरू हुआ तो अब तक बराबर चला जा रहा है। यदि प्रकृति निर्बल और पुरुष प्रबल हो जाता है तो उसे विद्वान् लोग उत्क्रान्ति कहते हैं और उसकी विपरीत घटना को अपक्रान्ति कहते हैं। संसार में जितने व्यापार हैं सब का कारण इस उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति ही के आघात-विघात हैं। जिन नियमों—जिन सिद्धान्तो—के अनुसार यह सब होता है उनकी विवेचना करनेवालो का नाम तत्त्व-दर्शी है। ऐसे तत्त्व-दर्शियों के शिरोमणि हर्बर्ट स्पेन्सर का संक्षिप्त चरित सुनिए।

इँगलैंड के डर्बी नामक शहर में २७ एप्रिल १८२० को स्पेन्सर का जन्म हुआ। उसका पिता वहाँ एक मदरसे में अध्यापक था और चचा पादरी था। ख़र्च अधिक था। स्कूल की नौकरी से जो आमदनी होती थी उससे काम न चलता था। इससे स्पेन्सर का पिता लड़कों के घर जा कर पढ़ाया करता था। इसमें अधिक मेहनत पड़ती थी, जिसका फल यह हुआ कि वह बीमार हो गया और मदरसे से उसे इस्तेफ़ा देना पड़ा। जब उसकी तबीयत कुछ अच्छी हुई तब उसने कलाबत्तू की डोरियाँ तैयार करने का एक कारख़ाना खोला। उसमें उसे नुक़सान हुआ। जिसने जन्म भर अध्ययन और अध्यापन किया उससे इस तरह के काम भला कैसे हो सकते थे? अन्त में कारख़ाना बन्द करना पड़ा। तब स्पेन्सर के पिता ने अपना एक

मदरसा अलग खोल लिया। इसमें उसे कामयाबी हुई और घर का ख़र्च अच्छी तरह चलने लगा।

हर्बर्ट स्पेन्सर लड़कपन में बहुत कमज़ोर था। सात आठ वर्ष की उम्र तक उसने कुछ भी नहीं पढ़ा लिखा। उसकी कमज़ोरी देख कर उसका पिता भी कुछ न कहता था। उसने अपने लड़के पर पढ़ने लिखने के लिए कभी दबाव नहीं डाला। हर्बर्ट को छोटी ही उम्र में विज्ञान का चसका लग गया था। वह दूर दूर तक घूमने निकल जाया करता था और तरह तरह के कीड़े, मकोड़े और पैाधे लाकर घर पर जमा करता था। इसेही उस की विज्ञान-शिक्षा का प्रारम्भ समझिए। पिता इन बातों से अप्रसन्न न होता था। वह उलटा पुत्र को उत्साहित करता था। उसका कहना था कि जो बात तुम्हें अच्छी लगे वही करो। इसी से स्पेन्सर कीट-पतङ्गों के रूपान्तर और पैाधों में होनेवाले फेरफार देखने ही में कई वर्ष तक लगा रहा।

मिल की तरह स्पेन्सर ने भी किसी मदरसे में शिक्षा नहीं पाई। घर ही पर स्पेन्सर के पिता और चचा ने उसे शिक्षा दी। हाँ, कुछ दिन के लिए एक मदरसे में वह गया था। वहाँ उसकी क्लास में १२ लड़के थे। वहाँ पाठ सुनाने का समय आने पर हर्बर्ट बेचारे को एक दम सब लड़कों के नीचे जाना पड़ता था। पर गणित इत्यादि वैज्ञानिक शिक्षा का समय आते ही वह सबसे ऊपर पहुँच जाता था। प्रायः प्रति दिन ऐसा ही होता था। स्पेन्सर का पिता अच्छा विद्वान् था, और चचा भी। इससे वे दोनों जब मिलते थे तब किसी न किसी गंभीर शास्त्रीय विषय की चर्चा ज़रूर करते थे। उनकी बातें स्पेन्सर ध्यान से सुनता था और उनसे बहुत फ़ायदा उठाता था। पुत्र की प्रवृत्ति वैज्ञानिक विषयों की ओर देख कर पिता ने उसे और भी अधिक उत्तजना दी और अपनी सारी विद्या बुद्धि ख़र्च करके पुत्र के हृदय मे शास्त्र के मोटे मोटे सिद्धान्त खचित कर दिये। इससे यह न समझना चाहिए कि स्पेन्सर को पुस्तकावलोकन से प्रेम न था। प्रेम था और बहुत था। परन्तु विशेष करके वह शास्त्रीय विषयों हीं की पुस्तकें देखा करता था।

स्पेन्सर को पहले पहल "सेंडफर्ड एंड म्यर्टन" (Sandford and Merton) नाम की किताब पढ़ाई गई। उसे स्पेन्सर ने बड़े चाव से पढ़ा।

कुछ दिन में उसे पढ़ने का इतना शौक बढ़ा कि दिन दिन रात रात भर उसके हाथ से किताब न छूटती थी। उसकी माँ न चाहती थी कि वह इतनी मेहनत करे, क्योंकि वह बहुत कमजोर था। इससे रात को वह अकसर स्पेन्सर के कमरे में सोने के पहले यह देखने आया करती थी कि कहीं वह पढ़ तो नहीं रहा। उसे आती देख स्पेन्सर मोमबत्ती को ग़ुल करके चुप चाप लेट रहता था, जिसमें उसकी माँ समझे कि वह सो रहा है। पर उसके चले जाने पर वह फिर पढ़ना शुरू कर देता था।

कोई ११ वर्ष की उम्र मे स्पेन्सर की कमज़ोरी जाती रही। वह सशक्त हो गया। वह पढ़ता भी था और घूमता फिरता भी था। इससे उसके दिमाग़ पर अधिक बोझ नहीं पड़ा और इसीसे उसके शरीर मे बल भी आ गया। स्पेन्सर बड़ा निडर और साहसी था। एक दफ़े वह अपने चचा के घर से अकेला अपने घर पैदल चला आया। पहले दिन वह ४८ मील चला, दूसरे दिन ४७ मील!

बिना सबूत के स्पेन्सर किसी की बात न मानता था। चाहे जो हो, जब तक वह उसकी बात की सचाई को सबूत की कसौटी पर न कस लेता था, या ख़ुद तजरिबे से उसकी सचाई को न जांन लेता था, तब तक कभी उस पर विश्वास न करता था। यह विलक्षणता उसमें लड़कपन ही से थी; यह आदत उसकी मरने तक नहीं छूटी। इसी के प्रभाव से उसने भूतपूर्व तत्त्वज्ञानियों के सिद्धान्तों को चुप चाप न मान कर सबकी परीक्षा की और उनके खण्डनीय अंश का कठोरता-पूर्वक खण्डन किया।

सोलह सत्रह वर्ष की उम्र तक स्पेन्सर को घर पर ही शिक्षा मिलती रही। इतने दिनों में उसने गणित-शास्त्र, यन्त्र-शास्त्र, चित्र-विद्या आदि में अच्छा अभ्यास कर लिया। स्पेन्सर को संस्कृत की समकक्ष लैटिन और ग्रीक आदि पुरानी भाषाओं से बिलकुल प्रेम न था और विश्वविद्यालय में इनको पढ़े बिना काम नहीं चल सकता। इससे वह किसी कालेज में भरती न हुआ। अब मुशकिल यह हुई कि कालेज की शिक्षा पाये बिना नौकरी कैसे मिल सकेगी। उस समय रेलवे ही का महकमा ऐसा था जहाँ विश्वविद्यालय की सरटीफ़िकेट दरकार न होती थी। इस कारण स्पेन्सर ने रेलवे का काम सीखना शुरू किया और १७ वर्ष की उम्र मे वह यञ्जिनियर हो गया। आठ वर्ष तक वह इस काम पर रहा। परन्तु विद्या का उसे ऐसा व्यसन

था कि इसके आगे रेलवे का काम उसे अच्छा न लगा। उसे छोड़ कर वह अलग हो गया। नौकरी की हालत मे एक यञ्जिनियरी की सामयिक पुस्तक में वह लेख भी लिखता रहा था। इससे लिखने में उसे अच्छा अभ्यास हो गया। १८४२ ईसवी में उसने नानकन्फारमिस्ट (Non-confoimist) नामक पुस्तक मे "राजा का वास्तविक अधिकार" नाम की लेखमालिका शुरू की। वह पीछे से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई।

इसके वाद स्पेन्सर "यकनोमिस्ट" (Economist) नामक एक सामयिक पुस्तक का सहकारी सम्पादक हो गया और कोई पाँच वर्ष तक बना रहा। सम्पादकता करना और लेख लिखना ही अब उसका एक मात्र व्यवसाय हुआ। इसमे उसने वहुत तरक्क़ी की। कुछ दिनो में वह लदन चला आया और वहीं स्थिर होकर रहने लगा। यहाँ पर उसने "व्यस्ट मिनिस्टर रिव्यू" (West Minister Review) में लेख लिखने शुरू किये। इससे उसका बड़ा नाम हुआ। लिखने का अभ्यास बढता गया। धीरे धीरे उसकी लेखन-शक्ति बहुत ही प्रवल हो उठी। ३० वर्ष की उम्र मे उसने "सोशल स्टेटिक्स" (Social Statics) नाम की किताब लिखी। इसमें सामाजिक और राजनैतिक विपयों का उसने बहुत ही योग्यतापूर्ण विचार किया। उसकी विचार-शृङ्खला और तर्कना-प्रणाली को देख कर बडे बड़े विद्वानों ने दाँतों के नीचे उँगली दवाई। वह जितना ही निर्भय था उतना हा सत्य-प्रिय भी था। उस समय तक इन विषयो पर विद्वानों ने जो कुछ लिखा था उसका जितना अंश स्पेन्सर ने प्रामादिक समझा सबका बड़ी ही तीव्रता से खण्डन किया। प्रायः सबसे प्रतिकूलता, सब की समालोचना, सबका खण्डन उसने किया। किसी को आपने नहीं छोड़ा। पर इस पुस्तक का आदर जैसा होना चाहिए था नहीं हुआ।

स्पेन्सर की वुद्धि का झुकाव विशेष करके सृष्टि-रचना और अध्यात्म-विद्या की तरफ़ था। यह प्रवृत्ति प्रति दिन बढ़ती ही गई और प्रति दिन वह इन विपयों मे अधिकाधिक निमग्न रहने लगा। वह धीरे धीरे उत्क्रान्ति-वादी हो गया। उत्क्रान्ति के १६ सिद्धान्त उसने निकाले। संसार के सारे दृष्टादृष्ट व्यापार इन्हीं नियमों के अनुसार होते हैं, इस बात को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए उसने अपरिमित श्रम किया। १८४६ ४७ में उसने एक नया यंत्र बना कर उसका "पेटेंट" भी प्राप्त किया। पर उससे उसे

विशेष लाभ न हुआ। शायद अपनी अर्थकृच्छता दूर करने हीं के लिए उसने ऐसा किया। तथापि उसने अपनी निर्धनता की कुछ भी परवा नहीं की। उसके कारण वह कभी दु:खित नहीं हुआ। अपना काम वह बराबर करता गया। जिन जिन सिद्धान्तों का पता उसे लगता गया उन उन को वह बड़ी योग्यता, आस्था और निर्लोभता के साथ प्रकट करता गया। यह सृष्टि क्या ईश्वर ने पैदा की है, या पदार्थों मे ही कोई ऐसी शक्ति है जिनके कारण वे आपही आप उत्पन्न हो गये हैं? जन्म क्या है, पुनर्जन्म क्या है, मरण क्या है, धर्म्म क्या है, पाप-पुण्य क्या है, सुख-दुःख क्या है? ससार में जितनी घट-नायें होती है, किन नियमों के अनुसार होती है? दिन रात वह इन्हीं बातों के विचार और मनन मे संलग्न रहता था। इन विषयों के मनन का अभ्यास उसने यहाँ तक बढ़ाया कि संसार मे कोई भी ऐसा शास्त्रीय विषय शेष न रहा जो उसके मानसिक विचारो की कसौटी पर न कसा गया हो। सब विषयों का उसने विचार कर डाला। उसकी बुद्धि नये नये सिद्धान्तो के निकालने की एक विलक्षण यंत्र ही बन बैठी। कोई ५० वर्ष तक उसने यह काम किया और अपने नये नये सिद्धान्तो के द्वारा सारे संसार को चकित और स्तम्भित कर दिया।

प्रसिद्ध विद्वान् डारविन, स्पेन्सर का समकालीन था। १८५१ के लग-भग उसने "आरिजिन आफ़ स्पिशीज" (Origin of Species) अर्थात् "प्राणियों की उत्पत्ति" नाम की पुस्तक लिखी। उसमे उत्क्रान्ति, किंवा परिणतिवाद, के आधार पर उसने प्राणियों की उत्पत्ति सिद्ध की। परन्तु इस विषय की उपपत्ति के अनेक सिद्धान्त स्पेन्सर ने पहले ही से निश्चित कर लिये थे। इस बात को डारविन ने साफ़ साफ़ स्वीकार किया है।

डारविन की पूर्वोक्त पुस्तक के निकलने के कोई चार वर्ष बाद स्पेन्सर की "मानस-शास्त्र के मूलतत्त्व" (Principles of Psychology) नामक पुस्तक निकली। इसके लिखने में स्पेन्सर ने इतनी मेहनत की कि सिर्फ़ १८ महीने में यह पुस्तक उसने तैयार करदी। इस कारण उसकी नीरोगता में बाधा आ गई। तबीयत उसकी बहुत ही कमज़ोर हो गई और कोई दो ढाई वर्ष तक वह कोई नई किताब नहीं लिख सका। हाँ, दिल बहलाने के लिए सामयिक पुस्तकों में वह कभी कभी लेख लिखता रहा। इस बीच में स्पेन्सर का यश दूर दूर तक फैल गया। "मानस-शास्त्र के मूलतत्त्व" लिखने

से उसका बड़ा नाम हुआ । वह अब एक विचक्षण दार्शनिक गिना जाने लगा । इस पुस्तक ने तत्त्वज्ञान के प्रवाह को एक बिलकुल ही नये रास्ते में ले जाकर डाल दिया ।

किसी नये लेखक या नये विद्वान् के गुणों की कदर होने में बहुधा बहुत दिन लगते हैं । हर्बर्ट स्पेन्सर ने यद्यपि ऐसी अच्छी अच्छी किताबें लिखीं, परन्तु उनकी बहुत ही कम क़दर हुई । स्पेन्सर की पहली किताब "सोशल स्टेटिक्स" को किसी प्रकाशक या पुस्तक-विक्रेता ने लेना और छपा कर प्रकाशित करना मंज़ूर न किया । तब स्पेन्सर ने उसकी ७५० कापियाँ ख़ुद ही छपवाईं । इनमें से कुछ उसने मुफ्त बाँट दीं । बाकी किताबों के बिकने में कोई चौदह पन्द्रह वर्ष लगे ! यही दशा "मानस-शास्त्र के मूलतत्त्व" की हुई । उसे भी छपाना किसी ने स्वीकार न किया । अन्त में स्पेन्सर ही ने उसे भी प्रकाशित किया । उसे भी बिकने में दस बारह वर्ष लगे । इन किताबों को उसने किताब बेचनेवालों को कमीशन पर बेचने के लिए दे दिया था । स्पेन्सर को इन किताबों के लिखने से धन-सम्बन्धी लाभ तो कुछ हुआ नहीं, हानि ख़ूब हुई । उसने जान लिया कि इस तरह की किताबों की क़दर नहीं है । हाँ यदि वह उपन्यास लिखता तो उसे ख़ातिरख़्वाह आमदनी होती । जब इँगलैंड में इस तरह की किताबों का इतना अनादर हुआ तब यदि हिन्दुस्तान में इनको कोई न पूछे तो आश्चर्य्य ही क्या है ?

यद्यपि स्पेन्सर की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं रही, तथापि वह अपनी निर्धनता के कारण विचलित नहीं हुआ । उसे आडम्बर बिलकुल पसन्द न था । इससे उसका ख़र्च भी कम था । जो कुछ उसे मिलता था उसी से वह सन्तुष्ट रहता था । यद्यपि अपनी पूर्वोक्त दोनों पुस्तकें छपाने में उसका बहुत सा रुपया बरबाद हो गया, तथापि उसने किसी से आर्थिक सहायता नहीं ली । कुछ उदार लोगों ने उसकी सहायता करना भी चाहा, पर उसने कृतज्ञता-पूर्वक उसे लेने से इनकार कर दिया । पुस्तक-प्रकाशन में स्पेन्सर की कोई १५,००० रुपये की हानि हुई । यह सुन कर अमेरिका के कुछ उदार लोगों ने उसे २२,५०० रुपये भेजे । परन्तु उसने यह रुपया भी लेना नहीं स्वीकार किया ।

हर्बर्ट स्पेन्सर की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक "सिस्टम आफ़ सेन्थैटिक

फिलासफ़ी" (A System of Synthetic philosophy) अर्थात् संयोगात्मकतत्त्वज्ञान-पद्धति है। १८६० ईसवी में उसे स्पेन्सर ने लिखना शुरू किया। बीच में उसे धन-सम्बन्धी और शरीर-सम्बन्धी यद्यपि अनेक विघ्न उपस्थित हुए तथापि ३६ वर्ष तक अविश्रान्त परिश्रम करके उसे उसने समाप्त करके ही छोड़ा। इस पुस्तक में उसने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन बड़ी ही योग्यता से किया है। संसार में जो कुछ दृश्य अथवा अदृश्य है सबकी उपपत्ति उसने अपने उत्क्रान्ति मत के आधार पर सिद्ध कर दिखाई। इस प्रचण्ड पुस्तक को उसने पॉच भागों में विभक्त किया और दस जिल्दों में प्रकाशित कराया। उनका विवरण इस तरह है:—

१—फ़र्स्ट प्रिन्सिपल्स (First Principles) अर्थात् प्राथमिक सिद्धान्त ... ... } १ जिल्द

२—प्रिन्सिपल्स आफ़ बायोलजी (Principles of Biology) अर्थात् जीवनशास्त्र के मूलतत्त्व . . ... } २ जिल्द

३—प्रिन्सिपल्स आफ़ साइकालजी (Principles of Psychology) अर्थात् मानस शास्त्र के मूलतत्त्व . . } २ जिल्द

४—प्रिन्सिपल्स आफ़ सोशियालजी (Principles of Sociology) अर्थात् समाज शास्त्र के मूलतत्त्व .. } ३ जिल्द

५—प्रिन्सिपल्स आफ़ एथिक्स (Principles of Ethics) अर्थात् नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व ... . } २ जिल्द

स्पेन्सर के इस ग्रन्थ ने उसे इस नश्वर संसार मे अमर कर दिया। उस का नाम देश देशान्तर में विदित हो गया। वह वर्तमान युग के तत्त्वज्ञानियों का राजा माना जाने लगा। इस पुस्तक के प्रथम भाग के दो खण्ड हैं। एक का नाम अज्ञेय-मीमांसा (The Un-Knowable) और दूसरे का नाम ज्ञेय-मीमांसा (The Knowable) है। हमारी प्रार्थना है कि जो सज्जन इस पुस्तक को पढ़ सकते हो वे एक बार अवश्य पढ़े; और स्पेन्सर के प्रकृति-पुरुष आदि विषयक शिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करें; और इस बात का भी विचार करें कि इस विषय में इस देश के तत्त्व-ज्ञानियों और स्पेन्सर के सिद्धान्तों में क्या तारतम्य है।

इस इतनी बड़ी पुस्तक के प्रकाशित करने में स्पेन्सर को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। किसी ने उसे छापना न मंज़ूर किया। छापे कोई क्यों? कोई

ऐसी किताबों को पूछे भी? निदान लाचार होकर स्पेन्सर ने इस पुस्तक के थोड़े थोड़े अंश को त्रमासिक पुस्तक के रूप में निकालना शुरू किया। परन्तु फिर भी ग्राहकों की कमी रही। उसे बराबर घाटा होता गया। जब वह इस पुस्तक की पहली तीन जिल्दें निकाल चुका तब हिसाब करने पर उसे मालूम हुआ कि कोई १५ वर्ष में उसे अट्ठारह हज़ार रुपये का घाटा रहा! स्पेन्सर ही ऐसा था जो इतना घाटा उठा सका। अब उसने इरादा किया कि इस पुस्तक की अगली जिल्दो का प्रकाशित होना बन्द कर दिया जाय। परन्तु सौभाग्यवश बन्द करने का समय नहीं आया। जैसे जैसे उसकी प्रसिद्धि होती गई वैसे हीं वैसे उसकी किताबों की बिक्री भी बढ़ती गई। परन्तु जो घाटा स्पेन्सर ने उठाया था उसे पूरा होने में २४ वर्ष लगे! इसके बाद उसे यथेच्छ आमदनी होने लगी और फिर कभी उसे अपनी आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध में शिकायत करने का मौक़ा नहीं मिला। उसने अपनी किसी किसी किताब के छपाने और प्रकाशित करने में, बिक्री से होनेवाली आमदनी का कुछ भी ख़याल न करके, हजारों-रुपये ख़र्च कर दिये। समाज-शास्त्र-सम्बन्धी अकेली एक पुस्तक के छपाने में उसने कोई ४४ हजार रुपये बरबाद कर दिये! इस बहुत बड़ी रकम के ख़र्च करने के विषय में उसने विनोद के तौर पर लिखा है कि यदि मेरी उम्र १०० वर्ष से भी अधिक हो तो भी मुझे उस रुपये के वसूल होने की कोई आशा नहीं।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने और भी कई एक उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखी है। यथाः–

१—फैक्ट्स एंड कामेंट्स (Facts and Comments) यथार्थता और टीका।

२—ऐसेज (Essays) निबन्ध, तीन जिल्द।

३—वेरियस फ्रैगमेंट्स (Various Fragments) बहुत सी फुटकर बातें।

४—दि स्टडी आफ़ सोशियालजी (The Study of Sociology) समाज-शास्त्र का अध्ययन।

५—एजुकेशन (Education) शिक्षा।

इनके सिवा अपना आत्मचरित और "सोशियल स्टेटिक्स एँड मैन वर्सस स्टेट" (Social Statics and Man v. State) नाम की किताबें भी स्पेन्सर ने लिखी हैं।

स्पेन्सर की किताबों में "शिक्षा" बहुत ही उपयोगी किताब है। योरप,

अमेरिका और एशिया, सब कहीं, इसकी बेहद कदर हुई है। कोई बीस बाईस भाषाओं मे इसका अनुवाद हुआ है। चीनी, जपानी, अरबी—यहाँ तक कि संस्कृत तक मे—इसका रूपान्तर किया गया है। आज तक इसकी लाखों कापियाँ छप कर बिक गई हैं। यह सर्व-मान्य पुस्तक है। शिक्षा के विषय मे यह अद्वितीय है। विद्वानों की ऐसी ही राय है। इसमे शिक्षा की जैसी मीमांसा की गई है वैसी आज तक किसी ने नहीं की। शारीरिक, मानसिक और नैतिक सब प्रकार की शिक्षाओं की, बड़ी ही योग्यता से इसमें मीमांसा हुई है। स्पेन्सर ने विज्ञान-विद्या ही को सबसे अधिक उपयोगी और सबसे अधिक मूल्यवान् शिक्षा ठहराई है। परन्तु, अफ़सोस, हिन्दुस्तान में इसी शिक्षा की सबसे अधिक कमी है!

१८८२ ईसवी में स्पेन्सर ने अमेरिका का प्रवास किया। जहाँ जहाँ वह प्रकट-रूप से गया वहाँ वहाँ उसका बड़ा आदर हुआ। राजकीय और नैतिक शास्त्रों के उत्कर्ष के लिए फ़्रांस मे एक प्रसिद्ध विद्यापीठ है। उसकी एक शाखा तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखती है। उसमे विख्यात विद्वान् यमरसन की जगह पर कुछ काल तक वह निबन्धकार रहा। परन्तु वह बड़ा ही निस्पृह और स्वाधीनचेता था। योरप और अमेरिका के—विशेष करके इँग-लेंड के—विश्व-विद्यालयों ने उसे दर्शन-शास्त्र की शिक्षा देने के लिए कितने ही ऊँचे ऊँचे पद देने की इच्छा प्रकट की; परन्तु उसने कृतज्ञता-पूर्वक उन्हें अस्वीकार कर दिया। स्वाधीन रह कर अपनी सारी उम्र उसने विद्या-व्यासङ्ग में ख़र्च कर दी और अपने अभूत-पूर्व तत्त्व-ज्ञान-पूर्ण ग्रन्थों से अपना नाम अमर करके संसार को अनन्त लाभ पहुँचाया।

स्पेन्सर की उम्र के पिछले पाँच सात वर्ष अच्छे नहीं कटे। वह अक्सर बीमार रहा करता था। कोई दस पन्द्रह वर्ष पहले से वह एकान्त-वास करने लगा था। वह बहुत कम मिलता जुलता था। अपने सांसारिक काम समाप्त करके वह मृत्यु की राह देखने लगा था। अन्त में वह आ गई और ८४ वर्ष की उम्र में, ८ दिसम्बर १९०३ को, वह उसे इस लोक से उठा ले गई। पर उसका अक्षय्य यश पूर्ववत्, किम्बहुना उससे भी अधिक, प्रकाशित हो रहा है। उसे ले जाने या कम कर देने की किसी में शक्ति नहीं। स्पेन्सर ने लिख रक्खा था कि मरने पर मेरा मृत शरीर जलाया जाय, गाड़ा न जाय। ऐसा ही किया गया और

उसका नश्वर पञ्चभूतात्मक शरीर अग्नि के संस्कार से फिर पञ्चभूतों में जा मिला। शवदाह की प्रथा जिन लोगों में नहीं है उन्हें स्पेन्सर के उदाहरण पर विचार करना चाहिए। इस देश के निवासियों में श्यामजी कृष्ण वर्म्मा पहले सज्जन हैं जिन्होंने आक्सफर्ड-विश्वविद्यालय से एम० ए० की पदवी पाई है। स्पेन्सर की श्मशान-क्रिया के समय वे वहाँ उपस्थित थे। थोड़ा सा समयोचित-भाषण करने के बाद उन्होंने १५ हज़ार रुपया ख़र्च करके स्पेन्सर के नाम से एक छात्रवृत्ति नियत करने का निश्चय किया। इस निश्चय का वे पालन भी कर रहे हैं। इँगलैंड के इस ब्रह्मर्षि-तुल्य वेदान्त-वेत्ता का इस तरह भारतवर्ष के एक विद्वान् द्वारा आदर होना कुछ कौतूहल-जनक अवश्य है। सच है, दर्शन-शास्त्र की महिमा यह बुड्ढा भारत अब भी ख़ूब जानता है।

स्पेन्सर शान्त-भाव को बहुत पसन्द करता था। वह युद्ध के ख़िलाफ़ था। बोर-युद्ध का कारण उस समय के उपनिवेश-मन्त्री चेम्बरलेन साहब थे। उन पर, उनके इस अनुचित काम के कारण, स्पेन्सर ने अप्रसन्नता प्रकट की थी। उसके मरने के बाद उसकी जो एक चिट्ठी प्रकाशित हुई है उसमें उसने जपान को शिक्षा दी है कि यदि तुम अपना भला चाहते हो तो योरपवालों से दूरही रहो और योरप की स्त्रियों से विवाह करके अपनी जातीयता को बरबाद न करो। नहीं तो तुम किसी दिन अपनी स्वाधीनता खो बैठोगे।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने यद्यपि पाठशाला मे शिक्षा नहीं पाई और यद्यपि वह संस्कृत की तरह की ग्रीक और लैटिन इत्यादि प्राचीन भाषाओं के ख़िलाफ़ था—यहाँ तक कि वह ग्रीक भाषा का एक शब्द तक नहीं जानता था—तथापि वह बहुत अच्छी अँगरेजी लिखता था और अपने मन का भाव बड़ी ही योग्यता से प्रकट कर सकता था। उसकी तर्क-शक्ति अद्वितीय थी। जिस विषय का उसने प्रतिपादन किया है—जिस विषय में उसने बहस की है—उसे सिद्ध करने में उसने कोई बात नहीं छोड़ी। उसकी प्रतिपादन-शक्ति ऐसी बढ़ो चढ़ी थी कि जो लोग उसकी राय के ख़िलाफ़ थे उनको भी उसकी तर्कना सुन कर उसके सामने सिर झुकाना पड़ता था। पर खेद की बात है, उसकी क़दर उसी के देश, इँगलैंड, में और देशों की अपेक्षा बहुत कम हुई। सच है, हीरे की क़दर हीरे की खान में कम होती है।

स्पेन्सर का मत है कि विज्ञान पढ़ने से मनुष्य अधार्मिक नहीं होता। विज्ञान से धर्म्मनिष्ठा अधिक बढ़ती है। जो लोग ऐसा नहीं समझते उन्होंने विज्ञान की महिमा को जानाही नहीं। इस विषय पर उसने "शिक्षा" नाम की अपनी इस पुस्तक में बड़ीही विज्ञतापूर्ण बहस की है। उसने लिखा है कि ज़रा ज़रा सी बातों पर वाद-विवाद करके व्यर्थ समय नष्ट करना और सृष्टि-रचना में परमेश्वर ने जो अगाध चातुर्य्य दिखलाया है उस पर ज़रा भी विचार न करना बड़ेही आश्चर्य्य की बात है। परन्तु पीछे उसका मत कुछ और ही तरह का हो गया था। जिस स्पेन्सर ने सृष्टि-सम्बन्धिनी एक "अगम्य, अमर्य्याद और सर्व्वव्यापक शक्ति" की महिमा गाई उसीने "विश्व-कर्म्मा, जगन्नायक और सर्वशक्तिमान् ईश्वर" की अपने समाजघटना-शास्त्र में कड़ी समालोचना की। यह शायद धर्म्मश्रद्धा में उसकी अशक्तता का कारण हो। क्योंकि धर्म्म-विषयक बातों में श्रद्धा ही प्रधान है।

स्पेन्सर ने पचास साठ वर्ष तक अविश्रान्त ग्रन्थ-रचना की। उसके ग्रन्थों को पढ़ कर संसार के सुशिक्षित लोगों के विचारों में ख़ूब फेर-फार हो रहे हैं। आशा है कि इस फेर-फार के कारण सांसारिक जनों का कल्याण होगा। स्पेन्सर का विद्याभ्यास दीर्घ, ज्ञान-भाण्डार अगाध और परिश्रम अप्रतिहत था। वह अत्यन्त कर्त्तव्यनिष्ठ, दृढ़-निश्चय और निर्लोभी था। उसके समान तत्त्वज्ञानी योरप में बहुत कम हुए हैं। किसी किसी का मत है कि तत्त्वज्ञानियों में अरिस्टाटल, बेकन और डारविन ही की उपमा उससे थोड़ी बहुत दी जा सकती है। ईश्वर करे इस महादार्शनिक की पुस्तकों का अनुवाद इस देश की भाषाओं में हो जाय, जिससे इस बूढ़े वेदान्ती भारतवर्ष के निवासियों को भी उसके सिद्धान्त समझने में सुभीता हो।

पुस्तक का संक्षिप्त सारांश।

इस पुस्तक को हर्बर्ट स्पेन्सर ने चार भागों में विभक्त किया है और प्रत्येक भाग का नाम हमने प्रकरण रक्खा है।

पहले प्रकरण

में इस बात का बयान है कि कौन सी शिक्षा, संसार में, सबसे अधिक उपयोगी है। इसका विचार स्पेन्सर ने बड़ी ही योग्यता से किया है। पहले उसने यह दिखाया है कि आदमियों को लाभ या उपयोगिता का कम ख़याल रहता है, दिखाव ही का अधिक रहता है। असभ्य आदमियों से लेकर सभ्य देशों के बड़े बड़े विद्वान् तक शोभा-सिंगार और रीति-रवाज ही की विशेष परवा करते हैं। वे यह नहीं देखते कि जो काम हम कर रहे हैं उससे हमें कितना लाभ पहुँचता है या वह हमारे लिए कहाँ तक उपयोगी है। जो काम हम और लोगों को करते देखते हैं वही हम भी करने लगते हैं। उन्हीं की नक़ल करने की हमारी आदत हो गई है। शिक्षा के सम्बन्ध में भी लोग अन्ध-परम्परा ही के भक्त हो रहे हैं। बच्चों को किस तरह की शिक्षा से लाभ होगा—संसार में इस समय किस तरह की शिक्षा की सबसे अधिक ज़रूरत है—इसका वे बिलकुल विचार नहीं करते। लड़कों और लड़कियों, दोनो, की शिक्षा का यही हाल है। जिस तरह की शिक्षा की परिपाटी चली आती है लोगों को उसमें उपयोगिता के ख़याल से, फेरफार करने का ध्यान ही नहीं है। उपयोगिता और लाभ की कुछ भी परवा न करके सब लोग जिस तरह की शिक्षा को अच्छा समझते हैं वही दी जाती है। ग्रीक और लैटिन आदि पुरानी भाषाओं के पढ़ने से तादृश लाभ नहीं होता और इतिहास की जैसी शिक्षा दी जाती है उसका भी विशेष उपयोग नहीं होता। तथापि, दस आदमियों के बीच में बैठ कर प्रशंसा पाने की अभिलाषा से लोग अपने बच्चों को इन विषयों की शिक्षा ज़रूर ही देते हैं। वे समझते हैं कि समाज जिस शिक्षा को अच्छा समझे उसे ही देना हमारा कर्त्तव्य है—लाभालाभ का विचार करने की कोई ज़रूरत नहीं। इससे बड़ी हानि होती है। इसके

कारण बच्चे, बड़े होने पर, अपने कर्त्तव्य को अच्छी तरह नहीं कर सकते। संसार में जन्म ले कर अपने जीवन को पूरे तौर पर सफल करना ही मनुष्य का प्रधान उद्देश होना चाहिए। पर इस तरह की शिक्षा से यह उद्देश अच्छी तरह नहीं सफल होता।

संसार में आकर मनुष्य को जितने काम करने पड़ते हैं वे पाँच भागों में बाँटे जा सकते हैं। यथाः—

(१) वे काम जिनकी मदद से मनुष्य अपनी प्राण-रक्षा प्रत्यक्ष रीति से कर सकता है।

(२) वे काम जो निर्वाह के लिए आवश्यक बातों को प्राप्त करा कर, परोक्ष रीति से, मनुष्य की जीवन-रक्षा में मदद देते हैं।

(३) वे काम जो सन्तान के पालन, पोषण और शिक्षण आदि से सम्बन्ध रखते हैं।

(४) वे काम जिनकी जरूरत, समाज-नीति और राज-नीति की उचित व्यवस्था के लिए होती है।

(५) वे काम जिन्हें लोग, और बातों से फ़ुरसत पाने पर, मनोरञ्जन के लिए करते हैं।

इन पाँचों भागों का क्रम अपने अपने महत्त्व के अनुसार है। अर्थात् जो काम जितने अधिक महत्त्व का है उसका नम्बर भी उतना ही ऊँचा है। जो शिक्षा जिस नम्बर के काम से सम्बन्ध रखती है उसे भी उतनी ही ऊँची और उतने ही अधिक महत्त्व की समझना चाहिए। इस हिसाब से जो शिक्षा मनुष्य की प्राण-रक्षा करने में प्रत्यक्ष मदद दे वह पहले दरजे की हुई। जो परोक्ष रीति से प्राण-रक्षा में मदद दे वह दूसरे दरजे की हुई। इसी तरह और भी समझिए। अतएव लोगों को चाहिए कि अपने बच्चों को शिक्षा देने में शिक्षा के महत्त्व का ज़रूर ख़याल रक्खें। हर एक विषय की उन्हें इतनी शिक्षा देनी चाहिए जितनी से वे अपने जीवन को पूरे तौर पर सफल कर सकें। अर्थात् जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलाने के लिए जिस शिक्षा की जितनी अधिक ज़रूरत हो वह उतनी ही अधिक दी जाय। इन पाँचों प्रकार की शिक्षाओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा सकता है कह कर स्पेन्सर ने इस योग्यता के साथ बहस की है कि उसकी विद्वत्ता और

विवेचना-शक्ति को देख कर आश्चर्य्य होता है। उसकी युक्ति-प्रतियुक्तियाँ बड़ी ही गम्भीर हैं। उसकी तर्कना-प्रणाली, उसकी प्रभावोत्पादक भाषा, उसके व्यावहारिक प्रमाण बहुत ही प्रशंसनीय हैं। उसकी उक्तियों को पढ़ कर प्रकृत विषय हृत्पटल पर खिंच सा जाता है और उसकी बात—उसके कथन—की फल-निष्पत्ति स्वीकार करते ही बनती है।

पहले प्रकार की, अर्थात् आत्म-रक्षा-सम्बन्धिनी, शिक्षा सबसे अधिक महत्त्व की है। इसीसे परमेश्वर ने बहुत करके उसे अपने ही हाथ में रक्खा है। बच्चा वर्ष छः महीने का होते ही अपना पराया पहचानने लगता है। भय का कारण उपस्थित होते ही रोने लगता है। जिन जानवरों को उसने कभी नहीं देखा उन्हें देख कर घबरा जाता है। कुछ और बड़ा होने पर सामने पड़ी हुई ईंट, पत्थर आदि को देख कर उनसे बच कर चलता है। ऐसे शस्त्र जिनसे हाथ पैर कट जाने का डर रहता है उनसे वह बचता है। सामने आती हुई गाड़ी को देख कर एक तरफ़ हो जाता है। इसी तरह जैसे जैसे वह बड़ा होता जाता है वैसे ही वैसे वह आपही आप स्वभाव ही से अपने शरीर की रक्षा करता है। शरीर-रक्षा की यह शिक्षा उसे क़ुदरत ख़ुद ही देती है—परमेश्वर ही उसके लिए शिक्षक का काम करता है। पर आदमी को भी इस प्रकार की शिक्षा का कुछ अंश प्राप्त करना चाहिए। शरीरारोग्य से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ ऐसे स्वाभाविक नियम हैं जिनका पालन न करने से आदमी बीमारी से नहीं बच सकता और बीमार होना मानों थोड़ी बहुत उम्र का कम हो जाना है। अतएव इस तरह की हानि से बचने के लिए मनुष्य को स्वस्थता और शरीर-रचना सम्बन्धी बातों की शिक्षा ज़रूर मिलनी चाहिए। इस बात पर स्पेन्सर ने दूर तक बहस की है और इन विषयों के न जानने से मनुष्य अपने स्वास्थ्य को कहाँ तक नाश कर डालता है, इसका बड़ी ही ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया है।

दूसरे प्रकार की शिक्षा के विषय मे स्पेन्सर ने जो कुछ लिखा है वह मनुष्यों के उदर-निर्वाह से सम्बन्ध रखता है। इस विषय में उसका कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि उसने एक ऐसी शिक्षा को प्रधानता दी है जिसका, इस समय, इस देश में, प्रायः अभाव है। स्पेन्सर के मत में जीवन-सार्थक्य के लिए विज्ञान अर्थात् "सायन्स" की शिक्षा की बहुत बड़ी ज़रूरत है। बिना इस शिक्षा के आदमी का काम अच्छी तरह नहीं चल सकता।

कोई पेशा ऐसा नहीं, कोई काम ऐसा नहीं, कोई रोज़गार ऐसा नहीं जिसमें विज्ञान की मदद दरकार न हो। हम लोग भारतवर्ष में विज्ञान से अनभिज्ञ रह कर भी किसी तरह पेट पाल लेते हैं; पर योरप, अमेरिका और जपान आदि देशों के निवासियों के मुक़ाबले में हम कोई चीज नहीं। उनकी जो इतनी उन्नति हुई है उसका सबसे बड़ा कारण विज्ञान-शिक्षा है। उद्योग-धन्धे में अङ्कगणित की ज़रूरत पड़ती है। मकान बनाने, रेल निकालने, जहाज़ चलाने, यहाँ तक कि खेती तक करने में, हिसाब के बिना काम नहीं चल सकता। सूई, दियासलाई आदि ज़रा ज़रा सी चीजें. जिनका हमें हर घड़ी काम पड़ता है, यन्त्रविद्या ही की बदौलत हमें मिलती है। भूगर्भविद्या, रसायन-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, और पदार्थ-विज्ञान आदि की मदद से जीवन-यात्रा-सम्बन्धी अनेक अद्भुत अद्भुत काम होते हैं। वैज्ञानिक विषयों के ज्ञान की ज़रूरत प्रायः हर आदमी के लिए है। उसके न होने से बहुत बड़ी बड़ी हानियाँ उठानी पड़ती हैं। विज्ञान-शिक्षा की ज़रूरत प्रति दिन और भी अधिक होती जाती है। जैसे जैसे सभ्यता की सीमा आगे जाती है—अतएव जैसे जैसे जीवन-निर्वाह के लिए अधिकाधिक चढ़ा ऊपरी होती है—वैसेही वैसे इस शिक्षा की और भी अधिक ज़रूरत बढ़ती जाती है। परन्तु मदरसों की पाठ्य-पुस्तको में इस परमोपयोगी शिक्षा का प्रायः अभाव है। यह बड़े दुःख की बात है। निरर्थक ऊट-पटांग बातों की शिक्षा के प्राबल्य को घटा कर वैज्ञानिक शिक्षा का अधिक प्रचार करने ही में भलाई है।

तीसरे प्रकार की शिक्षा का भी मदरसों में आश्चर्य्य-जनक अभाव है। बच्चो को किस तरह पालना पोसना चाहिए; उन्हें किस तरह रखना चाहिए; उनकी शिक्षा का कैसा प्रबन्ध करना चाहिए; ये बातें मदरसों में बिलकुल ही नहीं पढ़ाई जातीं। माँ और बाप, दोनों, इन बातों से अनभिज्ञ रहते हैं। इसके परिणाम बहुत ही भयङ्कर होते हैं। उन्हें स्पेन्सर ने ऐसी हृदयद्रावक भाषा मे बयान किया है कि पढ़ कर कलेजा हाथ से थाँमना पड़ता है। बच्चो की शारीरिक, मानसिक और बुद्धि-विषयक शिक्षा की तरफ़ माँ-बाप बेतरह लापरवाही करते हैं, जिससे बच्चों को बड़ी बड़ी हानियाँ उठानी पड़ती हैं। लड़को को लायक़ या नालायक़ बनाना सर्वथा माँ-बाप के हाथ में है। अतएव बच्चों के पालन-पोषण से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा मदरसों में ज़रूर जारी होना चाहिए और प्रत्येक माँ-बाप को और और बातों के

सिवा जीवन-शास्त्र और मनोविज्ञान के स्थूल नियमों से ज़रूर ही थोड़ी बहुत अभिज्ञता प्राप्त करना चाहिए।

चौथे प्रकार की शिक्षा सामाजिक और राजनैतिक कामों से सम्बन्ध रखती है। पर इस शिक्षा के देने का भी मदरसों में अच्छा प्रबन्ध नहीं है। मदरसों में इतिहास की जो पुस्तकें पढाई जाती हैं वे कौड़ी काम की नहीं। उनसे पढ़नेवालों को कुछ भी सामाजिक या राजनैतिक शिक्षा नहीं मिलती। वे दोषों से साद्यन्त परिपूर्ण हैं। इतिहास की कुंजी विज्ञान है। बिना वैज्ञानिक ज्ञान के इतिहास का तादृश उपयोग नहीं होता। इन बातों का बहुत ही विद्वत्तापूर्ण विचार करके स्पेन्सर ने यह दिखलाया है कि इतिहास की पुस्तकें कैसी होनी चाहिए, उनमें किन किन बातों का वर्णन होना चाहिए और उनसे किस तरह की शिक्षा प्राप्त करना चाहिए। ये सब बातें भी ख़ूब मनन करने लायक हैं।

पाँचवें प्रकार की शिक्षा का सम्बन्ध मनोरञ्जन से है। काम काज करने के बाद तबीयत बहलाने के लिए मनोरञ्जन की बड़ी ज़रूरत रहती है। चित्रविद्या, मूर्ति-निर्म्माण-विद्या, सङ्गीत, कविता और प्राकृतिक दृश्य आदि मनोरञ्जन के प्रधान साधन हैं। परन्तु बिना विज्ञान के इन साधनों से मनुष्य का यथेष्ट मनोरञ्जन नहीं हो सकता। जो मनुष्य चित्र-विद्या के मर्म्म को थोड़ा बहुत जानता है वही रविवर्म्मा और इटली के प्रसिद्ध चित्रकार रैफल के चित्रों से पूरा पूरा आनन्द प्राप्त कर सकेगा। और साधनों के विषय में भी विज्ञान की सहायता दरकार है। सङ्गीत, सृष्टि-सौन्दर्य्य और ललित-कलाओं से पूरे तौर पर मनोरञ्जन होने के लिए विज्ञान की बड़ी ज़रूरत है। प्रतिमानिर्म्माण-विद्या के लिए भी मनुष्य के शरीर की बनावट और यंत्र-शास्त्र के नियमों से परिचय होना चाहिए। कविता में भी स्वाभाविक मनोविकारों से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञान के ज्ञान बिना काम नहीं चल सकता। स्वाभाविक प्रतिभा और विज्ञान के मेल से ही कवि और कारीगर को पूरी पूरी कामयाबी हो सकती है। विज्ञान, कविता की जड़ ही नहीं, वह ख़ुद भी एक विलक्षण प्रकार की कविता है। इन बातों को स्पेन्सर ने उदाहरणपूर्वक सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है और हर एक विषय का तफ़सीलवार वर्णन किया है। उसके कोटिक्रम और वर्णनवैचित्र्य को पढ़ कर उसकी विद्वत्ता की सहस्र मुख से प्रशंसा करने को जी चाहता है।

इस प्रकार हर तरह के कामों में कामयाबी होने और जीवन को पूरे तौर पर सफल करने के लिए स्पेन्सर ने विज्ञान-शिक्षा की ज़रूरत दिखलाई है। जितने प्रकार की शिक्षायें हैं सबसे अधिक प्रधानता और महत्त्व उसने विज्ञान ही को दिया है। भाषा-शिक्षा के विषय में, उसके प्रत्येक अंश का विचार करके, उसने यह सिद्धान्त निकाला है कि भाषाओं के पढ़ने की अपेक्षा विज्ञान से अधिक लाभ होता है। विज्ञान-शिक्षा से मनुष्य की स्मरण-शक्ति ही नहीं बढ़ जाती, उससे सारासार विचार-शक्ति भी बढ़ती है। लोगों का ख़याल है कि वैज्ञानिक शिक्षा से आदमी नास्तिक हो जाता है। इस बात का स्पेन्सर ने बड़े ही ज़ोरोशोर से खण्डन किया है और यह दिखलाया है कि विज्ञान की बदौलत आदमी नास्तिक होने के बदले उलटा आस्तिक हो जाता है और प्रकृति या परमेश्वर में उसकी श्रद्धा बहुत अधिक बढ़ जाती है। विज्ञान आदमी को अधार्म्मिक नहीं, धार्म्मिक बनाता है। उससे विश्वजात वस्तुओं की कार्य्य-कारण-सम्बन्धिनी एकरूपता में पूज्य बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। उससे विचार और विवेचना की भी शक्ति बढ़ती है और मन तथा बुद्धि को विकसित करने में वह सबसे अधिक सहायता देता है। यही नहीं, किन्तु उससे आदमी का आचरण भी सुधर जाता है। इस तरह, विज्ञान की महिमा का गान करके अन्त में स्पेन्सर ने विज्ञान-शिक्षा ही को सबसे अधिक उपयोगी बतलाया है और इस बात पर खेद प्रकट किया है कि विज्ञान विद्या के इतने लाभदायक होने पर भी लोगों का इस तरफ़ बहुत ही कम ध्यान है।

दूसरे प्रकरण

में स्पेन्सर ने मानसिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का विचार किया है। शिक्षा-प्रणाली का सामाजिक, धार्म्मिक और राजनैतिक बातों से मिलान करके पहले उसने यह दिखलाया है कि जैसा ज़माना होता है वैसीही शिक्षा भी दी जाती है। जिस समय छोटे छोटे अपराधों के लिए भी बड़े बड़े दण्ड दिये जाते थे उस समय शिक्षा-प्रणाली भी आज कल की अपेक्षा बहुत कठोर थी। अध्यापक लोग ज़रा ज़रा सी बात पर लड़कों को कठोर दण्ड देते थे। पर अब वह समय नहीं रहा। अब स्वतन्त्रता का समय है। सब लोगों को अपने मनोऽनुकूल काम करने की बहुत कुछ

स्वाधीनता मिल गई है। बादशाहो की प्रभुता पहले की अपेक्षा कम और प्रजा की स्वतन्त्रता अधिक हो गई है। अतएव शिक्षा-प्रणाली पर भी इन बातें का असर पड़ा है। अब वह पहले की अपेक्षा बहुत कोमल हो गई है; अध्यापकों के अधिकार कम हो गये हैं; विद्यार्थियें की स्वतन्त्रता बढ़ गई है।

शिक्षा के सम्बन्ध में आज कल लोगें की रायें में बहुत भेद हो गया है। कोई किसी प्रणाली को अच्छा समझता है, कोई किसी को। पर इससे किसी को असन्तुष्ट न होना चाहिए। मत-विभिन्नता से हानि नहीं हो सकती; हमेशा लाभ ही होता है। जिसकी राय में जो बात अच्छी होती है वह धीरे धीरे स्वीकार कर ली जाती है और जो बात बुरी होती है वह धीरे धीरे परित्यक्त हो जाती है। एक ज़माना वह था जब लोग लड़कों से सब बातें तोते की तरह रटा रटा कर उनका नाकों दम करते थे। पर अब लोग इस बुरी प्रथा को छोड़ते जाते हैं। ज़माना कभी एकसा नहीं रहता। किसी समय शारीरिक सुधारही की तरफ़ लोगें का सबसे अधिक ध्यान था। शारीरिक शिक्षा ही को लोग सब कुछ समझते थे। फिर वह ज़माना आया जब इस प्रकार की शिक्षा को तुच्छ समझ कर लोगें ने मानसिक शिक्षा ही को प्रधानता दी। सब लोग मन को ही ख़ूब सुशिक्षित करना अपना सबसे बड़ा कर्तव्य समझने लगे। अब वह भी नहीं रहा। अब तो मन के सुधार के साथ साथ शरीर के भी सुधार की तरफ़ लोगें का ध्यान जाने लगा है।

इसके बाद स्पेन्सर ने इस सिद्धान्त को प्रधानता दी है कि बच्चो को ऐसे तरीक़े से शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे उन्हें शिक्षा भी मिलती जाय और उनका मनोरञ्जन भी होता जाय। पढ़ने-लिखने में बच्चो को कष्ट न हो। सब बातें को वे ख़ुशी से हँसते खेलते सीखें। जिन नियमें के अनुसार वनस्पतियें और प्राणियें का शरीरपोषण होता है उन्हीं के अनुसार मनुष्यों का मानसिक पोषण भी होता है। अर्थात् मानसिक शक्तियें का विकास धीरे धीरे होता है। अतएव शिक्षा का क्रम और तरीक़ा मानसिक शक्तियें की वृद्धि के अनुसार होना चाहिए। जैसे जैसे मानसिक शक्तियाँ प्रबल होती जायँ वैसेही वैसे शिक्षा का क्रम भी कठिन होना चाहिए। स्विटज़रलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् पेस्टलोज़ो की शिक्षा-पद्धति इसी तरह की

है। पर उसमें जो सफलता नहीं हुई उसका कारण उस पद्धति की सदोषता नहीं, किन्तु योग्य शिक्षकों का अभाव है। उसके सिद्धान्तों में भूल नहीं है। भूल है उन सिद्धान्तो के व्यवहार की रीति में।

स्पेन्सर की राय है कि जहाँ तक हो सके बच्चो को अपनी बुद्धि की उन्नति आपही करने के लिए उत्साहित करना चाहिए। उन्हें इस तरह शिक्षा देना चाहिए जिसमे वे ख़ुदही हर एक बात के विषय में जानकारी प्राप्त करने का यत्न करें। उनमें जिज्ञासा-वृत्ति का अंकुर बहुत ही छोटी उम्र में उगाना चाहिए। जब बच्चा गोदी में हो तभी से उसे अनेक प्रकार के रंग, अनेक प्रकार की लम्बी-चौड़ी, मोटी-पतली चीज़ें दिखा कर उसकी शिक्षा शुरू करना चाहिए। जिस क्रम और जिस रीति से मनुष्य-जाति ने शिक्षा पाई है उसी क्रम और उसी रीति से बच्चो को शिक्षा देना चाहिए। शिक्षा का स्वाभाविक तरीक़ा यही है। शुरू शुरू में मनुष्य ने हर एक चीज़ को प्रत्यक्ष देख कर उसके विषय का ज्ञान प्राप्त किया था। यह नहीं कि उसका वर्णन पहले पढ़ा हो और उसके रूप, रंग और गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान पीछे से प्राप्त किया हो। यह पिछली रीति अस्वाभाविक है। इससे उसका त्याग करके बच्चों को हर एक चीज दिखला कर उसके विषय की इस तरह शिक्षा उन्हें देना चाहिए जिसमे तद्विषयक ज्ञान भी उन्हें हो जाय, धीरे धीरे उनके हृदय में जिज्ञासा-वृत्ति का अंकुर भी उग जाय, और साथही साथ उनका मनोरञ्जन भी होता जाय। पहले उन्हें मोटी मोटी बातें बतलानी चाहिए और ऐसी चीज़ों का ज्ञान कराना चाहिए जिनमे और चीज़ों का मिश्रण नहीं है, अर्थात् जो बिना और चीजो की मिलावट के बनी हैं। फिर उन चीज़ो का ज्ञान कराना चाहिए जो मिश्रित हैं—जिनमें और चीजें भी मिली हुई हैं। अर्थात् सीधी सादी चीज़ो से आरम्भ करके क्लिष्ट और मिश्रित चीज़ो की पहचान करानी चाहिए। इसी तरह सरल विषयों की शिक्षा देकर क्रम क्रम से कठिन विषयों की शिक्षा देनी चाहिए। मतलब यह कि जैसे जैसे मानसिक शक्तियाँ परिपक्व होती जायँ वैसेही वैसे शिक्षा में भी क्लिष्टता आती जाय। पदार्थ-पाठ, अर्थात् पदार्थों को प्रत्यक्ष दिखा कर उनकी शिक्षा देना ही सर्वोत्तम शिक्षा-पद्धति है। इस पद्धति को स्पेन्सर ने बड़ा महत्त्व दिया है।

पदार्थ-पाठ की शिक्षा समाप्त होने पर चित्र बनाना सिखलाने की बड़ी

ज़रूरत है। मानसिक शिक्षा के लिए चित्र-विद्या बहुत उपयोगी है। इस विषय पर स्पेन्सर ने दूर तक बहस की है और चित्र-विद्या की वर्तमान प्रणाली के दोष दिखला कर उसके स्वभावसिद्ध प्रारम्भिक नियम बतलाये हैं। इसके बाद उसने ज्यामिति शास्त्र की शिक्षा का विचार किया है और उसकी उचित रीति बतलाई है। इस प्रकार की शिक्षा में लड़कों का मन नहीं लगता। वह उन्हें बहुत रूखी मालूम होती है। पर स्पेन्सर ने अध्यापक टिंडल के कथन को उद्धृत करके उसे मनोरञ्जक और सुख-साध्य बनाने की प्रणाली का वर्णन किया है और दिखलाया है कि उचित रीति से इस विद्या को सिखलाने से लड़के उसे प्रसन्नतापूर्वक सीखते हैं। ज्यामिति-शास्त्र की प्रयोगात्मक शिक्षा को बहुत वर्षों तक जारी रखने की स्पेन्सर ने सिफ़ारिश की है। इसकी शिक्षा समाप्त होने पर, गूढ़ वैज्ञानिक बातें सिखलानी चाहिए।

अन्त में स्पेन्सर ने उन दो महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार किया है जिनकी लोग सबसे अधिक अवहेलना करते हैं। उनमें से पहली बात यह है कि शिक्षा इस तरह दी जाय जिसमें बिना अध्यापक और माँ-बाप की मदद के बुद्धि का विकास आपही आप होता जाय। दूसरी बात यह है कि शिक्षा का क्रम ऐसा हो कि उससे बच्चो का मनोरञ्जन होता जाय और पढ़ने लिखने से उन्हें घृणा होने के बदले आनन्द की प्राप्ति हो। इन बातों को ध्यान में रख कर दी गई शिक्षा से जो लाभ होते हैं उनका स्पेन्सर ने इस ख़ूबी से वर्णन किया है कि हम उसकी तारीफ नहीं कर सकते। उसकी तर्कना-प्रणाली में कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति है कि उसका कथन हृदय में प्रवेश कर जाता है और सारी शङ्काओं का एकदम समाधान हो जाता है। उसके लेख को पढ़ने पर फिर कोई शङ्का नहीं रह जाती और मन में यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि जो कुछ यह कह रहा है सब सच है।

तीसरे प्रकरण

में स्पेन्सर ने नैतिक शिक्षा का विचार किया है। पहले उसने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में बच्चों के पालन-पोषण और नैतिक शिक्षण की दुरवस्था को देख कर खेद प्रकट किया है। बच्चों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए—उन्हें किस तरह सदाचरणशील बनाना चाहिए—इस बात का

जानना बहुत ज़रूरी है। यह नहीं कि जिसके जी में जैसा आवे वह अपने लड़के लड़कियों से वैसा ही व्यवहार करे। इस समय इस शिक्षण के विषय में कोई नियमही निश्चित नहीं। प्रत्येक माँ और प्रत्येक बाप का "पेनल कोड" या "धर्म्मशास्त्र" जुदा जुदा है। जैसी सज़ा उनके जी में आती है वैसी ही वे देते हैं। एक ही अपराध के लिए कभी एक तरह की सज़ा देते हैं, कभी दूसरे तरह की। कभी कुछ हुक्म देते हैं, कभी कुछ। जो हुक्म आज देते हैं उसे कल रद कर देते हैं। पहले कहते हैं, यदि तुम ऐसा काम फिर करोगे तो मारे जावोगे। पर जब बच्चे उस काम को करते हैं तब मारना भूल जाते हैं। अतएव बच्चों को यही नहीं मालूम होता कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। इस सारी अव्यवस्था का कारण माँ-बाप की अविचार-शीलता है—यह सिर्फ़ उनकी नासमझी का कारण है। यदि उनको मदरसे में इस बात की शिक्षा दी जाती कि लड़कों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए तो कदापि उनसे ऐसी ग़लतियाँ न होतीं।

नैतिक शिक्षा समाज की स्थिति के अनुसार होती है। समाज की जैसी अवस्था होती है, कुटुम्ब की भी वैसी ही अवस्था होती है। एकदम से नैतिक सुधार नहीं हो सकता। कुटुम्ब-व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाली और और बातों के सुधार के साथ साथ मनुष्य के स्वभाव मे भी सुधार होता जाता है—उसकी सदाचरण-शीलता में भी उन्नति होती जाती है। अतएव जब तक माँ-बाप सदाचरण-शील न होंगे तब तक उनकी सन्तति भी सदाचरण-शील नहीं हो सकती; क्योंकि माँ-बाप के गुण-दोष परम्परा से सन्तति को प्राप्त होते हैं। पिता क्रोधी होने से पुत्र भी थोड़ा बहुत ज़रूर क्रोधी होता है। जिस देश या जिस समाज में शिक्षा का विशेष प्रचार होता है उसमे नीतिमत्ता की भी विशेषता होती है। नीति और सभ्यता का जोड़ा है। सभ्यता जितनी ही अधिक होगी लोगो के नैतिक आचरण उतने ही अधिक उन्नत होंगे। इसी से जो समाज जितना कम सभ्य है उसके साथ उतना ही अधिक कठोरता का बर्ताव करना पड़ता है। असभ्य जंगली जातियों को मधुर और कोमल शब्दो में नैतिक उपदेश देने से काम नहीं चल सकता। उनको सुमार्ग पर लाने के लिए—उन्हें सदाचार सिखलाने के लिए—कठोर शासन का प्रयोग किये बिना कामयाबी नहीं हो सकती। परन्तु सभ्य और सुशिक्षित लोगों को सदाचार की शिक्षा देने के लिए बेत

उठाने या और कोई शारीरिक दण्ड देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। तात्पर्य्य यह कि अपनी अपनी स्थिति के अनुसार नैतिक शिक्षा का क्रम जुदा जुदा होता है।

माँ-बाप की स्थिति जैसी होती है बच्चों की भी वैसी ही होती है। असभ्य लोगों की संतति भी असभ्य होती है। इससे उसके साथ कठोर बर्ताव करना पड़ता है। पर सभ्य आदमियों की सन्तति के साथ वैसा बर्ताव नहीं करना पड़ता। उसके साथ कोमल बर्ताव करने ही से काम निकल जाता है। जैसे जैसे समाज की दशा सुधरती जाती है, बच्चों के स्वभाव में भी सुधार होता जाता है। अतएव सब लोगों के लिए एक तरह के नैतिक नियम नहीं बनाये जा सकते। अपनी अपनी स्थिति के अनुसार इन नियमों में परिवर्तन होना चाहिए।

स्पेन्सर साहब प्राकृतिक नियमों के बड़े क़ायल हैं। आपको बनावटी बातों से घृणा है। नैतिक शिक्षा के विषय में भी आपका सिद्धान्त है कि सब लोगों को प्रकृति ही की नकल करनी चाहिए। जितने नैतिक अपराध हैं सबके लिए क़ुदरती ही सज़ा मुनासिब सजा है। आग पर हाथ रखने से हाथ ज़रूर जल जाता है। चाहे कोई जितने बार आग पर हाथ रक्खे सज़ा वही मिलती है। हर बार हाथ जले बिना नहीं रहता। अतएव प्रकृति को यह अटल और निश्चित दण्ड देते देख बच्चे कभी आग नहीं छूते। माँ-बाप को चाहिए कि वे भी इस नियम में प्रकृति का अनुकरण करें—क़ुदरत को अपना पथदर्शक मानें। जो बात वे लड़कों से कहें उसे जरूर करें। यदि वे दण्ड देने की धमकी दें, तो जरूर दण्ड दें, जिसमें बच्चों को विश्वास हो जाय कि हमारे माँ-बाप जो कुछ कहते हैं वही करते भी हैं। उनकी बात कभी मिथ्या नहीं होती। इस तरह का विश्वास बच्चों के दिल पर जम जाने से वे कभी माँ-बाप की आज्ञा उल्लंघन न करेंगे। माँ-बाप को भी चाहिए कि सोच समझ कर आज्ञा दें। जहाँ तक हो सके कोई कड़ी आज्ञा न दें, कोई कठोर दण्ड देने की धमकी न दें। पर यदि निरुपाय होकर वैसा करना पड़े तो प्रकृति की तरह निर्दयता के साथ उसे कर भी दिखावें, जिसमें लड़कों को यह ख़याल न हो कि हमारे माँ-बाप यों ही धमकी दे दिया करते हैं, उसे पूरी नहीं करते। अतएव उनकी आज्ञा उल्लंघन करने से हमारी कोई हानि नहीं हो सकती।

इसके आगे स्पेन्सर ने अस्वाभाविक दण्डों की निन्दा और प्राकृतिक दण्डों की प्रशंसा उदाहरण-पूर्वक की है। उसने ऐसे ऐसे व्यावहारिक और अनुभूत उदाहरण देकर अपने सिद्धान्त को प्रमाणित किया है कि उन्हें सुन कर फिर कोई शङ्का नहीं रह जाती। पहले उसने प्राकृतिक दण्डों के सुपरिणाम सोदाहरण दिखला कर कृत्रिम दण्डों की हानियाँ बतलाई हैं। फिर प्राकृतिक शिक्षा से होनेवाले लाभ दिखला कर कृत्रिम दण्डों की निःसारता बडे ही प्रभावपूर्ण तरीके से वर्णन की है। अन्त में उसने यह सिद्धान्त निकाला है कि बच्चो का अपराध चाहे थोड़ा हो चाहे बहुत, हर हालत में, उन्हें प्राकृतिक ही दण्ड देना चाहिए। यदि वे चाक़ू खो दें तो उन्हीं के जेब ख़र्च से एक नया चाक़ू ख़रीद कराना चाहिए। यदि वे अपना कोट फाड़ डालें तो जब तक मामूली तौर पर नया कोट बनवा देने का वक़्त न आवे तब तक उन्हें फटा ही कोट पहने रहने देना चाहिए। यदि वे अपने खिलौने अस्तव्यस्त कर दें—घर में इधर उधर फेंक दें—तो उन्हीं से उनको उठवाना चाहिए। और यदि न उठावें तो, जब तक वे अपनी हठ न छोड़ें तब तक, वे चीज़ें उन्हें खेलने को न मिलें।

स्पेन्सर की राय है कि बच्चो के साथ कभी कठोरता का व्यवहार न करना चाहिए। माँ-बाप को चाहिए कि वे अपने लड़के लड़कियों से मित्र-वत् व्यवहार करें। कठोरता का व्यवहार करने से बहुत हानि होती है और कोमलता का व्यवहार करने से बहुत लाभ। यदि प्रसन्नता अथवा क्रोध प्रकट करने का कारण न्याय्य हो तो वैसा करना अनुचित नहीं। पर बच्चों को अपना प्रभुत्व दिखा कर उनसे आज्ञा-पालन कराना मुनासिब नहीं। बच्चों के लिए यह बहुत ज़रूरी बात है कि अपना शासन आपही करने की योग्यता सम्पादन करने के लिए बचपन ही से वे भले-बुरे परिणामों का तजरिबा प्राप्त करें। लड़कों में हठ और स्वेच्छाचार को देख कर बुरा न मानना चाहिए। क्योंकि ये बातें स्वाधीनता के अङ्कुर हैं। प्रकरण के अन्त में स्पेन्सर ने नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में कई एक बहुत ही लाभदायक उपदेश दे कर यह सिद्ध किया है कि प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति माँ-बाप और सन्तान दोनों ही के लिए मङ्गल-कारिणी है।

चौथे प्रकरण

में शारीरिक शिक्षा का वर्णन है। इसका आरम्भ इस तरह किया गया

है कि उसे पढ़ कर आदमियों की नादानी पर क्रोध भी आता है, दुःख भी होता है और कभी कभी हँसी भी आजाती है। स्पेन्सर ने लिखा है कि सब लोग गाय, बैल, भेड़, घोड़े और सुवर तक (याद रखिए, यह इँगलिस्तान का ज़िक्र है) के खाने, पीने का ख़ुद प्रबन्ध करते हैं; ख़ुदही उनकी देख भाल भी करते हैं; और ख़ुदही इस बात को भी हमेशा देखते रहते हैं कि किस तरह का खाना खिलाने से वे ख़ूब मोटे ताज़े होंगे। परन्तु अपने बच्चों को अच्छी तरह पालने-पोसने और खिलाने-पिलाने की वे ज़रा भी परवा नहीं करते। वे कभी इस बात की जाँच नहीं करते कि हमारे बच्चे जो चीज़ें खाते है, जो कपड़े पहनते हैं, जिन कमरों में रहते हैं वे उनके लायक़ है या नहीं। घोड़ों और सुवरों की, इस विषय मे, उन्हें अधिक परवा रहती है; अपने बच्चों की बहुधा कुछ भी नहीं! यह कितने आश्चर्य्य की बात है। इस इतने महत्त्व के काम को वे लोग स्त्रियों और दाइयों पर छोड़ देते हैं। इसके बाद स्पेन्सर ने यह दिखलाया है कि जीवन-निर्वाह के कामों में मेहनत बढ़ती जाती है। उसे सहने और ख़ूब काम कर सकने के लिए सुदृढ़ शरीर की बड़ी जरूरत है। अतएव शरीर को मज़बूत बनाने के लिए कोई बात उठा न रखनी चाहिए। जैसे और सब विषयों में विज्ञान सबसे अधिक काम आता है वैसेही शारीरिक सुधार में भी विज्ञान की मदद दरकार है। लड़कों की शारीरिक शिक्षा वैज्ञानिक सिद्धान्तों ही के अनुसार होनी चाहिए।

इसके आगे स्पेन्सर ने खाने-पीने का विचार किया है। उसकी राय है कि भूखे रहने की अपेक्षा अधिक खा जाना अच्छा है। यह बात ऊपर से देखने में ज़रा अश्रद्धेय मालूम होती है, पर स्पेन्सर ने अपने सिद्धान्त के पक्ष में बड़ेही दृढ़ प्रमाण दिये हैं। उनको पढ़ कर उसकी बात पर श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। उसने लिखा है कि खाने-पीने में बच्चों की रोक-टोक कभी न करना चाहिए। उनको भूख भर खा लेने देना चाहिए। भोजन का परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता। क्षुधाही उसकी सच्ची माप है। खाने के विषय में पशु, पक्षी, मनुष्य—बाल, वृद्ध, युवा—सबकी मार्गदर्शक एक मात्र क्षुधा है।

जो जानवर पौष्टिक ख़ूराक खाते हैं—उदाहरणार्थ घोड़े—वे ख़ूब चुस्त और चालाक होते हैं। घास-पात आदि अपौष्टिक ख़ूराक खानेवाले

जानवरो से मेहनत भी वें अधिक कर सकते हैं। यहीं नियम मनुष्यों के विषय में भी होना चाहिए। क्योंकि वैज्ञानिक नियम जीवधारी मात्र के लिए एक से होते हैं। अतएव बच्चों को पौष्टिक भोजन देना चाहिए; पर इसका ख़याल रखना चाहिए कि वह भोजन ऐसा हो कि जल्द हज़म हो जाय। बच्चों को हमेशा एकही तरह का भोजन न देना चाहिए। उसमें हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए। और, हर दफ़े, खाना खाते समय, कई तरह की चीजें खिलानी चाहिए। नई नई चीजें खाने से लड़कों का चित्त प्रसन्न रहता है; खाना जल्द हज़म हो जाता है; और रुधिराभिसरण अच्छी तरह होता है। यह क्या कम लाभ है?

खाने-पीने की तरह बच्चों के कपड़े-लत्ते की तरफ़ भी लोगों का बहुत कम ध्यान है। सरदी, गरमी का ख़याल रख कर बच्चों को कपड़े न पहनाने से ज़रूर हानि होती है। सरदी मे बदन खुला रहने से आदमी का क़द छोटा हो जाता है। विज्ञान इस बात का प्रमाण है कि शरीर से अधिक गरमी निकलने हीं से आदमी ठिँगना हो जाता है। बड़े आदमियों की अपेक्षा लड़कों को गरमी पैदा करनेवाली चीजें दूनी खानी चाहिए, और शरीर को भी ख़ूब गरम रखना चाहिए। यथेष्ट कपड़ा न पहनाने से या तो बच्चों की बाढ़ कम हो जाती है, या उनके शरीर की बनावट को हानि पहुँचती है। बच्चों के कपड़ों के विषय में चार बातों का ख़याल रखना चाहिए। यथाः—

(१) बच्चों के कपड़े न तो इतने ज़ियादह हों कि बहुत गरमी के कारण उन्हें तकलीफ़ मालूम हो; और न इतने कमही हों कि उन्हें सरदी लगे। कपड़े ऐसे होने चाहिए कि साधारण तौर पर सरदी की बाधा बच्चों को न हो।

(२) महीन कपड़े अच्छे नहीं। कपड़े मोटे होने चाहिए जिसमें शरीर की गरमी बाहर न निकल सके।

(३) कपड़े मज़बूत हों—इतने मज़बूत कि बच्चे चाहे जितना खेलें कूदें न वे फटें और न घिसें।

(४) कपड़ों का रंग ऐसा होना चाहिए कि पहनने और खुले रहने से वह उड़ न जाय।

इसके आगे स्पेन्सर ने व्यायाम के विषय पर बहस की है। आपने लड़के और लड़कियों, दोनों, के लिए कसरत करने की बहुत बड़ी ज़रूरत बतलाई है और यह लिखा है कि लड़कों के लिए तो मदरसों में कसरत का प्रबन्ध है भी, पर लड़कियों के लिए बिलकुल ही नहीं है। लोग यह समझते हैं कि लड़कियों को लड़कों की तरह खेलने-कूदने और कसरत करने देने से बड़ी होने पर उनकी शालीनता में बाधा आ जायगी। यह उनकी भूल है। क्या बचपन में दौड़ने, धूपने और उछलने, कूदने वाले लड़के वयस्क होने पर अक्खड़ और अशिष्ट हो जाते हैं? कभी नहीं। अतएव लड़कियों के लिए भी आरोग्य-वर्द्धक व्यायाम का प्रबन्ध होना चाहिए। कृत्रिम उपायों से उन्हें अशक्त, सुकुमार और भीरु बनाना बहुत बुरा है। मदरसों में जो "जिमनास्टिक" की शिक्षा दी जाती है वह उतनी लाभदायक नहीं जितना कि स्वाभाविक खेल-कूद लाभदायक है। खेल-कूद को रोकना मानों शरीर-वृद्धि के लिए ईश्वर-दत्त साधनों को रोकना है। हाँ, खेल-कूद के साथ यदि "जिमनास्टिक" भी हो तो उससे लाभ हो सकता है। पर सिर्फ़ "जिमनास्टिक" पर ही अवलम्बन करना अच्छा नहीं।

इसके आगे स्पेन्सर ने एक परमोपयोगी विषय पर विचार आरम्भ किया है। इस विचार में उसने यह साबित कर दिखाया है कि आज कल के आदमी अपने पूर्वजों की अपेक्षा कम शक्ति रखते हैं और वर्तमान पीढ़ी को देखने से मालूम होता है कि हम लोगों की सन्तति हम से भी अधिक अशक्त होगी। इसका प्रधान कारण उसने मानसिक श्रम की अधिकता बतलाया है। बहुत अधिक मेहनत करने से पिता की शरीर-प्रकृति बिगड़ जाती है। इससे उसकी सन्तति भी अशक्त होती है। इसके आगे स्पेन्सर ने एक लड़कियों के मदरसे के, और एक नव-युवकों के नार्मल स्कूल के, शिक्षा-क्रम का वर्णन करके विद्यार्थियों की शारीरिक दुर्दशा का बड़ा ही हृदय-द्रावक चित्र खींचा है। उसने दिखाया है कि विद्यार्थियों को इतना मानसिक श्रम करना पड़ता है कि उनका शरीर रोगों का घर हो जाता है और

उनका सारा जीवन दुःखमय बन जाता है। यही नहीं, किन्तु उनकी सन्तति भी उन्हीं की सी अशक्त और रोगी पैदा होती है। जो लोग अपने शरीर की कुछ भी परवा न करके विश्वविद्यालय की ऊँची ऊँची परीक्षाओं को पास करनाहीं अपने जीवन का उद्देश समझते हैं उनकी सारी आशाओ पर पानी पड़ जाता है। क्योंकि जब उनका शरीर ही रोग का घर हो जायगा तब उनको अपनी ऊँची शिक्षा से लाभ ही क्या होगा? उनका सारा श्रम प्रायः व्यर्थ जायगा। और, यदि, उससे लाभ भी होगा तो बहुत कम। यहाँ पर स्पेन्सर ने अधिक मानसिक श्रम करने से होनेवाली हानियों का ऐसा हृत्कम्पकारी वर्णन किया है और ख़ुद अपना तजरिबा बयान करके अपने कथन को इस योग्यता से सप्रमाण सिद्ध किया है कि उसके पढ़ने से दुःख, शोक और क्रोध से मन का अजब हाल हो जाता है। उस समय यह ख़याल चित्त में जम जाता है कि भारतवर्ष में छोटे छोटे बच्चों से जो इतना अधिक मानसिक परिश्रम मदरसों में लिया जाता है उससे वे बेचारे बिलकुलही पिस जाते हैं। अतः उनके शरीरारोग्य की दुर्दशा तो होती ही है उनकी भावी, और सर्वथा निरपराध, सन्तति को भी उनके कारण अनेक आपदायें झेलनी पड़ती हैं। यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका विचार यदि शिक्षा-विभाग के अधिकारी न करें तो कुछ वश की बात नहीं। पर समझदार लड़कों और उनके माँ-बाप या रक्षकों को तो अवश्य ही करना चाहिए। जिन स्कूलों या मदरसों से गवर्नमेंट का कुछ भी सम्बन्ध नहीं उनके अधिकारियों को भी स्पेन्सर की बातों का विचार कर के लड़कों को अधिक मानसिक श्रम की हानियों से बचाने की ज़रूर चेष्टा करनी चाहिए।

अधिक दिमाग़ी मेहनत से होनेवाले भयङ्कर परिणामों का वर्णन करके स्पेन्सर ने तोते की तरह रटने के अनेक दोष दिखलाये हैं। इसके बाद उसने यह सिद्ध किया है कि आज कल की बलात्कारपूर्ण शिक्षा-प्रणाली से लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को अधिक हानि पहुँचती है। क्योंकि, लड़कों से तो कुछ व्यायाम भी कराया जाता है, पर लड़कियों से बिलकुल ही नहीं। इससे वे पाण्डुवर्ण, कुबड़ी और जन्म-रोगिणी हो जाती हैं। फिर उसने यह दिखलाया है कि स्त्रियों की विद्वत्ता को देख कर पुरुष उन पर

मोहित नहीं होते। मोहित होते हैं उनकी सुघरता, उनके सु-स्वभाव और उनके चातुर्य्य आदि को देख कर। अतएव इस इरादे से उनको विश्व-विद्यालय की श्रम-साध्य शिक्षा दिलाना कि उनको अच्छा वर मिले, व्यर्थ है। विद्यापार्जन करना उत्तम है, पर उसके कारण शरीर रोगी न होना चाहिए। यदि शरीर ही अबल, रोगी और कुरूप हो गया तो ऊँची शिक्षा बहुत कम लाभ दायक हो सकती है।

वर्तमान शारीरिक शिक्षा-पद्धति मे स्पेन्सर ने चार दोष दिखला कर पुस्तक समाप्त की है। यथाः—

(१) बच्चो को पेट भर खाना नहीं दिया जाता।

(२) उन्हें काफ़ी तौर पर कपड़ा पहनने को नहीं मिलता।

(३) उनसे (कम से कम लड़कियों से) काफ़ी कसरत नहीं कराई जाती।

(४) उनसे बहुत अधिक दिमाग़ी मेहनत ली जाती है।

शारीरिक शिक्षा को तुच्छ समझने और मानसिक शिक्षा को इतना महत्त्व देने का कारण वर्तमान सामाजिक उन्नति है। अब लोगों को शारीरिक शक्ति की बहुत कम ज़रूरत है, क्योंकि सब कहीं शान्ति का साम्राज्य है। अब लड़ाई और दंगे-फ़साद करने का ज़माना नहीं। अब तो जितने सामाजिक काम हैं सबकी कामयाबी मनुष्यों के बुद्धि-बल ही पर अवलम्बित है। इसीसे मानसिक शिक्षा का इतना ज़ोर है। परन्तु आरोग्य-रक्षा मनुष्य का कर्त्तव्य है और शरीरारोग्य-सम्बन्धी नियमों को तोड़ना पाप है। जब तक ये बातें लोगों के ध्यान में अच्छी तरह न आवेंगी तब तक वे अपने बच्चो की शरीर-रक्षा का यथेष्ट उपाय न करेंगे।

शिक्षा।

पहला प्रकरण।

संसार में कौनसी शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है।

कपड़े-लत्ते की अपेक्षा सिंगार की प्रधानता।

यह कहना बहुत ठीक है कि, समय के हिसाब से, लोगों का ध्यान सिंगार, शोभा या सजावट की तरफ़ पहले जाता है, कपडे-लत्ते की तरफ पीछे। जो लोग अपने बदन को सूई से गुदवा कर सिर्फ़ इसलिए बेहद तकलीफ़ उठाते हैं कि वे ख़ूबसूरत देख पड़ें वही सर्दी-गर्मी की बहुत बड़ी तकलीफ़ों को सह लेते हैं; पर उनसे बचने की कुछ भी कोशिश नहीं करते। जरमनी के रहनेवाले हम्बोल्ट नाम के प्रवासी ने एक जगह लिखा है कि दक्षिणी अमेरिका की ओरिनोको नदी के आस-पास रहनेवाले असभ्य आदमी अपने शरीर-सुख की तो बिलकुल परवा नहीं करते; परन्तु दस-पन्द्रह दिन तक वे इसलिए मेहनत-मजदूरी करते हैं कि उससे जो कुछ उन्हें मिले उससे वे रंग इत्यादि मोल लेकर अपने बदन को रँगकर लोगो से वाहवाही लें। इसी तरह इन असभ्य आदमियों की जो स्त्री बदन पर सूत का एक धागा भी न डाल कर दिगम्बर रूप में अपनी झोपड़ी से बाहर निकलते जरा भी नहीं शरमाती, वही अपने बदन को रँगे बिना बाहर आने का साहस नहीं करती। वह यह समझती है कि बदन पर रंग से सिंगार किये बिना घर से बाहर निकलना शिष्टता के नियमों का उल्लंघन करना है। समुद्र के रास्ते प्रवास करनेवाले प्रवासियों को मालूम है कि असभ्य जङ्गली आदमी कपडों—छींट और बानात इत्यादि—को उतना पसन्द नहीं करते जितना कि वे काँच के रंगीन मनकों और राँगे के छोटे मोटे गहनों को पसन्द करते हैं। इन चीजो की अपेक्षा कपड़े की वे बहुत ही कम कदर

करते हैं, अगर इन जङ्गली आदमियों को कोई कोट, कमीज़ या कुर्ता दे तो वे उसे पहनते नहीं, किन्तु उससे वे अपने बदन को इस बुरी तरह से सजाते हैं जिसे देखकर हँसी आती है। इससे यह बात अच्छी तरह साबित है कि इन लोगों का ध्यान फ़ायदे की तरफ़ कम जाता है, सिंगार या सजावट की तरफ़ अधिक। सिंगार के सामने फ़ायदे को वे कुछ समझते ही नहीं। सिंगार ही को अपना सर्वस्व समझते हैं। ये उदाहरण तो कोई चीज़ ही नहीं, इनसे भी विशेष विलक्षण उदाहरण मिलते हैं। उन्नीसवें शतक के मध्य में कप्तान स्पीक नाम का एक प्रवासी इँगलैंड में हो गया है। उसने अफ़्रीका के रहनेवाले अपने असभ्य नौकरों के विषय में लिखा है कि आसमान साफ़ रहने पर, अर्थात् धूप में, तो वे बकरी की खाल के अपने अँगरखे पहने हुए बाहर अकड़ते फिरते थे; पर बरसते में वे उन्हें तह करके रख देते थे और नंगे बदन काँपते हुए पानी में घूमा करते थे। जङ्गली आदमियों की रीति-रस्म और चाल-ढाल से जान पड़ता है कि कपड़े पहनने की रीति सिंगार या सजावट ही से निकली है। अर्थात् उन्नति होते होते सिंगार ही ने वस्त्राच्छादन का रूप धारण किया है—सिंगार ही को देखकर बदन को कपड़े से ढकने की कल्पना मनुष्यों के मन में पैदा हुई है। असभ्य जङ्गली आदमियों की बात जाने दीजिए। सभ्य कहलानेवाले ख़ुद हम लोगों में से अधिक आदमी आज कल भी कपड़े के गरम और मज़बूत होने की अपेक्षा उसके महीन होने की तरफ़ अधिक ध्यान देते हैं। कपड़े से आराम मिले या न मिले, पर काट अच्छा होना चाहिए। जब हम देखते हैं कि इस समय भी लोगों का ध्यान दिखाव की तरफ़ इतना अधिक है, पर आराम और उपयोगिता की तरफ़ इतना कम, तब वस्त्राच्छादन, अर्थात् पोशाक, की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें एक और प्रमाण मिल जाता है। इन प्रमाणों से साबित है कि सिंगार से ही कपड़े-लत्ते पहनने की कल्पना मनुष्यों को हुई है।

२—मन से सम्बन्ध रखने वाली बातों में भी फ़ायदे का कम ख़याल किया जाता है, दिखाव का अधिक।

आश्चर्य है कि मन की भी यही दशा है। शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली बातों की तरह मन से सम्बन्ध रखनेवाली बातों में भी फ़ायदे का

कम ख़याल किया जाता है। शोभा या दिखाव का अधिक, देखने में जो बात अधिक अच्छी मालूम देती है उसीकी लोग अधिक परवा करते हैं। पुराने जमाने ही में नहीं, आज कल भी, जिस ज्ञान या जिस विद्या के कारण आदमियों की नज़र में मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ती है उसीकी तारीफ़ होती है, उसीकी तरफ़ लोग अधिक ध्यान देते हैं, हानि-लाभ का वे खयाल नहीं करते। किस विद्या, या किस ज्ञान, की उपयोगिता अधिक है—इस बात की तो लोग परवा नहीं करते, परवा करते हैं सिर्फ़ वाहवाही पाने की। ग्रीस अर्थात् यूनान के मदरसों में गाना-बजाना, कविता, अलङ्कार-शास्त्र और तत्त्वज्ञान की शिक्षा सबसे अच्छी शिक्षा समझी जाती थी। साक्रेटिस (सुकरात) नाम का विद्वान् वहाँ बहुत बड़ा तत्त्वज्ञानी हो गया है। उसके पहले तो तत्त्वज्ञान की विद्या का ऐहिक अर्थात् लौकिक, कामों में कुछ भी उपयोग न होता था। लोग समझते थे कि ऐसे कामों से उसका कुछ सम्बन्ध ही नहीं। पर, सुनकर आश्चर्य होता है, संसार में जो बातें अधिक काम में आती हैं—मनुष्य के जीवन से जिस विद्या और शिक्षा का अधिक सम्बन्ध रहता है—उनकी तरफ़ लोगों का बहुत ही कम ध्यान था। वे उनको बहुत ही कम महत्व या जरूरत की समझते थे। और आज कल की क्या हालत है? आज कल भी हमारे विश्वविद्यालयों और स्कूलों में वही पुरानी लकीर पीटी जाती है, वही पुरानी बातें सिखलाने की तरफ़ अधिक ध्यान दिया जाता है। दस विद्यार्थियों में नौ विद्यार्थी, स्कूल और कालेजों में पढ़ लिख कर निकलने पर, अपनी लैटिन, ग्रीक और संस्कृत भाषाओं का व्यावहारिक बातों में कुछ भी उपयोग नहीं करते। अर्थात् काम-काज में वे लोग उनसे कुछ भी फ़ायदा नहीं उठाते। यह ऐसी बात नहीं जिसे बतलाने की जरूरत हो। इसे कौन नहीं जानता? व्यापार करने, दफ़्तर में लिखने पढ़ने, अपने घर या जमींदारी का काम-काज चलाने, किसी रेल या बैंक का बंदोबस्त करने वग़ैरह में, बरसों दिन-रात मेहनत कर के सीखी गई इन भाषाओं से किसी विद्यार्थी को क्या कुछ भी मदद मिलती है? क्या उसे इनसे कुछ भी फ़ायदा पहुँचता है? यदि पहुँचता भी है तो बहुत कम—इतना कम कि, कुछ दिनों में, इन भाषाओं के ज्ञान के अधिक अंश को वह बिलकुल ही भूल जाता है। और यदि कभी कोई बात-चीत करते या व्याख्यान देते समय एक आध लैटिन या संस्कृत-वाक्य कह डालता है

अथवा ग्रीस देश की किसी पौराणिक आख्यायिका का हवाला दे देता है, तो वर्तमान विषय को अधिक स्पष्ट करने के इरादे से वह ऐसा कम करता है, अपनी विद्वत्ता दिखलाने के इरादे से अधिक। जिस विषय पर वह कुछ कह रहा है उसे ग्रीक, लैटिन या संस्कृत के वाक्यों की सहायता से सुनने-वालों को ख़ूब समझा देने की अपेक्षा उनको सुनाकर अपनी पण्डिताई प्रकट करना ही उसका प्रधान उद्देश रहता है। मतलब यह कि सुननेवालों पर असर पड़ना चाहिए; विषय उनकी समझ में आवे या न आवे। ख़ूब समझा देने की परवा लोगों को कम रहती है; क़िस्से कहानी कह कर सुननेवालों पर अपनी बात का असर डालने की अधिक। सब लोग अपने लड़कों को ये पुरानी भाषायें क्यों सिखलाते हैं? विचार करने से इसका कारण यह मालूम होता है कि आदमियों को सर्व-साधारण, अर्थात् समाज की पसन्द ही का काम करना अच्छा लगता है। जब कोई यह देखता है कि और लोग अपने लडकों को पुरानी भाषायें पढ़ाते हैं तब वह, उपयोगिता और हानि-लाभ का विचार न करके, अपने लड़कों को भी वही भाषायें पढ़ाने लगता है। सारा मतलब यह कि और लोगों की नज़र में हमारे लड़के भी विद्वान् और प्रतिष्ठा-पात्र समझे जायँ। इसके सिवा इन पुरानी भाषाओं के सिखाने का और कोई कारण नहीं देख पड़ता। लोकरीति के अनुसार जिस समय जिस तरह के कपड़े-लत्ते पहनने की चाल होती है उसी तरह के कपड़े-लत्ते लोग पहनते हैं। यही बात पढ़ाने लिखाने की भी है। उसमें भी लोग लोकरीति की नक़ल करते हैं। अपने लड़कों के मन को वे विद्यारूपी वस्त्र उसी तरह औरों को देखकर पहनाते हैं जिस तरह कि वे अपने बदन को ढकने के लिए मामूली कपड़े-लत्ते पहनते हैं। ओरीनोको के जंगली आदमी अपनी झोपड़ियों से बाहर निकलने के पहले अपने बदन को रँग लेते हैं। यह काम क्या वे किसी तरह का फ़ायदा समझ कर करते हैं? नहीं, फ़ायदे का उन्हें कुछ भी ख़याल नहीं होता। वे अपने बदन को सिर्फ़ इसलिए रँगते हैं, कि बेरँगे हुए बाहर निकलने में उन्हें शरम लगती है। इसी तरह लैटिन, ग्रीक या संस्कृत की शिक्षा जो लड़कों को दी जाती है, इस ख़याल से नहीं दी जाती, कि इससे उनको कुछ फ़ायदा पहुँचेगा; किन्तु इस ख़याल से दी जाती है कि यदि ये भाषायें हमारे लड़कों को न आवेंगी तो लोग यह समझेंगे कि उनकी विद्या पूरी ही नहीं हुई। माँ-बाप

को इस बात का हौसला रहता है कि लोग उनके लड़कों को सुशिक्षित कहें; सब कहीं उनका आदर हो; कोई उनको तुच्छ दृष्टि से न देखे। इन भाषाओं का पढ़ाना लड़कों को मानो सुशिक्षा और सभ्यता की सनद देना है।

३—स्त्रियों की शिक्षा में बाहरी दिखाव पर और भी अधिक ध्यान दिया जाता है।

स्त्रियों की शिक्षा के विषय में तो यह बात और भी अधिक स्पष्टता से देखी जाती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कपड़े-लत्ते आदि से अपने बदन को सजाने और सिंगारने की और भी अधिक चाल है। हानि-लाभ का ख़याल न करके जिस तरह वे अपने बदन के सिंगार की तरफ़ अधिक ध्यान देती हैं उसी तरह वे अपने मन को भी औरों की देखादेखी, सिर्फ़ उसे सिंगारने ही के इरादे से, शिक्षित करती हैं। पुराने ज़माने में स्त्री और पुरुष दोनों को अपने अपने बदन सिंगारने का एक ही सा ख़याल था। अर्थात् इस विषय में कोई एक दूसरे से कम न था। पुरुषों को अपने अपने बदन सजाने और सिंगारने का उतना ही शौक़ था जितना कि स्त्रियों को था। परन्तु जैसे जैसे शिक्षा और सभ्यता बढ़ती जाती है वैसे वैसे आदमियों के पहरावे में सुधार होता जाता है। अब लोगों को यह ख़याल होने लगा है कि कपड़े सादे हुए तो चिन्ता नहीं, पर उनसे आराम मिलना चाहिए। हानि-लाभ और आराम का ख़याल अब लोगों को अधिक है; सजाव और सिंगार का कम। इसी तरह आदमियों की शिक्षा में उपयोगिता का ख़याल बाहरी दिखाव के ख़याल की अपेक्षा अधिक किया जाने लगा है। परन्तु स्त्रियों की हालत पहले ही की सी बनी हुई है। न बदन के सिंगारने के विषय में स्त्रियों में कोई सुधार हुआ और न मन ही के। कानों में बालियाँ और बाले, उँगलियों में छल्ले और अँगूठियाँ, और हाथ में कंगन पहनना; सिर की बेनी को बड़ी सफ़ाई से सँवारना; अब भी, कभी कभी, तरह तरह के रंग लगाना, ख़ूब चित्ताकर्षक और रंग बिरंगे कपड़े पहनना—इत्यादि स्त्रियों की बातों पर विचार करने से यह अच्छी तरह साबित होता है कि स्त्रियों को हानि-लाभ की परवा की अपेक्षा दिखाव और सिंगार की अधिक परवा है। अपने बदन को गरम रखने और आराम देने

का उन्हें उतना ख़याल नहीं, जितना कि इस बात का है कि उन्हें दूसरी औरतें ख़ूब सुन्दर और सजी बजी समझें। यही हाल स्त्रियों की शिक्षा का है। सुघरता की ज़ितनी क़दर है; बैठने-उठने, बात-चीत करने और पहनने-ओढ़ने में लोक-रीति के अनुसार व्यवहार की बातें जानने की जितनी क़दर है; शिष्टाचार और सभ्यता का बर्ताव सीखने की जितनी क़दर है—और बातों की उतनी क़दर नहीं। दिखाव की जितनी क़दर है उपयोगिता या फ़ायदे की उतनी क़दर नहीं। इँगलैंड में स्त्रियों को गाना-बजाना आना चाहिए नाचना आना चाहिए, तसवीर खींचना आना चाहिए, यहाँ तक कि बाक़ायदा बैठने-उठने और बात-चीत करने का ढंग भी आना चाहिए। न मालूम कितना समय इन सब बातों के सीखने में ख़र्च होता है। अगर कोई पूछे, कि इँगलैंड की स्त्रियों को इटली और जरमनी की भाषायें क्यों सिखलाई जाती हैं, तो कितने ही झूठे-सच्चे कारण बतलाये जासकेंगे। पर उनमें से सबसे बड़ा सच्चा कारण यह है कि सिर्फ़ प्रतिष्ठा के ख़याल से स्त्रियों को इन भाषाओं के सीखने की ज़रूरत समझी जाती है। अर्थात् बिना इन भाषाओं को सीखे स्त्रियाँ समाज में आदरणीय ही नहीं समझी जातीं। इसी से उन्हें इन भाषाओं को सीखना पड़ता है। इन भाषाओं में जो पुस्तकें हैं उनको पढकर फ़ायदा उठाने के लिए स्त्रियों को ये भाषायें नहीं पढ़ाई जातीं। यह बात कोई कह भी नहीं सकता कि ऐसी किताबें पढ़कर स्त्रियों ने कभी फ़ायदा उठाया हो। और उठाया भी होगा तो शायदही कभी किसी ने उठाया होगा। इन किताबों के पढ़ने का असल मतलब यह है कि स्त्रियाँ इटली और जर्मनी की भाषाओं में गीत गा-सकें और उनके इस अनोखे कौशल की सब कहीं तारीफ़ हो—लोग आपस में आश्चर्य्य के साथ कानाफूसी करें। इसी तरह इँगलैंड में स्त्रियाँ, राजाओं के जन्म, मृत्यु, विवाह इत्यादि की, और ऐसी ही और भी छोटी मोटी ऐतिहासिक घटनाओं की तारीख़ें इस मतलब से नहीं याद करतीं कि उनके याद करलेने से कुछ फ़ायदा होगा; किन्तु इसलिए कि लोगों की समझ में शिक्षित स्त्रियों को इन बातों का मालूम होना बहुत ज़रूरी है। स्त्रियों को यह ख़याल होता है—उनको इस बात का डर रहता है—कि यदि उन्हें इस तरह की ऐतिहासिक घटनाओं का ज्ञान न होगा तो लोगों की दृष्टि में वे गिर जायँगी—लोग उन्हें तुच्छ समझने लगेंगे। इँगलैंड में आज

कल लड़कियों को जितने विषय सिखलाये जाते हैं उनमे से लिखना पढ़ना, इम्ला, व्याकरण, हिसाब और सूई का काम—बस इतने ही विषय ऐसे हैं जो व्यवहार मे काम आते हैं, अर्थात् रोज़मर्रा के काम-काज में जिनका उपयोग होता है। इनमें से भी कुछ विषय ऐसे हैं जो निज के फ़ायदे के ख़याल से नहीं पढ़ाये जाते; किन्तु इस ख़याल से पढाये जाते हैं कि और लोगों की राय में उनका पढ़ाना अच्छा है।

४—शिक्षा के सम्बन्ध में बाहरी दिखाव की प्रधानता के कारण।

इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए कि कपड़े-लत्ते की तरह विद्या के सम्बन्ध में भी क्यों लोग फ़ायदे की अपेक्षा शोभा और सिंगार की तरफ़ अधिक ध्यान देते है, हमें उसका मूल कारण जानना चाहिए। वह मूल कारण यह है कि बहुत पुराने ज़माने से लेकर आज तक लोगो का झुकाव अपनी निज की जरूरतों को दूर करने की अपेक्षा समाज की ज़रूरतों को दूर करने की तरफ़ अधिक रहा है। अपनी जरूरतों का ख़याल लोगो को कम रहा है; समाज की ज़रूरतों का अधिक। अपनी जरूरतें हमेशा सामाजिक ज़रूरतों के तावे में रही हैं। जो बात अपने को अच्छी लगती है उसकी अपेक्षा समाज को जो अच्छी लगती है उसे करने की हर आदमी कोशिश करता है। अपनी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करके, समाज की इच्छा के अनुसार बर्ताव द्वारा, वह उसके वश में रहना ही अपना सबसे बड़ा उद्देश सम-झता है। अथवा यह कहना चाहिए कि व्यक्ति पर समाज की सत्ता चलती है। समाज की जो राय होती है, व्यक्ति-मात्र को उसके सामने सिर झुकाना पड़ता है। लोगों का ख़याल है कि व्यक्ति—पृथक् पृथक् हर आदमी—पर सत्ता चलानेवाली, अर्थात् उसे अपने तावे में रखनेवाली, सिर्फ़ गवर्नमेंट है। अर्थात् सिर्फ़ गवर्नमेंट अपनी इच्छा के अनुसार वर्ताव कराने के लिए सब लोगों को मजबूर कर सकती है—फिर उस गवर्नमेंट की सत्ता चाहे किसी राजा के हाथ में हो, चाहे किसी पार्लियामेंट के हाथ में हो, चाहे यथा—नियम मुक़र्रर किये गये किसी और अधिकारि-वर्ग के हाथ में हो। परन्तु यह ख़याल ठीक नहीं। जो लोग ऐसा समझते हैं वे ग़लती करते हैं। इस तरह की गवर्नमेंटें तो प्रसिद्ध ही हैं; पर इनके सिवा और भी बहुत सी अन्तर्गत गवर्नमेंटें हैं। इन दूसरी तरह की गवर्नमेंटो को लोग यद्यपि गव-र्नमेंट के नाम से नहीं पुकारते, तथापि वे हर कुटुम्ब और हर समाज में

पाई जाती हैं। प्रत्येक स्त्री और प्रत्येक पुरुष इस तरह की गवर्नमेंटों में राजा-रानी या और कोई राज्याधिकारी होने की कोशिश करता है। ऐसी गवर्नमेंटों में हर आदमी अपने से छोटों पर प्रभुता जमाने और उनसे सन्मान पाने, और अपने से बडों को प्रसन्न रखने, की फ़िक्र में रहता है। इसी प्रयत्न में, इसी कोशिश में, इसी खैंचातानी मे, हर आदमी लगा रहता है और ज़िन्दगी का बहुत सा हिस्सा इसी खटपट में खर्च होजाता है। हर आदमी इस प्रयत्न में रहता है कि रुपया-पैसा इकट्ठा करके, अमीरी ठाठ से रहकर, अच्छे कपड़े-लत्ते पहनकर और अपनी विद्या-बुद्धि का प्रकाशन करके वह औरों से बढ़ जाय। वह इस प्रकार की काररवाई से—इस प्रकार के आचरण से-नियमन, नियंत्रण या रुकावट के उस जाल को और भी अधिक घना कर देता है जिसने समाज की व्यवस्था को अपनी जगह पर बाँध सा रक्खा है। अर्थात् समाज को यथास्थित रखने मे वह विशेष सहायता पहुँचाता है। जिस तरफ़ आँख उठा कर देखिए उसी तरफ़ आपको यह बात देख पड़ेगी। असभ्य जंगली आदमियों के सरदारों को देखिए। लड़ाई का भयानक रंग अपने बदन मे पोतकर, और खोपड़ियों की करधनी अपनी कमर मे बाँध कर, वे भी अपने अधीन आदमियों पर अपना रोब जमाते हैं। नागरिक तरुण स्त्रियों को देखिए। घंटों कंघी चोटी करके, रंग बिरंगे कपड़े पहन कर, और अनेक तरह के नाज़ो-नख़रे दिखला कर वे भी औरों का मन अपनी तरफ़ आकर्षण करने की कोशिश करती हैं। उनका भी एकमात्र उद्देश औरो पर विजय प्राप्त करने ही का रहता है। इन उदाहरणों को जाने दीजिए। ये तो बहुत छोटे उदाहरण हैं। अजी, बड़े बड़े विद्वान् इतिहास-कार और तत्त्वज्ञानी पण्डितों तक की यही दशा है। ये लोग तक अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपने ज्ञान का उपयोग सिर्फ़ दूसरों को अपनी विद्वत्ता दिखलाने ही के इरादे से करते हैं। इनका भी यही मतलब रहता है कि और लोग उनको बहुत बड़े विद्वान्, पंडित और वेदान्ती समझें। हम में से एक आदमी भी इस बात पर सन्तोष नहीं करता कि जितना कला-कौशल, जितना ज्ञान या जितनी विद्या उसमें है उसे चुपचाप ज़ाहिर कर देना ही बस है। नहीं, हर एक की यही इच्छा रहती है कि जो कुछ उसे आता है उसका असर दूसरों पर पड़े। जब तक वह अपने गुणों का प्रभाव दूसरों पर डालने की कोशिश नहीं करता तब तक उसे एक तरह की बे-

चैनी सी रहती है। मतलब यह कि हर एक पढ़ा लिखा आदमी चाहता है कि औरों की नज़र में वह अधिक प्रतिष्ठित और अधिक विद्वान् मालूम हो। और यही मतलब—यही उद्देश—हमारी शिक्षा का फ़ैसिला करता है। वह बात यही है जिसको ध्यान में रखकर लोग यह निश्चय करते हैं कि हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए। हम लोग इस बात का कभी ख़याल नहीं करते कि किस तरह की विद्या, किस तरह की शिक्षा, किस तरह का ज्ञान हमारे लिए अधिक उपयोगी है। ख़याल हम इस बात का करते हैं कि किस तरह की शिक्षा से लोग हमारी सबसे अधिक तारीफ़ करेंगे, किस तरह की शिक्षा से लोग हमें सबसे अधिक प्रतिष्ठा-पात्र समझेंगे; किस तरह की शिक्षा से लोग हमारा सब से अधिक आदर करेंगे। हमको सिर्फ़ इस बात का ख़याल रहता है कि कैसी शिक्षा से और लोगों पर हमारा प्रभाव ख़ूब पड़ेगा; कैसी शिक्षा से समाज में हमारा सम्मान बढ़ जायगा; कैसी शिक्षा से हम बहुत बड़े आदमी मालूम होने लगेंगे। दुनिया में हम हमेशा इस बात को देखते हैं कि और लोग हमें क्या कहते हैं, इस बात को नहीं कि यथार्थ में हम हैं क्या? इसी तरह शिक्षा के विषय में हम इस बात की उतनी परवा नहीं करते कि शिक्षा की क़ीमत कितनी है—उससे हमारा काम कितना निकलेगा—जितनी हम इस बात की परवा करते हैं कि देखने में और लोगों पर उसका असर या परिणाम कितना होगा। इस दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा से फ़ायदा उठाने का ख़याल हम लोगों को उस असभ्य जङ्गली आदमी से अधिक है, जो अपने दाँतों को रेती से रगड़ कर साफ़ करता है और नाख़ूनों को रंग से रंगीन बनाता है। इस विषय में हम में और उसमें अन्तर ही क्या है? कुछ नहीं। जहाँ तक फ़ायदा और उपयोगिता से सम्बन्ध है जंगल का रहनेवाला वह असभ्य और बड़े बड़े शहरों के रहने वाले हम सभ्य, दोनों, बराबर हैं।

५—जुदा जुदा तरह की शिक्षा की योग्यता और अयोग्यता के विषय में नासमझी।

हम लोगों की शिक्षा अभी तक बाल्यावस्था में है—अभी तक अपरिपक्व दशा में है। उसमें अभी तक बहुत कुछ सुधार और संशोधन की

ज़रूरत है । इस बात की यदि और अधिक गवाही दरकार हो—यदि और अधिक प्रमाणों की अपेक्षा हो—तो बहुत दूर जाना न पड़ेगा। अभी तक तो हम लोगों मे इस बात की चर्चा तक अच्छी तरह नहीं हुई—बहस तक अच्छी तरह नहीं हुई—कि किस विद्या, किस शिक्षा या किस ज्ञान की योग्यता अधिक है और किसकी कम। नियमानुसार विचार और विवेचना होकर सिद्धान्तो का निश्चय किया जाना तो और भी दूर की बात है। उस की तरफ़ तो लोगों का ध्यान और भी कम गया है। यही नहीं कि अब तक सब विद्वानों की राय से इस बात का निश्चय न हुआ हो कि किस शिक्षा की योग्यता कम है किसकी अधिक; किन्तु अभी तक लोगों ने इस विषय का कोई व्यापक सिद्धान्त तक साफ़ तौर पर निश्चय नहीं कर पाया, जिस की सहायता से शिक्षा की योग्यता और अयोग्यता के न्यूनाधिक होने का प्रमाण दिया जा सके। और, यही नहीं कि जुदा जुदा शिक्षा की परस्पर-सापेक्ष्य योग्यता का निश्चय जिससे हो सके ऐसा निर्विवाद सिद्धान्त ही लोगों की समझ में अभी तक न आया हो; किन्तु मालूम होता है कि ऐसे सिद्धान्त के जानने की ज़रूरत तक का लोगों ने शायद ही कभी खयाल किया हो। इस विषय की पुस्तकें पढनी चाहिए; उस विषय के व्याख्यान सुनने चाहिए; अमुक अमुक विषयों की शिक्षा लड़कों को देनी चाहिए; अमुक अमुक विषयों की न देनी चाहिए—इस तरह के निश्चय लोग रोज़ किया करते हैं। पर ऐसे निश्चय किये किस आधार पर जाते हैं? सिर्फ़ रीति-रस्म के आधार पर! सिर्फ़ अपनी पसन्द के आधार पर! सिर्फ़ अन्धपरम्परा के आधार पर! सिर्फ़ अपनी अविचार-बुद्धि और पूर्व-प्रवृत्ति के आधार पर! इस बात का ख़याल स्वप्न में भी किसी को नहीं होता—इस बात की कल्पना भूल कर भी किसी के मन में नहीं पैदा होती—कि किस विद्या या किस शिक्षा का ज्ञान सबसे अधिक फ़ायदे का है और इसका निर्णय करना कितने महत्व की बात है। यह सच है कि सब कहीं, जहाँ दो चार आदमी बैठते और परस्पर बात-चीत करते हैं, इस तरह की बातें कभी कभी सुन पड़ती हैं कि अमुक शिक्षा से यह फ़ायदा है और अमुक से यह नुक़सान। पर इस तरह के प्रश्न कभी नहीं होते कि किसी विशेष शिक्षा के प्राप्त करने मे जो समय लगता है उसका लगाना उस शिक्षा की ज़रूरत के हिसाब-से ठीक है या नहीं; अथवा और भी कोई ऐसी

शिक्षा है या नहीं जिसके प्राप्त करने में उतना समय लगाने से अधिक फ़ायदा हो सकता है और यदि इस तरह के प्रश्न कभी होते भी हैं तो लोग उनका फ़ैसिला थोड़े ही में, अपनी समझ—अपनी प्रवृत्ति—के अनुसार, बिना अच्छी तरह विचार किये, फ़ौरन ही कर देते हैं। यह भी सच है कि गणित-शास्त्र और लैटिन, ग्रीक, संस्कृत इत्यादि पुरानी भाषाओं की अन्य-सापेक्ष-योग्यता के सम्बन्ध का पुराना वाद-विवाद कभी कभी नया हो जाता है, अर्थात् कभी कभी इन विषयों का परस्पर एक दूसरे से मुक़ाबला किया जाता है और इस बात पर बहस होती है कि किसे सीखने से अधिक फ़ायदा है और किसे सीखने से कम। पर इस चर्चा—इस बहस—मे कोई प्रमाण या कोई सिद्धान्त निश्चित करके उसके आधार पर एक शब्द भी नहीं कहा जाता; जो कुछ कहा जाता है अपनी अपनी राय के मुताबिक़—अपने अपने तजरिबे के मुताबिक। इस तरह की एकदेशीय बहस भी कोई बहस है। ऐसी चर्चा की, ऐसे वाद-विवाद की. क़ीमत बहुत कम है। हमें दो एक विषयो की शिक्षा के सम्बन्ध में विचार नहीं करना; किन्तु सब तरह की शिक्षाओं के सम्बन्ध में विचार करना है। इस दशा में गणित और पुरानी भाषाओ से सम्बन्ध रखनेवाले विचार को, सब तरह की शिक्षाओं से सम्बन्ध रखनेवाले उस सर्वव्यापी विचार का, सिर्फ़ एक अंश समझना चाहिए। ऐसे क्षुद्र विचार का महत्त्व ही कितना? इस बात के फ़ैसिले के लिए कि किन किन विषयों की शिक्षा देनी चाहिए, इसके फ़ैसिले से काम नही चल सकता कि गणित-शास्त्र की शिक्षा सबसे अच्छी है या पुरानी भाषाओ की। इस तरह का फ़ैसिला वैसाही है जैसा भोजन-सम्बन्धी विद्या का विचार उपस्थित होने पर, यह फ़ैसिला करके अपने को कृतकृत्य मान लेना, कि आलू की अपेक्षा रोटी में बल बढ़ानेवाली शक्ति अधिक है। इस तरह के फ़ैसिले निकम्मे हैं।

६—परस्पर मुक़ाबला करके सबसे अधिक उपयोगी शिक्षा को सबसे अधिक महत्व देने की ज़रूरत।

जिस विषय का विचार, यहाँ पर, किया जा रहा है वह बहुत बड़े महत्व का है। इस सम्बन्ध में इस बात के जानने की जरूरत नहीं कि किस शिक्षा, किस विद्या, किस इल्म की कितनी क़ीमत है—कितनी उपयोगिता

है—ज़रूरत इस बात के जानने की है कि और विद्याओं या शिक्षाओं के मुक़ाबले में प्रत्येक विद्या या शिक्षा की कितनी क़ीमत है। अर्थात् प्रत्येक ज्ञान के अन्यसापेक्ष-उपयोगीपन के जानने की ज़रूरत है। लोगों का यह ख़याल है कि किसी निश्चित शिक्षा से जो फ़ायदे उन्होंने उठाये हैं उनको बयान कर देना ही माने इस बात का प्रमाण है कि उस शिक्षा को प्राप्त करने में जो समय उनका ख़र्च हुआ था, और जो श्रम उनको करना पड़ता था, वह सार्थक हो गया। परन्तु इस बात के विचार को वे बिलकुल ही भूल जाते हैं कि जो फ़ायदे उनको हुए हैं वे काफ़ी हैं या नहीं। वे यह नहीं सोचते कि यदि उन्होने किसी और शिक्षा के प्राप्त करने में इतना समय ख़र्च किया होता और इतना श्रम उठाया होता तो उन्हें अधिक फ़ायदा होता या नहीं। ऐसा तो शायद कोई भी विषय नहीं जिसकी शिक्षा से कुछ भी फ़ायदा न होता हो; कुछ न कुछ फ़ायदा तो ज़रूर ही होता है। अगर कोई आदमी पुराने काग़ज़-पत्र, वंश-विवरण या सिक्कों इत्यादि की जाँच में दिल लगाकर एक वर्ष ख़र्च करे तो, बहुत सम्भव है, उसे पुराने ज़माने के रीति-रवाज, आचार-विचार और व्यवहार आदि का पहले से अधिक ज्ञान हो जाय। अगर कोई आदमी इँगलैंड या हिन्दुस्तान के सब शहरों के बीच की दूरी याद कर ले, तो भी, सम्भव है, कि उसकी याद की हुई हज़ारों बातों में से दो एक बातों से, प्रवास के लिए तैयारी करने पर, उम्र भर में, उसे एक-आध दफ़े कुछ फ़ायदा हो जाय। प्रत्येक देश के प्रत्येक घर में कुछ न कुछ गप-शप की बातें हुआ ही करती हैं। इस तरह की सब छोटी छोटी बातों का जानना यद्यपि व्यर्थ है, तथापि, सम्भव है, इनका भी ज्ञान कभी किसी सिद्धान्त के स्थिर करने में काम आवे। उदाहरण के लिए इस तरह की बातों के जानने से शायद इस सिद्धान्त की पुष्टि हो सके कि एक पीढ़ी के गुण-दोष परम्परा से दूसरी पीढ़ी में भी आजाते हैं। पर हर आदमी इस बात को क़बूल करेगा कि ऐसी बातों के जानने मे जो मेहनत दरकार है उसकी मात्रा की अपेक्षा भावी फ़ायदे की मात्रा बहुत ही कम है। अर्थात् दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। मेहनत बहुत, फ़ायदा कम। यह तो पहाड़ खोद कर एक छोटा सी चुहिया निकालना हुआ। एक भी आदमी इस बात को न मंज़ूर करेगा—एक भी आदमी इस बात को न बरदाश्त करेगा—कि बहुत अधिक

महत्व के विषयों का छोड़कर लड़के की उम्र के कुछ साल इस तरह की व्यर्थ बातों के सीखने में ख़र्च कर दिये जायँ। इससे यह सिद्ध है कि किसी किसी विषय में हम लोग शिक्षा की न्यूनाधिक योग्यता का विचार करते हैं। तो, फिर प्रत्येक विषय में यही सिद्धान्त क्यों न काम में लाया जाय? प्रत्येक विषय क्यों न इसी कसैाटी पर कसा जाय? प्रत्येक विषय में क्यों न यही कसौटी निर्णायक समझी जाय? हाँ, जैसा कि नीचे के एक पुराने पद्य में किसी ने कहा है, यदि सब विषयों का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम लोगो का समय होता तो बात दूसरी थीः—

यदि इसका निश्चय हो जाता कि इस समय भी वर्ष हजार
बना रहेगा कोई, तो फिर होता उसको हर्ष अपार।
विद्यायें अनन्त वह पढ़ता, करता बड़े बड़े वह काम,
घबराता न कभी, या लेता भ्रमवश भी जल्दी का नाम॥

परन्तु संसार में हम लोगों को बहुत दिन नहीं रहना है, इस कारण विद्योपार्जन के लिए जो थोड़ा सा समय हमें मिलता है उसका सबसे अच्छा उपयोग करना चाहिए और उसके थोड़ेपन का ख़याल कभी दिल से दूर न होने देना चाहिए। आदमी को यह बात हमेशा याद रखना चाहिए कि ज़िन्दगी थोड़ी होने ही के कारण विद्योपार्जन और शिक्षा-सम्पादन के समय में कमी नहीं आती, किन्तु संसार के हजारों काम-काज भी उस कमी के कारण होते हैं। और इन काम-काजो के कारण समय की यह कमी और भी अधिक बढ़ जाती है। इसलिए हमको मुनासिब है कि हम इस बात का विशेष ख़याल रक्खें कि जितना समय हमें मिले उसे हम इस तरह काम में लावें कि उससे हमें अधिक से अधिक फ़ायदा हो। लोगों की प्रवृत्ति या अपनी मैाज से प्रेरित होकर किसी विषय के सीखने में साल के साल ख़र्च कर देना बुद्धिमानी का काम नहीं। आदमी को चाहिए कि जिस विषय के सीखने में उसका विशेष हित हो उसी को सीखे। उसे पहले सब विषयों की शिक्षा के नतीजे का विचार बहुत सावधानी से कर लेना चाहिए और यह देख लेना चाहिए कि जितना समय उसके पास है उसे किस विषय के सीखने में लगाने से और विषयों के सीखने की अपेक्षा अधिक फ़ायदा होगा। इस बात का निश्चय करके तब उसे शिक्षा आरम्भ करनी चाहिए।

७—किन बातों का जानना सबसे अधिक उपयोगी है ।

इन्हीं कारणों से, शिक्षा के सम्बन्ध में, सब बातों की बात यही है जिसका ज़िक्र ऊपर किया गया है। इस विषय में नियमानुसार बहस करने का अब मौक़ा आया है। सबसे अधिक महत्त्व की बात—यद्यपि विचार करते समय उसकी याद सबसे पीछे आती है—यह है कि जिन भिन्न भिन्न प्रकार के विषयों की बात हमारे ध्यान को अपनी तरफ़ खींचती है उनके महत्त्व की न्यूनाधिकता का फ़ैसला किस तरह किया जाय। शिक्षा-विषयक किसी विशेष परिपाटी का निश्चय करने के पहले इस बात का फ़ैसला कर लेना बहुत ज़रूरी है कि किन बातों का जानना हमारे लिए सबसे अधिक उपयोगी है। या, यदि इँगलैंड के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता बेकन के कथन का हम अनुसरण करें—जिस कथन का प्रयोग अब लोग अभाग्यवश नहीं करते—तो हमको सब तरह के ज्ञानों की अन्यसापेक्ष्य उपयोगिता का निश्चय कर लेना चाहिए। अर्थात् हमें यह जान लेना चाहिए कि किस ज्ञान, किस शिक्षा, और किस विद्या से कितना फ़ायदा होने की सम्भावना है।

८—हर तरह की शिक्षा की उपयोगिता की माप ।

इस मतलब की सिद्धि के लिए हर तरह की शिक्षा की क़ीमत, अर्थात् उपयोगिता, की माप का निश्चय करना सबसे पहली बात है। ख़ुशी की बात है कि इस तरह की माप, साधारण तौर पर, निश्चित हो चुकी है। इस विषय मे वाद-विवाद होने, अर्थात् एक आदमी की राय दूसरे आदमी से न मिलने, का डर नहीं। किसी विशेष प्रकार की शिक्षा के सम्बन्ध में वाद-विवाद करते समय हर आदमी ज़िन्दगी के किसी हिस्से के साथ उसका सम्बन्ध जरूर बतलाता है। जब यह पूछा जाता है कि—"इस शिक्षा से क्या फ़ायदा है?" तब गणितशास्त्री, भाषाविज्ञानी, पदार्थ-तत्ववेत्ता या तत्वज्ञानविशारद अपनी अपनी विद्या के फ़ायदे बयान करते हैं और यह बतलाते हैं कि किस तरह वह विद्या बुरे कामों से बचाती है, किस तरह वह अच्छे कामों की तरफ़ झुकाती है; किस तरह वह सुख का कारण होती है, और किस तरह वह सारे सांसारिक व्यवहारों मे काम आती है। लिपि-कला का अध्यापक यदि बतला दे कि अच्छा लिखना आ-

जाने से काम-काज में बड़ी मदद मिलती है—उसमे कामयाबी होती है—अथवा यों कहिए कि उससे आदमी का गुजर अच्छी तरह हो जाता है—वह भूखा नहीं रहता—तो समझना चाहिए कि उसने अपनी बात को प्रमाणित कर दिया; उसने अपने दावे को साबित कर दिया। और यदि मुर्दा घटनाओं, अर्थात् पुरानी बातों, का ज्ञान प्राप्त करनेवाला (उदाहरण के लिए पुराने शिलालेखों, पुराने सिक्कों या पुराने तमगो के विषय में जानकारी रखनेवाला) यह न साबित कर सके कि इन बातों के जानने से मनुष्य को कोई कहने लायक़ फ़ायदा पहुँचता है, अर्थात् अपने हितसाधन में मनुष्य को इन बातों से काफ़ी मदद मिलती है, तो उसे लाचार होकर यह क़बूल करना पड़ेगा कि इस तरह की बातों का ज्ञान और बातों के ज्ञान के मुकाबले में बहुत ही कम क़ीमत रखता है। मतलब यह कि इस तरह की शिक्षा से विशेष फ़ायदा नहीं; इस तरह की शिक्षा की विशेष योग्यता नहीं। तो, इससे यह साबित है कि किसी शिक्षा, विद्या या ज्ञान की योग्यता का निश्चय करने में प्रत्यक्ष रीति से, अथवा किसी दूसरे ढंग या पर्य्याय से, सब लोग इसी कसौटी को काम में लाते हैं।

६—जीवन को पूरे तौर पर सार्थक करने योग्य शिक्षा की ज़रूरत।

हम लोगों के लिए सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि—"किस तरह हमें जीवन निर्वाह करना चाहिए?" "किस तरह हमें ज़िंदगी बसर करनी चाहिए?" जीवन-निर्वाह करने से सिर्फ़ शरीर—सम्बन्धिनी बातों ही से मतलब नहीं—अर्थात् इसका सिर्फ़ यही अर्थ नहीं कि हमें किस तरह बैठना चाहिए, किस तरह उठना चाहिए, किस तरह रहना चाहिए—नहीं, इसका अर्थ बहुत व्यापक है। हमें ऐसा सर्व-व्यापक सिद्धान्त ढूँढ़ निकालना चाहिए जो सब तरह के सामाजिक सिद्धान्तों का--सब तरह की सामाजिक बातों का—नियमन कर सके; अर्थात् जो सब बातों में आदर्श का काम देसके। ऐसेही सिद्धान्त को सामने रखकर, हमें, हर हालत में, हर बात का फ़ैसिला करना चाहिए। अत्यन्त व्यापक और अत्यन्त महत्व की बात यह है कि हम कोई ऐसा सिद्धान्त निकालें जिसको आदर्श मान कर हम इस बात का निश्चय कर सकें कि हम

अपने शरीर को किस तरह रक्खें; हम अपने मन को किस तरह रक्खें; हम अपने कारोबार का किस तरह प्रबन्ध करें; हम अपने बाल-बच्चों का किस तरह पालन-पोषण करें; सब लोगों से सम्बन्ध रखने वाले, अर्थात् सार्वजनिक कामों के विषय में हम किस तरह का बर्ताव करें; सुख के जो साधन हममें स्वाभाविक हैं, अर्थात् जिनको हमने प्रकृति से पाया है, उनका हम सुख-प्राप्ति के कामों में किस तरह उपयोग करें, और हममें जितनी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ हैं उन्हें हम किस तरह काम में लावें कि उनसे हमें भी, और दूसरों को भी, सबसे अधिक फ़ायदा पहुँचे। मतलब यह कि हमें किस तरह रहना चाहिए कि हमारा जीवन—हमारी ज़िन्दगी—पूरे तौर पर सार्थक हो जाय। यही अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त है। यही सबसे अधिक महत्व की बात है। जब इसका जानना हमारे लिए सबसे अधिक ज़रूरी है तब इससे यह नतीजा निकलता है कि शिक्षा से हमें यही बात मालूम होनी चाहिए। क्योंकि यही सबसे बड़ी बात है। और यदि ऐसी बड़ी बात शिक्षा से न मालूम होगी तो होगी किससे ? शिक्षा का सबसे बड़ा काम यही है कि जीवन को अच्छी तरह सार्थक करने के लिए जिस तरह के बर्ताव या व्यवहार की ज़रूरत है उस तरह के बर्ताव या व्यवहार की योग्यता को वह मनुष्य में पैदा कर दे। अर्थात् उसकी मदद से मनुष्य में वह योग्यता आ जानी चाहिए जिससे वह अपनी ज़िन्दगी को पूरे तौर पर सार्थक कर सके। अतएव किसी शिक्षा की योग्यता या अयोग्यता का फ़ैसिला करते समय—उसके विषय में राय देते समय—इस बात का विचार किया जाना चाहिए कि कहाँ तक वह शिक्षा इस मतलब को पूरा करती है। इस बात की जाँच का सिर्फ़ यही एक माक़ूल तरीक़ा है—सिर्फ़ यही एक प्रशस्त प्रणाली है।

१०—सब तरह की शिक्षाओं की उपयोगिता का निश्चय करने में विशेष सावधानता की ज़रूरत।

शिक्षा की योग्यता की जाँच के लिए जो कसौटी काम में लानी चाहिए उसका उपयोग, आज तक, किसी ने पूरे तौर पर नहीं किया। और कभी किसी ने किया भी है तो बहुत ही थोड़ा—सो भी यह समझ कर नहीं कि इस तरह की जाँच के लिए यही सच्ची कसौटी है। जिस किसी ने

इसका उपयोग, किसी अंश में, किया है वेसमझे बूझे किया है। इस कसौटी को समझ-बूझ कर काम में लाना चाहिए, नियमपूर्वक काम में लाना चाहिए; और हर हालत में, हर तरह की शिक्षा के सम्बन्ध मे, पूरे तौर पर काम में लाना चाहिए। हमको चाहिए कि हम हमेशा इस बात को, साफ़ तौर पर, अपनी आँखों के सामने रक्खें कि शिक्षा के द्वारा जीवन की सार्थकता करना ही हमारा उद्देश है—हमारा अभीष्ट है—हमारा मक़सद है। इसी उद्देश को अच्छी तरह ध्यान में रख कर हमें अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करना चाहिए और इस बात का निश्चय ख़ूब सावधानी से कर लेना चाहिए कि उनको किन किन विषयों की और किस तरह शिक्षा देना मुनासिब है। इसी निश्चय के अनुसार हर आदमी को काम करना चाहिए। शिक्षा के विषय मे सिर्फ़ इस बात की ख़बरदारी रखने से काम नहीं चल सकता कि जिस तरह की शिक्षा हम अङ्गीकार करते हैं वह इस समय प्रचलित है या नहीं। लोक-रीति के अनुसार प्रचलित शिक्षा को अङ्गीकार कर लेना भी क्या कोई बुद्धिमानी की बात है? बहुत से आदमी ऐसे हैं जो हानि-लाभ का विचार न करके सिर्फ़ लोक-रीति का विचार करते हैं। शिक्षा की वर्तमान रीति को वे जैसा कबूल कर लेते हैं वैसे ही यदि और कोई रीति प्रचलित होती तो वे उसे भी ख़ुशी से कबूल कर लेते। इस तरह अन्धपरम्परा की नक़ल करना सर्वथा अनुचित और अग्राह्य है। हमको चाहिए कि किसी शिक्षा की योग्यता की जाँच करते समय हम उन लोगों की भी नक़ल न करें जो अपने बाल-बच्चों की शिक्षा की कुछ अधिक परवा करते हैं, जो उस विषय में कुछ अधिक विचार करते हैं; जो औरों की अपेक्षा कुछ अधिक बुद्धिमानी से काम लेते हैं। ऐसे लोगों की विचार-परम्परा भद्दी होती है; अपने विचारों में वे सिर्फ़ तजरिबे का ख़याल रखते हैं। सिर्फ़ दो चार ऊपरी बातों की देख-भाल करके वे अपने सिद्धान्त स्थिर कर लेते हैं। इससे ऐसे आदमियों की विचार-रीति भी निर्दोष नहीं होती। अतएव उस रीति की नकल करना भी अनुचित है; उसका अनुसरण करने मे भी हानि है। हमको चाहिए कि हम इस तरह के लोगों की विचार-परम्परा से भी अधिक प्रशस्त और लाभदायक विचार-परम्परा से काम लें। सिर्फ़ इस बात का ख़याल कर लेना काफ़ी नहीं कि अमुक शिक्षा या अमुक विद्या से आगे फ़ायदा होगा, अर्थात् सांसारिक

व्यवहारों मे आगे उसका उपयोग होगा; अथवा काम-काज के सम्बन्ध में, अमुक शिक्षा या अमुक विद्या, अमुक शिक्षा या अमुक विद्या से अधिक लाभदायक है। नहीं, हमको चाहिए कि हम कोई ऐसा तरीक़ा ढूंढ़ निकालें जिससे हमें यह मालूम हो जाय कि कौनसी शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है और एक दूसरी के मुक़ाबले में किस शिक्षा की कितनी क़ीमत है। ऐसा करने ही से हम यथासम्भव इस बात को ठीक ठीक जान सकेंगे कि किन किन शिक्षाओं की तरफ़ हमे सबसे अधिक ध्यान देना मुनासिब है।

११—सब तरह की शिक्षाओं की न्यूनाधिक उपयोगिता का निश्चय करने में कठिनाइयाँ।

इसमे संदेह नहीं कि यह बहुत कठिन काम है। शायद इसमें पूरी पूरी कामयावी होही नहीं सकती। बहुत सम्भव है कि इसे करने के इरादे से कमर कसनेवालों से यह पूरे तौर पर होही न सके। परन्तु जिस उद्देश से यह करना है वह बहुत बड़े महत्त्व का है। अतएव इस विषय में कमर न कसने से जब उस उद्देश सेही हाथ धो बैठने का डर है तब सिर्फ़ कठिनाई के ख़याल से चुप चाप बैठा रहना निरा कायरपन है—निरी नामर्दी है। ऐसे मामलों में समझदार आदमी हाथ पैर समेट कर चुपचाप नहीं बैठते; किन्तु अपने मतलब को हल करने के इरादे से वे और भी अधिक जान लड़ा कर काम करते हैं और उसकी सिद्धि के प्रयत्न में कोई बात उठा नहीं रखते। बात यह है कि नियमानुसार उचित रीति से काम करना चाहिए। उचित रीति से—माक़ूल तरीक़े से—यदि सब बातों का विचार किया जाय तो हमारा बहुत कुछ काम हो सकता है।

१२—महत्त्व के अनुसार बड़े बड़े सांसारिक कामों के पाँच विभाग।

हमारा पहला काम यह होना चाहिए कि संसार में आदमी को जितने बड़े बड़े काम करने पड़ते हैं उन सबके हम विभाग कर दें, अर्थात् जुदा जुदा दरजों में हम उनको बाँट दें। पर ऐसा करने में हमें उनके महत्त्व का ख़याल रखना चाहिए। मतलब यह कि जो काम जितना ज़रूरी है—जो काम जितने महत्त्व का है—उसका दरजा भी उसी हिसाब

से नियत होना चाहिए। स्वाभाविक रीति से इन कामों के दरजे इस तरह नियत किये जा सकते हैं:—

(१) वे काम जो प्रत्यक्ष रीति से आत्मरक्षा में मदद देते हैं; अर्थात् जिनका एक मात्र उद्देश यह रहता है कि उनकी मदद से मनुष्य अपनी प्राणरक्षा करसके।

(२) वे काम जो निर्वाह के लिए आवश्यक बातों को प्राप्त कराकर, परोक्ष रीति से, मनुष्य की जीवन-रक्षा में मदद देते हैं।

(३) वे काम जो सन्तान के पालन, पोषण और शिक्षण इत्यादि से सम्बन्ध रखते हैं; अर्थात् लड़कों के पालने-पोसने और उनको पढ़ाने-लिखाने की ग़रज़ से जिनको करना पड़ता है।

(४) वे काम जो समाज और राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाली उचित बातों को यथास्थित रखने के लिए किये जाते हैं; अर्थात् समाजनीति और राजनीति की उचित व्यवस्था को बिगड़ने से बचाने के लिए जिनके करने की जरूरत होती है।

(५) वे फुटकर काम जिन्हें लोग और बातों से फ़ुरसत पाने पर मनोरञ्जन के लिए करते हैं।

१३—आत्मरक्षा के ज्ञान की प्रधानता।

संसार में आदमी को जो काम करने पड़ते हैं वे इस तरह पाँच हिस्सों में बाँटे जा सकते हैं। इन पाँचों हिस्सों का क्रम यथासम्भव अपने अपने महत्त्व के अनुसार रक्खा गया है। यह बात देखने के साथ ही ध्यान में आ सकती है। इसके लिए अधिक विचार करने, या प्रमाण देने, की विशेष ज़रूरत नहीं। यह बात स्पष्ट है कि अपने जीवन की रक्षा के लिए हम लोग हर घड़ी जो काम करते हैं—अपने जीवन को आपदाओं से बचाने के लिए हम लोग हर घड़ी जो काम पहले ही से सोच रखते हैं—उन्हींको पहला दरजा देना चाहिए; क्योंकि उन्हीं का महत्त्व सबसे अधिक है। यह कौन नहीं जानता? ऐसा कौन है जो इस बात को न क़बूल करेगा? यदि कोई आदमी यहाँ तक नादान होता कि एक छोटे बच्चे की तरह वह अपने आस-पास की चीज़ों से जानकारी न रखता और उनके हिलने-डुलने का मतलब न समझता, अर्थात् वह यह न जानता कि उनसे

उसे क्या हानि होनी सम्भव है और उससे बचने का क्या उपाय है, तो पहली ही बार, घर के बाहर बाज़ार में पैर रखते ही, बहुत करके, उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ता; फिर चाहे और विषयों में उसने कितनी ही विद्वत्ता और जानकारी क्यों न प्राप्त की हो। कोई चाहे कितना ही प्रचण्ड पण्डित क्यों न हो, पर यदि वह इस बात को न जानता होगा कि सामने से आती हुई गाड़ी का रास्ता छोड़ कर मुझे एक तरफ़ हो जाना चाहिए, तो वह उसके नीचे दब कर तुरन्त ही अपने प्राण खो बैठेगा, और उसकी और बातों की विद्वत्ता रक्खी ही रह जायगी। इससे यह निर्विवाद है कि और बातों की जानकारी के सर्वथा अभाव से जितनी हानि हो सकती है, प्राण-रक्षा की बातों की जानकारी के सर्वथा अभाव से उससे बहुत अधिक हानि हो सकती है। इससे साफ़ जाहिर है कि जिस ज्ञान से—जिस शिक्षा से—मनुष्य के जीवन की प्रत्यक्ष रक्षा हो उसकी योग्यता सबसे अधिक है।

१४—निज-निर्वाह-सम्बन्धी ज्ञान को दूसरे दरजे में रखने का कारण।

प्रत्यक्ष प्राण-रक्षा के ज्ञान के बाद दूसरा दरजा परोक्ष प्राणरक्षा के ज्ञान का है। परोक्ष प्राण-रक्षा का ज्ञान वह ज्ञान है जिसकीमदद से मनुष्य का जीवन-निर्वाह होता है। ज़िन्दा रहने के लिए— ज़िन्दगी क़ायम रखने के लिए—अप्रत्यक्ष किंवा परोक्ष तौर पर जिन साधनों की ज़रूरत होती है उन साधनों के ज्ञान को दूसरे दरजे का ज्ञान समझना चाहिए। इस बात को भी सब लोग बिना प्रतिवाद के—बिना किसी एतराज़ के— क़बूल करेंगे। सन्तान का पालन-पोषण करना, उसे शिक्षा देना इत्यादि, माँ-बाप का जो कर्तव्य है उसका विचार, साधारण रीति पर, अपने निज के निर्वाह के विचार के बाद किया जाना चाहिए, पहले नहीं। क्योंकि यदि माँ-बाप ज़िन्दा ही न रहेंगे– उनके जीवन का निर्वाह ही न होगा— तो वे अपने बाल-बच्चों के भरण-पोषण और शिक्षण का प्रबन्ध करेंगे किस तरह ? सन्तान के पालन की शक्ति ख़ुद अपने पालन की शक्ति पर अवलम्बित रहती है। अपना पालन करके—अपना जीवन-निर्वाह करके—जब तक मनुष्य विवाह करने के योग्य न होगा तब तक सन्तान की शिक्षा आदि

का ज्ञान न होने से भी काम चल सकता है। इससे साबित है कि जो ज्ञान अपने ज़िन्दा रहने के लिए दरकार है वह कुटुम्ब की रक्षा और उसके निर्वाह के लिए अपेक्षित ज्ञान से अधिक ज़रूरी है। अतएव इस ज्ञान को दूसरे ही दरजे में रखना मुनासिब है। इसकी क़ीमत पहले दरजे के ज्ञान से ज़रूर कम है, पर तीसरे दरजे के ज्ञान से अधिक।

१५—बाल-बच्चों के पालन, पोषण और शिक्षण से सम्बन्ध रखनेवाली बातें सामाजिक और राजकीय बातों से अधिक महत्त्व की हैं।

पुत्र, कलत्र आदि कुटुम्बियों के पालन-पोषण से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञान का तीसरा नम्बर है। राजकीय बातों के ज्ञान से इस ज्ञान की महिमा अधिक है। इसका कारण यह है कि देश, राष्ट्र या राज्य की कल्पना कुटुम्ब की व्यवस्था की कल्पना के बाद होती है। राज्यव्यवस्था चाहे हो चाहे न हो, उसके बिना भी कुटुम्ब की व्यवस्था हो सकती है। परन्तु कुटुम्ब के न होने से राज्य की स्थापना ही नहीं हो सकती, सुव्यवस्था तो दूर रही। अर्थात् बाल-बच्चों की परवरिश और शिक्षा राज्य-व्यवस्था के अस्तित्व में आने के पहले भी हो सकती है और राज्य-व्यवस्था के अस्तित्व का लोप होजाने के बाद भी हो सकती है। परन्तु यदि बाल-बच्चों की परवरिश न हो—यदि उनको शिक्षा न दी जाय—तो राज्य-व्यवस्था हो ही नहीं सकती। इससे स्पष्ट है कि राजकीय और सामाजिक बातों का ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा कुटुम्ब-पालन का ज्ञान प्राप्त करना अधिक जरूरी है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में एक बात और कही जा सकती है—एक दलील और पेश की जा सकती है। वह यह है, कि समाज की भलाई जुदा जुदा हर आदमी की भलाई पर अवलम्बित है; और लड़कपन की शिक्षा से मनुष्य जितना गुणवान् और सदाचरणशील हो सकता है उतना और किसी तरह से नहीं हो सकता। लड़कपन की शिक्षा से मनुष्य का स्वभाव इस तरह का हो जाता है कि आगे उसे जिस तरफ़ झुकाना चाहो उस तरफ़ वह सहज ही झुक जाता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि कुटुम्ब की भलाई समाज की भलाई का आधार है। अगर कुटुम्ब अच्छा नहीं तो समाज कभी

अच्छा नहीं हो सकता। अतएव यह सिद्ध है कि बाल-बच्चों के पालन, पोषण और शिक्षण आदि की तरफ़ पहले ध्यान देना चाहिए, सामाजिक और राजकीय बातों की तरफ़ पीछे। अर्थात् सामाजिक और राजकीय बातों के ज्ञान की अपेक्षा कुटुम्ब की भलाई से सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान अधिक महत्त्व का है. इसीसे कुटुम्ब-विषयक ज्ञान को तीसरे और राजकीय तथा सामाजिक ज्ञान को चौथे दरजे में रखना मुनासिब है।

१६—मनोरञ्जन से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का दरजा समाज को उन्नत करनेवाली बातों से कम है।

विशेष महत्त्व के काम हो चुकने पर जो समय बचता है उसमें मनोरञ्जन, अर्थात् आमोद-प्रमोद, के काम होते हैं। गाना, बजाना, कविता और चित्र-कला आदि की गिनती मनोरञ्जक कामों में है। इस तरह के मनोरञ्जक काम—इस तरह के आमोद-प्रमोद के व्यवसाय—समाज की स्थापना होने के बाद अस्तित्व में आते हैं। अर्थात् समाज की व्यवस्था हो चुकने पर लोगों का ध्यान खेल-कूद के द्वारा मनोरञ्जन करने की तरफ़ जाता है। समाज की व्यवस्था हो चुकने पर इन कलाओ का विकास होता है। यही नहीं कि समाज को बन चुके बहुत दिन हुए बिना इन कला-कौशलो का विशेष विकास ही न होता हो, किन्तु उनके लिए विषय ही नहीं मिल सकता। क्योंकि सामाजिक सहानुभूति और सामाजिक भावों की विशेष सहायता लिए बिना गाने, बजाने, कविता करने और चित्र बनाने आदि के लिए विषयों का मिलना ही असम्भव है। बिना सामाजिक व्यवस्था के इन कलाओं की उन्नति ही नहीं हो सकती—इन बातों की तरक़्क़ी ही नहीं हो सकती। इतना ही नहीं किन्तु जो भाव और जो विचार इन कलाओ के द्वारा प्रकट किये जाते हैं वे भी समाज ही की बदौलत मिलते हैं। यदि समाज सुव्यवस्थित न होता तो जिन बातों का वर्णन रामायण, महाभारत और रघुवंश आदि मे हुआ है वे विषय ही इन ग्रन्थों के बनाने-वालों को न मिलते। यही दशा गाने, बजाने और चित्र-कला की भी है। यदि समाज की स्थापना न होती तो न रविवर्म्मा को चित्र बनाने के लिए विषय-सामग्री मिलती और न "बनारसी" को लावनी कहने के लिए। इस से यह सिद्ध है कि अच्छे समाज का अंश होने के लिए मनुष्य को जिन

बातों की ज़रूरत होती है वे बातें उनकी अपेक्षा अधिक महत्त्व की हैं जिनकी ज़रूरत मनोरञ्जन के लिए मनुष्य को होती है। हँसी-दिल्लगी, आमोद-प्रमोद और ऐशो-आराम से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का उत्कर्ष होने के पहले मनोरञ्जन कलाओं का उत्कर्ष नहीं हो सकता। अतएव जिस शिक्षा से मनुष्य समाज को उन्नत बनाने में समर्थ होता है उसका दरजा मनोरञ्जन-विषयक शिक्षा से बढ़ कर है।

१७—सांसारिक कामों के पाँच महा-विभागों की पुनरुक्ति।

इस तरह मनुष्य के जीवन से जिन व्यवसायों का सम्बन्ध है वे पाँच हिस्सो में बाँटे जा सकते हैं। अपने अपने महत्त्व, उपयोग या जरूरत के अनुसार उनका क्रम ऊपर वर्णन किये गये क्रम के अनुसार है। उसी क्रम को हम यहाँ पर दोहराते हैं, अर्थात् यह दिखलाते हैं कि हर एक व्यवसाय की शिक्षा का दरजा, अपने अपने महत्त्व के अनुसार, किस क्रम से होना चाहिए:—

(१) जो शिक्षा मनुष्य को प्रत्यक्ष रीति से अपनी रक्षा के लिए योग्य बनाती है वह पहले दरजे की है।

(२) जो शिक्षा मनुष्य को परोक्ष रीति से (अर्थात् अप्रधान साधनों के द्वारा) अपनी रक्षा के लिए योग्य बनाती है वह दूसरे दरजे की है।

(३) जो शिक्षा मनुष्य को माता-पिता के कर्तव्य पालन करने के योग्य बनाती है वह तीसरे दरजे की है।

(४) जो शिक्षा मनुष्य को समाज-सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन करने के योग्य बनाती है वह चौथे दरजे की है।

(५) जो शिक्षा मनुष्य को मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद से सम्बन्ध रखने वाली बातें करने के योग्य बनाती है वह पाँचवें दरजे की है।

१८—सब तरह की शिक्षाओं के नाम और दरजे की पुनरावृत्ति और उनका परस्पर सम्बन्ध।

हमारा मतलब यह नहीं कि ये हिस्से, ये दरजे, ये विभाग बिलकुल ही ठीक हैं। अर्थात् हम यह नहीं कहते कि ये एक दूसरे से कुछ भी

सम्बन्ध नहीं रखते। नहीं, बारीक विचार करने से इनमें परस्पर थोड़ा बहुत सम्बन्ध ज़रूर मालूम होता है। हम इस बात को क़बूल करते हैं कि इनमें परस्पर सङ्कर है—ये बहुत ही पेचीदा तौर पर एक दूसरे से मिले हुए हैं। यह बिलकुल ही सम्भव नहीं कि कोई आदमी किसी एक प्रकार की शिक्षा का ज्ञान प्राप्त करे और उसे बाक़ी सब प्रकार की शिक्षाओं का थोड़ा बहुत ज्ञान न हो जाय। सब तरह की शिक्षाओं का जो क्रम ऊपर दिया गया है—जो तरतीब ऊपर दी गई है—उसमें अपने अपने दरजे के महत्त्व का ख़याल रक्खा गया है। यह बात हम पहले ही कह चुके हैं। पर इस क्रम के विषय मे भी हम यह क़बूल करते हैं कि कभी कभी पीछे के दरजों की शिक्षाओं की कोई कोई बात उन दरजों के पहले स्थान पाये हुए दरजों की शिक्षाओं की किसी किसी बात से अधिक महत्त्व की मालूम होगी। उदाहरणार्थ, एक आदमी व्यापार-धन्धा करके रुपया पैसा कमाने की ख़ूब योग्यता रखता है; पर और कोई योग्यता उसमें नहीं है। दूसरा आदमी एक ऐसा है कि रुपया पैदा करने की योग्यता तो उसमे विशेष नहीं है; पर बाल-बच्चों के पालन, पोषण और शिक्षण में वह बहुत कुशल है। अब, शिक्षाओं का जो क्रम ऊपर दिया गया है उसके अनुसार धनोपार्जन का महत्त्व यद्यपि बाल-बच्चों के भरण, पोषण आदि के महत्त्व से अधिक है, तथापि सब बातों का विचार करने से पहले की अपेक्षा, दूसरे ही मनुष्य की योग्यता अधिक माननी पड़ेगी। इसी तरह जो आदमी सामाजिक बातों का पूरा पूरा ज्ञान रखता है, पर साहित्य और ललित (अर्थात् मनोरञ्जक) कलाओं का नाम तक नहीं जानता उसकी अपेक्षा ऐसे आदमी की योग्यता अधिक है जो सामाजिक बातों का साधारण ज्ञान रखकर साहित्य और ललित-कलाओं से भी कुछ कुछ परिचित है। इन सब बातों का विचार करने के बाद भी, अर्थात् जुदा जुदा दरजे के आदमियों की योग्यता का निश्चय करते समय इन बातों पर ध्यान देने पर भी. शिक्षा के पूर्वोक्त पाँचों दरजों में फिर भी बहुत कुछ भेद रह जाता है। स्थूल दृष्टि से देखने से यह मानना ही पड़ता है कि ये दरजे—ये विभाग—बहुत ठीक हैं और इनका क्रम भी, महत्त्व या जरूरत के ख़याल से, ठीक है। क्योंकि जिस शिक्षा को जो दरजा दिया गया है वह शिक्षा, संसार में, उसी दरजे के अनुसार प्राप्त हो सकती है। अर्थात् जगत् मे मनुष्य के जीवन का जो क्रम है शिक्षा का भी

वही क्रम रक्खा गया है। शिक्षा के इन पाँच दरजों के मुक़ाबले में जिन्दगी के भी पाँच दरजे हैं। अतएव इन्हीं दरजों के अनुसार इस तरह की पंच-विभागात्मक शिक्षा का होना सम्भव है।

१६—ज़रूरत का ख़याल रखकर जुदा जुदा तरह की शिक्षा की प्राप्ति में न्यूनाधिकता का विचार।

इसमें सन्देह नहीं कि सब तरह की शिक्षा में पूर्णता प्राप्त करने—कमाल हासिल करने—ही का नाम सर्वोत्तम शिक्षा है। शिक्षा के जितने विभाग हैं, उसकी जितनी शाखायें हैं, उन सबको पूरे तौर पर जान लेना ही आदर्श शिक्षा है। पर इस समय हम लोगों की हालत ऐसी है कि पूर्ण शिक्षा का मिलना सम्भव नहीं। तथापि, इस दशा में भी, किसी न किसी तरह की शिक्षा में, हर आदमी को थोड़ी बहुत कामयाबी ज़रूर होती है। इससे हमारा मुख्य कर्तव्य यह होना चाहिए कि, महत्त्व और ज़रूरत का ख़याल रखकर, शिक्षा की सब शाखाओं को हम योग्य परिमाण में सीखें। एकही व्यवसाय की शिक्षा प्राप्त करने से काम नहीं चल सकता। शिक्षा की कोई शाखा कितने ही महत्त्व की क्यों न हो, उसमें पराकाष्ठा की प्रवीणता प्राप्त करने मे अपना सारा समय ख़र्च कर देना मुनासिब नहीं। और न यही मुनासिब है कि शिक्षा की दो, तीन या चार बहुत ज़रूरी शाखाओं ही के सीखने में आदमी अपना सब समय खर्च कर दे। उससे भी विशेष फ़ायदा नहीं। महत्त्व का ख़याल रखकर सब तरह की शिक्षा प्राप्त करना हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए। जो शिक्षा सबसे अधिक महत्त्व की हो उस पर सबसे अधिक, जो कम महत्त्व की हो उस पर कम, और जो सबसे कम महत्त्व की हो उस पर सबसे कम ध्यान देना मुनासिब है। इस बात को न भूलना चाहिए कि कोई कोई आदमी ऐसे भी होते हैं जो किसी विशेष प्रकार की शिक्षा में अधिक रुचि रखते हैं, अर्थात् उसे प्राप्त करने की योग्यता उनमें अधिक होती है। और वह योग्यता उस शिक्षा को उनके जीवन-निर्वाह की एक मात्र आधार बना देती है। ऐसे आदमियों को तो इस तरह की विशेष शिक्षा में सबसे अधिक प्रवीण होना ही चाहिए। पर औसत दरजे के आदमियों के लिए ऐसी शिक्षा की ज़रूरत है जिसकी मदद से वे अपने जीवन को यथासम्भव पूरे तौर पर सार्थक कर सकें। अर्थात् जीवन की

सार्थकता में शिक्षा की जिन शाखाओं से जितनी ही अधिक मदद मिलने की आशा हो उनकी तरफ़ उतना ही अधिक ध्यान देना मुनासिब है और जिनसे जितनी ही कम मदद मिलने की आशा हो उनकी तरफ़ उतना ही कम।

२०—उपयोग और महत्त्व के अनुसार ज्ञान के तीन विभाग, उनके लक्षण और उदाहरण।

इस तरह शिक्षा की व्यवस्था करने में और भी कई बातों का ख़याल रखना उचित है। जीवन को पूरे तौर पर सार्थक करने में मदद देनेवाली शिक्षा या तो आवश्यक होती है या थोड़ी बहुत आकस्मिक अर्थात् अनिश्चित। ज्ञान के तीन भेद हैं—नित्य, नित्यप्राय और लौकिक। जिसका उपयोग सदा और सब कहीं होता है वह नित्य, जिसका उपयोग सार्वकालिक और सार्वत्रिक न होकर किसी विशेष प्रकार के ही लोगों को होता है वह नित्यप्राय, और जिसका उपयोग कुछही लोगों को होता है और आज होता है कल नहीं होता—अर्थात् जो लोकाचार और रूढ़ि पर अवलम्बित रहती है—वह लौकिक है। जिसे पक्षाघात अर्थात् फ़ालिज होने वाला है उसका शरीर पहले सुन्नसा होजाता है और कँपने लगता है। जो चीज पानी के प्रवाह में पड़कर बहती है उसके बहने के वेग के वर्ग के अनुसार उसे पानी का प्रतिबन्ध होता है। गैस की तरह की क्लोराइन नामक वस्तु छुवाछूत से पैदा होनेवाले रोग नाश करती है। ये, और साधारण तौर पर विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं वे सब, नित्यज्ञान की परिभाषा के भीतर हैं। मनुष्यों के जीवन-सम्बन्धी व्यवहारो पर इनका इस समय जैसा असर होता है आज से दस हज़ार वर्ष बाद भी वैसा ही असर होगा। लैटिन और ग्रीक भाषाओं के जानने से अंगरेज़ी भाषा मे अधिक पारदर्शिता हो जाती है। इसी तरह संस्कृत भाषा की शिक्षा से हिन्दी के, अथवा संस्कृत से सम्बन्ध रखनेवाली बँगला, मराठी आदि भाषाओं के, ज्ञान की वृद्धि होती है। परन्तु इस ज्ञान का उपयोग सदा सब लोगों को नहीं होता, अर्थात् जब तक ये भाषायें हैं तभी तक इनका उपयोग भी होता है। इसके सिवा जिन लोगों की भाषा अंगरेज़ी, हिन्दी, मराठी या बँगला नहीं है उनको इनसे कुछ भी

लाभ नहीं। अतएव इस तरह का ज्ञान नित्यप्राय है। मतलब यह कि ऐसा ज्ञान एकदेशीय है। यद्यपि इसका उपयोग चिरकाल तक होता है, तथापि अनन्त काल तक नहीं। इसीसे इस ज्ञान को नित्यप्राय ज्ञान की कक्षा के भीतर समझना चाहिए। आज कल पाठशालाओं में इतिहास के नाम से जो शिक्षा दी जाती है वह लौकिक ज्ञान का उदाहरण है। जिसे लोग इतिहास कहते हैं वह सिर्फ़ नाम, सन्, संवत्, तारीख़ और ऐसीही अनेक मुर्दा और अर्थहीन बातों का बखेड़ा है। उसका एकमात्र आधार लोकाचार, अर्थात् रूढ़ि है, और कुछ नहीं। व्यावहारिक बातों से उसका ज़रा भी सम्बन्ध नहीं। इतिहास की शिक्षा सिर्फ़ इस मतलब से दी जाती है कि यदि ऐतिहासिक घटनायें कण्ठ न होंगी तो लोग हँसेंगे। बस इस हँसी से बचने—लोकाचार के दासानुदासों की समालोचनाओं से अपनी रक्षा करने-के ही इरादे से लोग इतिहास पढ़ते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिस ज्ञान या जिस शिक्षण का उपयोग सदा सब लोगों को होता है वह, उस ज्ञान या उस शिक्षण से अधिक महत्त्व का है जिसका उपयोग थोड़े ही लोगों को सिर्फ़ एक नियमित समय तक ही होता है। और जिस ज्ञान का उपयोग बहुत ही थोड़े आदमियों को, जब तक कोई विशेष प्रकार का लोकाचार है तभी तक, होता है उसकी अपेक्षा सदा और सब लोगों को उपयोगी होनेवाले ज्ञान का महत्त्व तो बहुत ही अधिक है। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि, यदि बाक़ी और सब बातें अनुकूल हों तो, सब तरह के ज्ञान का यथायोग्य विभाग करने में नित्यज्ञान को पहला, नित्यप्राय ज्ञान को दूसरा, और लौकिक ज्ञान को तीसरा स्थान देना मुनासिब है। प्रत्येक ज्ञान के उपयोग या महत्त्व के अनुसार उनका उचित क्रम यही है-उनकी ठीक तरतीब यही है।

२१—शिक्षा से दो लाभ—एक ज्ञान-लाभ दूसरा उपदेश-लाभ।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी कहनी है। प्रत्येक प्रकार की शिक्षा से दो लाभ हैं—एक ज्ञान-लाभ, दूसरा चरित्र-गठन या उपदेश-लाभ। अर्थात् जिस विषय की शिक्षा दी जाती है उससे उस विषय का ज्ञान भी प्राप्त होता है और सांसारिक व्यवहारों के सम्बन्ध में उपदेश भी मिलता है। हर तरह की शिक्षा से सांसारिक व्यवहारों को सुचारुरूप से चलाने में भी मदद मिलती है; यही नहीं कि उससे सिर्फ़ बुद्धि ही बढ़ती हो। जैसा ऊपर

कहा जा चुका है, शिक्षा वह चीज़ है जिसके द्वारा मनुष्य अपना जीवन पूरे तौर पर सार्थक करने में समर्थ हो सके। इससे, शिक्षा से होनेवाले परिणामों का विचार करते समय पूर्वोक्त दोनों प्रकार के लाभों की बात भूलना मुनासिब नहीं। उनका ज़रूर ख़याल रखना चाहिए और शिक्षा-प्राप्ति का ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे दोनों प्रकार के लाभ हो सकें। अतएव शिक्षा के विषयों पर विचार करते समय जिन विशेष व्यापक बातों को ध्यान में रखने की बहुत बड़ी ज़रूरत है वे ये हैं:—

पहली बात—मनुष्य को अपने जीवन-काल में जितने व्यवसाय—काम-काज—करने पड़ते हैं उनके, हर एक व्यवसाय के महत्त्व के अनुसार, दरजे नियत करना।

दूसरी बात—शिक्षा से प्राप्त होनेवाले नित्य, नित्यप्राय और लौकिक ज्ञान का विचार करके यह देखना कि उनसे सब तरह के सांसारिक कामों को मुनासिब तौर पर करने में कहाँ तक मदद मिलेगी।

तीसरी बात—हर तरह की शिक्षा से प्राप्त होनेवाले ज्ञान और चरित्र-गठन-विषयक उपदेश के सम्बन्ध में यह देखना कि व्यावहारिक कामों पर कहाँ तक उनका असर पड़ेगा।

२२—प्रत्यक्ष आत्म-रक्षा की शिक्षा को प्रकृति अर्थात् क़ुदरत ने अपने ही हाथ में रक्खा है।

जिस शिक्षा से प्रत्यक्ष-रूप में आत्मरक्षा-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है वह शिक्षा सबसे अधिक महत्त्व की है। ख़ुशी की बात है, यह शिक्षा बहुत कुछ आपही आप प्राप्त हो जाती है। इसके प्राप्त करने की सामग्री पहले ही से एकत्र कर दी गई है। अत्यन्त महत्त्व का यह ज्ञान हम लोग, अल्पज्ञ होने के कारण, अपने प्रयत्न से अच्छी तरह न प्राप्त कर सकेंगे—यह जान कर इसकी शिक्षा को प्रकृति, अर्थात् क़ुदरत, ने अपने ही हाथ में रक्खा है। किसी अपरिचित आदमी को देखकर, माँ या दाई की गोद में खेलनेवाला दुधपिया बच्चा भी अपना मुँह छिपा लेता है और रोने लगता है। इससे साबित है कि उसे भी इस बात का ज्ञान है कि अपरिचित और

अज्ञात चीज़ों से हानि होने का डर रहता है; अतएव उनसे हमेशा दूर रहना चाहिए। वही बच्चा जब कुछ बड़ा होता है और चलने फिरने लगता है तब अपरिचित कुत्ते को देखकर डर जाता है। इसी तरह चौकन्ना करने वाली कोई आवाज़ सुनते ही, या किसी डरावनी चीज को देखतेही, चिल्ला-कर वह अपनी माँ के पास दौड़ जाता है। यह इस बात का प्रमाण है कि आत्म-रक्षा का ज्ञान पहले की अपेक्षा अब उसमें अधिक हो गया है। आत्म-रक्षा का ज्ञान इतने महत्त्व का है कि उसे प्राप्त करने मे बच्चा हर घड़ी लगा रहता है। अपने बदन को किस तरह सँभालना चाहिए; किसी चीज की ठोकर या रगड़ बचाकर किस तरह चलना फिरना चाहिए: कौनसी चीजें कठोर हैं जिनके धक्के से चोट लगने का डर रहता है; कौनसी चीजें भारी हैं जिनके हाथ पैर पर गिरने से तकलीफ मिलती है; कौनसी चीज़ें बदन का बोझ सँभाल सकती हैं और कौनसी नहीं सँभल सकतीं; आग, शस्त्र और तेज धार के औजारो से कितनी तकलीफ पहुँचती है—ये और ऐसी और भी अनेक बातें, जिनका जानना मृत्यु या किसी दुर्घटना से बचने के लिए बहुत जरूरी है, बच्चा हर घड़ी सीखता रहता है। कुछ साल बाद जब उसके बदन में अधिक शक्ति आ जाती है तब वह उस शक्ति को घर से बाहर निकल कर इधर उधर दौड़ने, उछलने, कूदने, पेड़ इत्यादि पर चढ़ने, बुद्धिमानी और बल की अपेक्षा रखनेवाले खेल खेलने में ख़र्च करता है। इससे उसके बदन की रगें और पट्ठे मज़बूत हो जाते हैं, उसकी बुद्धि तेज हो जाती है और उसकी विचार-शक्ति में भी तीव्रता आ-जाती है। प्रकृति की प्रेरणा से ये सब बातें हमको इस काम के लिए तैयार करती हैं कि अपने आस-पास की चीजों और आस-पास की हलचल से अपने बदन की किस तरह रक्षा करनी चाहिए, और उन बड़ी बड़ी दुर्घट-नाओ से किस तरह बचना चाहिए जिनका सामना बहुधा हर आदमी को अपनी जिन्दगी में करना पड़ता है। इस तरह का ज्ञान बिना किसी के सिखलाये ही हमको प्राप्त हो जाता है। इस बहुत जरूरी ज्ञान की शिक्षा का भार जब ख़ुद प्रकृति ही ने अपने ऊपर ले लिया है, और उसे सिखलाने का प्रबन्ध भी जब उसने ख़ुदही इतनी अच्छी तरह से कर दिया है तब उसकी प्राप्ति के लिए यदि हम कोई यत्न न करें तो भी चिन्ता नहीं। हमें सिर्फ़ इस बात का ख़याल रखना चाहिए कि इस तरह की प्राकृतिक शिक्षा

मिलने का मौक़ा बच्चों को मिलता रहे और तजरिबे से प्राकृतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके खेलने-कूदने के क्रम में बाधा न आने पावे। खेल कूद के द्वारा आत्म-रक्षा की शिक्षा में विघ्न डालना मुनासिब नहीं। इंगलैंड मे नादान अध्यापिकायें या कुटुम्ब की बडी बूढ़ी स्त्रियाँ लड़कियों को, आपही आप पैदा हुई, खेलने-कूदने की इच्छा पूरी करने से रोक देती हैं। इसका फल यह होता है कि लड़कियाँ, किसी तरह का भय उपस्थित होने, या दुर्घटना का मौक़ा आने, पर अपनी रक्षा अच्छी तरह नहीं कर सकतीं। हिन्दुस्तान में भी अमीर आदमियों के लड़कों के खेल-कूद में बहुधा बाधा आती है। इस कारण भयानक प्रसंग आने पर वे बेतरह घबरा जाते हैं।

२३—प्रत्यक्ष आत्मरक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञान का एक और प्रकार।

यह न समझना चाहिए कि जो शिक्षा आदमी को अपने आप अपनी रक्षा करने के लिए तैयार करती है उसमें सिर्फ़ वही बातें शामिल हैं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। नहीं, ऐसा हरगिज़ न समझना चाहिए। उस तरह अपघातों और दुर्घटनाओं से बचने के सिवा और कारणों से होनेवाली हानियों से भी अपने को बचाने की शक्ति हममे होनी मुनासिब है। शस्त्र या औज़ार के आघात से अपने बदन को बचाने की युक्ति तो हमें आनी ही चाहिए; पर इसके सिवा, आरोग्य-रक्षा के नियमों का पालन न करने से बीमारी पैदा होने या अकाल ही में मरने का जो डर रहता है उससे भी बचने का हमें ज्ञान होना चाहिए। अपने जीवन को पूरे तौर पर सार्थक करने के लिए सब तरह के आघातों और अपकारों से शरीर की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। इससे, किसी दुर्घटना के कारण एकाएक आनेवाली मौत से अपने को बचा लेने ही से कृतार्थता मान लेना मनुष्य को मुनासिब नहीं। आकस्मिक मौत से बच जाने ही से क्या जन्म सार्थक हो सकता है? नहीं, मूर्खता और नादानी से पैदा होनेवाली उन आदतों से भी हमें बचना चाहिए जिनके कारण शरीर मे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होकर उसे धीरे धीरे यहाँ तक अशक्त कर देते हैं कि फिर वह अच्छी तरह काम करने के लायक़ नहीं रह जाता। बिना शरीर के नीरोग और सशक्त रहे किसी काम का अच्छी तरह होना सम्भव नहीं—चाहे वह

काम उद्योग, व्यवसाय या दस्तकारी से सम्बन्ध रखता हो; चाहे बाल-बच्चों के पालन, पोषण या मनोरञ्जन से सम्बन्ध रखता हो। इससे यह स्पष्ट है कि आत्मरक्षा-विषयक यह दूसरे प्रकार का ज्ञान, इस विषय के सिर्फ़ पहले प्रकार के ज्ञान से कम महत्त्व का है। इसका दरजा सिर्फ़ उसीसे कम है और किसी से नहीं। बाक़ी और सब प्रकार के ज्ञानों की अपेक्षा इसका महत्त्व बहुत अधिक है।

२४—आरोग्यरक्षा करनेवाली स्वभावसिद्ध प्रवृत्तियों की परवा न करने से हानि।

इस सम्बन्ध में भी प्रकृति, अर्थात् क़ुदरत, ने सदुपदेश देने या सन्मार्ग दिखलाने का थोड़ा बहुत सामान पहले ही से कर रक्खा है। भूख, प्यास आदि अनेक प्रकार के शारीरिक विकार और वासनाओ को पैदा कर के शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली बड़ी बड़ी आवश्यकताओं को पूरा करने का बहुत कुछ भार प्रकृति ने अपनेही ऊपर ले लिया है। भूख लगतेही, और बहुत अधिक गरमी या सरदी मालूम होते ही, उनसे बचने की अत्यन्त अनिवार्य्य इच्छा हमारे मन में आपही आप पैदा हो जाती है। सारी वासनाओ और प्रवृत्तियों के पैदा होते ही यदि हम उनकी आज्ञा पालन करने की आदत डाल लें, अर्थात् इस तरह की हाजतें मालूम होते ही उन्हें हम रफ़ा करदें, तो शारीरिक विकारों का डर बहुत कम रह जाय। भूख प्यास इत्यादि वासनायें जब बहुत प्रबल हो उठती हैं तब तो जरूरही हमें उनकी निवृत्ति करनी पड़ती है, क्योंकि उस समय उनकी उपेक्षा असम्भव हो जाती है। परन्तु इस प्रकार की निवृत्ति स्वाभाविक नहीं। हमें चाहिए कि ज्योंही इस प्रकार की वासनायें या प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हों त्योंही हम उनकी दवा करें—त्योंही हम उन्हें दूर करदें। ऐसा करने से शरीर की रक्षा पहले की अपेक्षा विशेष अधिक हो सकेगी। काम करते करते शरीर या दिमाग़ को थकावट मालूम होतेही काम छोड़कर आराम करना, किसी बन्द जगह मे देर तक रहने से जी मे घबराहट पैदा होते ही बाहर हवादार जगह में निकल जाना, और अच्छी तरह भूख लगने ही पर खाना और प्यास लगनेही पर पानी पीना मुनासिब है। यदि अपनी दिनचर्य्या में इन बातों का ख़याल रक्खा जाय तो शायदही कभी हमारा शरीर काम करने के लायक़

न रहे। परन्तु आरोग्य-रक्षा के नियमों से लोग यहाँ तक अनभिज्ञ हैं कि वे इतना भी नहीं जानते कि उनकी मानसिक प्रवृत्तियाँ ही इस विषय में उनकी स्वाभाविक पथप्रदर्शक हैं—जिस तरफ़ वे झुकें उसी तरफ़ आदमी को झुकना चाहिए, जिस चीज़ को वे माँगें उसी दम उन्हें देना चाहिए। इन मानसिक विकारों की बात यदि बहुत दिन तक नहीं सुनी जाती, यदि उनकी अभिलषित चीज़ें बहुत दिन तक उन्हें यथा-समय नहीं दी जातीं, तो वे सुस्त और बेकार हो जाते हैं। फिर उनकी पथ-प्रदर्शक शक्ति विश्वासयोग्य नहीं रह जाती—फिर उनकी रहनुमाई पर एतबार नहीं किया जा सकता। अतएव, यद्यपि प्रकृति ने कृपा करके आरोग्य-रक्षा के बहुतही योग्य साधन आदमी को, पैदा होने के साथ ही, दिये हैं; तथापि हम लोग केवल अपनी अज्ञानता के कारण उनसे पूरा पूरा फ़ायदा नहीं उठाते। हमारी अज्ञानता उन साधनों को बहुत कुछ बेकार और निकम्मा कर देती है।

१५—शरीर-रक्षा के नियमों को न जानने से बीमारियों का होना और उनसे हानि।

आरोग्य-रक्षा के नियमों के जानने की ज़रूरत में यदि किसी को सन्देह हो—यदि कोई यह शका करे कि प्रत्यक्ष आत्म-रक्षा के लिए इन नियमों के जानने की क्या जरूरत है—तो उसे चाहिए कि वह अपने चारों तरफ़ निगाह दौड़ावे। ऐसा करने से उसे मालूम होगा कि कितने अधेड़ और कितने ढली हुई उम्र के स्त्री-पुरुष नीरोग और दृढ़शरीर हैं। शायद ही ऐसा मनुष्य कभी देख पड़ता है जो बुढ़ापे तक ख़ूब मज़बूत और रोगरहित है। हर घड़ी हमें ऐसेही मनुष्य देख पड़ते हैं जो किसी न किसी रोग से पीड़ित हैं। किसी को कमज़ोरी की शिकायत है किसी को बवासीर की शिकायत है, किसीको क़ब्ज़ की शिकायत है, किसीको कुछ, किसीको कुछ। ऐसी बहुत सी बीमारियाँ हैं जो, आरोग्य-रक्षा का बहुत थोड़ा भी ज्ञान होने से, टाली जा सकती हैं। पर जिन आदमियों से आप इस विषय में पूछेंगे उनमें से शायदही कोई आदमी आपको ऐसा मिले जिसने इस थोड़े से ज्ञान की बदौलत इस तरह की बीमारियों से अपना बचाव किया हो। अज्ञान और अविचार के ही कारण बहुधा सारी बीमारियाँ पैदा होती है। सर्दी-गर्मी में बाहर फिरने—उनसे शरीर की रक्षा न करने—से कहीं किसी

को बुख़ार आरहा है, कहीं किसी को गठिया हो रही है, कहीं किसीको इस तरह के बुख़ार और गठिया की बदौलत दिल की बीमारी हो रही है। बहुत अधिक पढ़ने से कहीं किसी की आँखें ख़राब हो रही हैं और उम्र भर के लिए उसे अन्धा बना रही हैं। कल एक आदमी की बात सुन पड़ी जो सिर्फ़ इस कारण लँगड़ा होकर घर में पड़ा है कि घुटने में जरासी चोट लगने के बाद, दर्द होते रहने पर भी, उसने चलना फिरना नहीं छोड़ा। आज एक दूसरे आदमी का समाचार मिला जिसे सिर्फ़ इस बात के न जानने के कारण बरसों बिछौने पर पड़ा रहना पड़ा कि दिल के धड़कने की बीमारी, जिसने उसकी यह दशा की, दिमाग़ से बहुत अधिक काम लेने से हुई है। अभी हमने एक ऐसी बीमारी की बात सुनी जिसका कोई इलाज ही नहीं और जो मूर्खता के कारण शक्ति के बाहर किसी कसरत या कर्तब के करने से पैदा हुई है। थोड़ी देर बाद हमने एक और आदमी का हाल सुना जिसने व्यर्थ बहुत अधिक काम करके अपने बदन को यहाँ तक मिट्टी कर डाला—अपने आरोग्य को यहाँ तक बरबाद कर दिया—कि फिर वह अच्छाही न हो सका। हमेशा होनेवाली छोटी छोटी बीमारियों का तो कुछ ज़िक्रही नहीं; कमजोरी को लिए हुए वे सब तरफ़ फैली देख पड़ती हैं। इस तरह की बीमारियों से जो तकलीफ़ मिलती है, जो उदासीनता आती है, जो थकावट पैदा होती है, जो रुपया ख़र्च होता है, जो समय नष्ट होता है उसकी बात जाने दीजिए—उसका विचार न कीजिए। विचार सिर्फ़ इस बात का कीजिए कि बीमारी के कारण कर्तव्य-पालन में बाधा कितनी आती है? उससे काम करना कठिन तो हमेशाही हो जाता है, पर कभी कभी असम्भव भी हो जाता है। उससे स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है जिससे बाल-बच्चों के अच्छी तरह पालन, पोषण और शिक्षण में अनिवार्य्य विघ्न आता है; न लड़के अच्छे लगते हैं, न स्त्री अच्छी लगती है। देश या समाज से सम्बन्ध रखनेवाले काम-काज का तो जिक्रही नहीं; आमोद-प्रमोद और दिलबहलाव की बातें भी बुरी लगती हैं। अतएव इसमे कोई सन्देह नहीं कि बीमारियाँ पैदा करने वाले ये शारीरिक दोष जिनका कारण कुछ तो हमारे पूर्वज और कुछ ख़ुद हम हैं, जीवन को पूरे तौर पर सार्थक करने में और बातों की अपेक्षा अधिक बाधा डालते हैं। उपकार होने और सुख पाने की बात तो

दूर रही, ये शारीरिक दोष जीवन को उलटा कण्टकमय करके उसे किसी काम का नहीं रखते।

२९—बीमारी के कारण आधी उम्र का कम हो जाना, अतएव अकालही में शरीर का छूटना।

बीमारी से सिर्फ़ इतनी ही हानियाँ नहीं हैं। शरीर तो मिट्टी हो ही जाता है; पर जीवन की दुर्गति होते होते उसका भी नाश हो जाता है। शरीर निर्बल हो जाने से अकाल मृत्यु आये विना नहीं रहती। लोगों का ख़याल है कि बीमारी से उठने के बाद तबीयत फिर पहले की ऐसी हो जाती है। वे समझते हैं कि दवा करने से, बीमारी चली जाने पर, शरीर फिर पूर्ववत् हो जाता है। यह समझना भूल है। शरीररूपी यंत्र का कील-काँटा एक दफ़े बिगड़ा कि फिर वह कभी पूर्ववत् नहीं होता। शरीर के प्रत्येक अवयव का काम बँधा हुआ है। प्रकृति ने सबको जुदा जुदा काम दे रक्खा है। इस काम में यदि कोई बाधा आती है तो शरीर पर उसका कुछ न कुछ असर ज़रूर होता है। उस बाधा के न रहने पर भी—उस बीमारी के दूर हो जाने पर भी—वह अपना कुछ न कुछ चिह्न ज़रूर छोड़ जाती है। इस तरह की हानि चाहे तत्काल न मालूम हो; पर उसका बीज जहाँ का तहाँ रहता है; वह नष्ट नहीं होता। प्रकृति उसे अपने हिसाब में जोड़ने से नहीं चूकती। वह इस तरह की छोटी-मोटी सब बातों को अपने रजिस्टर में बड़ी सावधानी से दर्ज करती जाती है और कोई दिन ऐसा आता है जब हमें हर एक हानि का फल भोगना पड़ता है। इससे हमारी ज़िन्दगी का कुछ अंश ज़रूर कम हो जाता है। हर एक बीमारी और हर एक विकार के कारण इस शरीर-यन्त्र की कलों मे थोड़ी थोड़ी कसर रह जाने से भयङ्कर परिणाम होते है और शरीर भीतर ही भीतर बिगड़ कर अकाल ही में गिर जाता है। यदि हम इस बात का विचार करते हैं कि आदमी के जीवन की स्वाभाविक सीमा क्या है, और वह मामूली तौर पर जीता कब तक है, तो हमारी आँखें खुल जाती हैं। इस तरह मुक़ाबला करने से जब हम यह देखते हैं कि आदमी की औसत ज़िन्दगी बहुतही कम है तब इस तरह की हानियों की गुरुता ठीक ठीक हमारे ध्यान में आती है—तब हमें समझ पड़ता है कि हमारा कितना नुकसान हुआ। समय समय पर होने-

वाली सैकड़ों बीमारियों के कारण आदमी की ज़िन्दगी में जो कमी हुआ करती है उसमें यह बहुत बड़ी आख़िरी कमी जोड़ देने से मालूम होता है कि मामूली तौर पर आधी ज़िन्दगी किसी काम न आई। वह व्यर्थ गई। उससे कोई काम न निकला।

२७—आरोग्य-रक्षा के नियमों की शिक्षा की ज़रूरत के कारण।

अतएव जिस ज्ञान जिस विद्या जिस शिक्षा से ज़िन्दगी का आधा हिस्सा व्यर्थ न जाकर आत्म-रक्षा हो उसका दरजा सबसे बड़ा है। इससे हमारा यह मतलब नहीं—हम यह दावा नहीं करते—कि इस तरह की शिक्षा से ऊपर बतलाई गई ख़राबियाँ बिलकुल ही दूर हो जायँगी। हम यह नहीं कहते कि उनका जड़ से नाश हो जायगा। आजकल हमारी ऐसी स्थिति है—समाज और देश की ऐसी दशा है—कि अपना पेट पालने और अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए हमें मजबूर होकर आरोग्यरक्षा के नियम बहुधा तोड़ने पड़ते हैं। यह बात इतनी स्पष्ट है कि इसे साबित करने की ज़रूरत नहीं। और यह भी स्पष्ट है कि मजबूरी के कारण यदि ये नियम न भी तोड़ने पड़ें, तो भी मनुष्यो के मन की प्रवृत्तिही ऐसी है कि तात्कालिक सुख की वे अधिक परवा करते हैं। वे किसी बात को चाहे बुरा ही क्यों न समझते हों पर यदि उससे उन्हे तत्काल सुख, सन्तोष या समाधान होता है तो वे होनेवाली हानि की परवा न करके उसे बहुधा कर डालते हैं। इस कारण आरोग्य-रक्षा के नियमों का उल्लङ्घन सहज ही हुआ करता है। तथापि हम यह बात विश्वासपूर्वक कहते हैं—हम इस बात पर ज़ोर देते हैं—कि यदि आरोग्य-रक्षा के यथार्थ नियमों का ज्ञान, यथार्थ रीति से, मनुष्यों को हो जाय तो उससे बहुत कुछ काम निकले। हम इस बात पर भी जोर देकर, विश्वासपूर्वक कहते हैं कि आरोग्य-रक्षा के नियमों का ज्ञान अच्छी तरह हुए बिना उनका पालन पूरे तौर पर नहीं हो सकता। इसलिए जीवन-निर्वाह-विषयक काम-काज शुरू करने के पहले—चाहे जब वह शुरू किया जाय—इन नियमों का जान लेना बहुत ज़रूरी है। मतलब यह कि हम लोगो की शिक्षा का जो क्रम है उस क्रम में आरोग्य-रक्षा के नियमों का सिखलाया जाना भी शामिल होना चाहिए। बिना उसके आरोग्य-रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली हमारी दशा कभी सुधरने की नहीं।

शरीर ख़ूब नीरोग रहने से मनुष्य का चित्त हमेशा प्रसन्न और प्रफुल्लित रहता है। और ये बातें ऐसी हैं कि दुनिया में औरों की अपेक्षा मनुष्य को इनसे बहुत अधिक सुख मिलता है। यदि शरीर अच्छा नहीं, यदि चित्त प्रसन्न नहीं, तो आराम की और बातों के होते भी मनुष्य को उतना सुख नहीं मिलता जितना आरोग्य रहने और चित्त प्रसन्न होने से मिलता है। इससे जिस शिक्षा से शरीर को आरोग्य और मन को उल्लास मिले उसकी बराबरी और शिक्षा नहीं कर सकती। इसी से हम कहते हैं कि आरोग्य-रक्षा का कम से कम इतना ज्ञान, जितने से उसके साधारण नियम समझ में आ जायँ और यह मालूम हो जाय कि वे नियम प्रति दिन के व्यवहार-बर्ताव से कहाँ तक सरोकार रखते हैं, उचित शिक्षा का बहुत ही ज़रूरी अंश है। इतना ज्ञान जरूर ही होना चाहिए। बिना उसके शिक्षा पूरी नहीं।

२८—उपयोगी शिक्षा की अपेक्षा दिखाऊ शिक्षा का अधिक आदर करनेवाली आदमियों की अन्धी समझ।

ऐसी मोटी बात के बतलाने की जरूरत पड़ती है, यह आश्चर्य्य की बात है। यही नहीं, किन्तु उसे सही साबित करने के लिए घंटे दो घंटे सिरखपी भी करनी पड़ती है। यह और भी अधिक आश्चर्य्य की बात है। तथापि ऐसे आदमियों की संख्या कुछ कम नहीं है जो इस बात को सुन-कर हँसने या अवज्ञा करने को तैयार हो जायँगे। दुनिया में ऐसे भी आदमी हैं जिनके मुँह से यदि "ब्राह्म" की जगह "ब्रह्म" निकल जाय और कोई उन्हें टोक दे तो वे लाल पीले हो जाते हैं। या यदि उनसे कोई कह बैठे कि आपको सहस्ररजनी-चरित्र या कथासरित्सागर के किसी कल्पित देव-दानव की कथा नहीं मालूम तो वे इससे अपनी बेइज़्ज़ती समझते हैं। परन्तु यही आदमी इस बात की अज्ञानता क़बूल करते रत्ती भर भी लज्जित नहीं होते कि रीढ़ की हड्डी से क्या काम निकलता है, नाड़ी की मामूली गति क्या है, फेफड़ों में हवा किस तरह भरती है, और (कान से मुँह के पिछले हिस्सों तक हवा के आने-जाने के लिए लगी हुई) यूस्टाकियन नाम की नलियाँ कहाँ हैं। लोग इसकी तो बहुत परवा करते हैं कि दो हज़ार वर्ष की पुरानी धर्म्मान्धता से सम्बन्ध रखनेवाली बेसिर-पैर की बातों में उनके लड़के ख़ूब दक्ष हो जायँ। पर इसकी उन्हें ज़रा भी परवा नहीं कि उनके लड़कों को

ख़ुद अपने बदन की बनावट और उसके अवयवों के व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा की भी कोई ज़रूरत है। कुछ लोग तो ऐसे भी हैं जो अपने लड़कों को इस तरह की शिक्षा देनाही नहीं चाहते। लोकाचार चाहे जो करे! रूढ़ि चाहे जो करे! उसमें सब शक्ति है! जो चाल एक बार चल गई है वह हमारी हड्डी हड्डी में घुसी हुई है। वह वहाँ से हटती ही नहीं। उसने हम लोगो को एकदम ही ग्रास कर लिया है। इस लोकाचार—इस लोक-रूढ़ि—की बदौलत दिखाऊ शिक्षा ने उपकारी और उपयोगी शिक्षा को पीछे फेंक दिया है।

२६—उदर-निर्वाह से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा की ज़रूरत और उसके विषय में सब लोगों की एकराय।

जो शिक्षा जीवन-निर्वाह का रास्ता बतला कर परोक्ष रीति से आत्म-रक्षा करने मे मनुष्य को सहायता देती है उसकी योग्यता के विषय में बहुत कुछ कहते बैठने की ज़रूरत नहीं। इस तरह की शिक्षा की योग्यता छिपी नहीं है। उसे सब जानते हैं। सच तो यह है कि सर्व-साधारण जन शायद अकेली इसी उदरपूरक शिक्षा को विद्योपार्जन का प्रधान उद्देश समझते हैं। जो शिक्षा नव-युवकों को उदर-पूर्ति के कारोबार के लायक़ बना देती है उसे बहुत बड़े महत्त्व की शिक्षा क़बूल करने को हर आदमी तैयार रहता है। यहाँ तक कि लोग ऐसी शिक्षा को सबसे अधिक महत्त्व की शिक्षा कबूल करने में भी आनाकानी नहीं करते। पर शायद ही कभी कोई इस बात का विचार करता होगा कि किस तरह की शिक्षा से कारोबार करने की—चार पैसे कमाने की—योग्यता आती है। इस बात का ख़याल शायद ही कभी किसी के दिल में आता होगा कि उदरपूरक विद्या सीखनी किस तरह चाहिए। यह सच है कि लिखने, पढ़ने और हिसाब के लाभों को अच्छी तरह सोच समझ कर स्कूलों और कालेजों में उनकी शिक्षा दी जाती है। सांसारिक काम-काज में—उदरपूरक कारोबार में—उनका उपयोग ज़रूर होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इन्हीं तीनों विषयों की शिक्षा से जीवन-निर्वाह करनेवाली शिक्षा का अन्त समझना चाहिए। इनके सिवा जो और दूसरे विषय सिखलाये जाते हैं उनका सम्बन्ध उद्योग-धन्धे के कामों से एक दमड़ी भर भी नहीं होता। बहुतसी

विद्या—बहुत सी शिक्षा—जो प्रत्यक्ष रीति से उदर-पोषक उद्योगो के लिए उपयोगी है, बिलकुल ही छोड़ दी जाती है। उसकी तरफ़ किसी का ध्यान ही नहीं जाता।

३०—सभ्य-समाज के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले हर काम में वैज्ञानिक शिक्षा की ज़रूरत।

ज़रा इस बात का विचार ते। कीजिये कि, कुछ थोड़े से आदमियों के। छोड़कर, और सब लोग लगे किस तरह के कामों में हैं ? व्यवहार मे आनेवाली व्यापार की चीज़ों के पैदा करने, तैयार करने और सब तरफ़ भेजने में वे लगे हुए हैं। और इन चीजों का पैदा करना, तैयार करना और भेजना अवलम्बित किस बात पर है ? कौनसी बात ऐसी है जिस पर इन सब कामों का होना मुनहसिर है ? व्यापार की जितनी चीज़ें हैं उनमें से प्रत्येक चीज की क़िस्म—प्रत्येक चीज़ की जाति—का ख़याल रखकर तदनुसार उसे काम मे लाने के साधन का ज्ञान प्राप्त करने पर यह बात अवलम्बित है। पूरे तैार पर व्यवहार के योग्य बनाने के लिए जो चीज़ जैसी है उसके लिए उसी के अनुकूल युक्ति से काम लेने पर यह बात अवलम्बित है। इस तरह की युक्ति निकालने और उचित व्यवस्था करने के लिए हर चीज़ की स्थिति, धर्म और रासायनिक गुण का पूरा पूरा ज्ञान होने की ज़रूरत है। अर्थात् ये बातें "सायन्स" पर अवलम्बित हैं—विज्ञान पर अवलम्बित हैं—हर एक चीज़ से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रीय ज्ञान पर अवलम्बित है। यही विज्ञान, यही शास्त्रीय ज्ञान, व्यापार की हर चीज के बनाने और उसकी उचित व्यवस्था करने मे मदद देता है और इसी मदद की बदौलत आज कल के सभ्य-समाज का जीवन सम्भव है। यदि यह न हो तो सब सभ्यता धरी रहे। पर इस तरह की वैज्ञानिक शिक्षा पर हम लोगो के स्कूल, कालेज और मदरसों में बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है; वह वहाँ प्रायः फटकने तक नहीं पाती। इस बात के। कौन नहीं जानता—इस बात की सत्यता के। कौन नहीं क़ुबूल करता—कि वैज्ञानिक शिक्षा ही हमारी सभ्यता की जड़ है। तिस पर भी लोग इसके अनुसार अमल नहीं करते। सिर्फ़ मुँह से कहते हैं; करके नहीं दिखलाते ! इस बात से अधिक परिचय होने ही के कारण कोई इसकी परवा नहीं करता। अधिक परिचय के कारण अवज्ञा

होने का यह सबसे बड़ा प्रमाण है। इस लेख के पढ़नेवालो के चित्त पर वैज्ञानिक शिक्षा का महत्त्व खचित करने के लिए हम इस विषय का संक्षिप्त निरूपण करना चाहते हैं। अपनी इस दलील को पुष्ट करने के लिए कि हर तरह के धन्धे में विज्ञान-विषयक शिक्षा की बड़ी जरूरत है, सब बातों पर जल्दी से दृष्टि डाल कर, हम इस विषय की थोड़ी सी समालोचना करते हैं।

३१—उद्योग-धन्धे के कामों में अङ्कगणित जानने की ज़रूरत।

तर्कशास्त्र सबसे अधिक कठिन, और बुद्धि की अपेक्षा रखनेवाला, शास्त्र है। व्यापार की चीजो को पैदा करने और वेचने का जो लोग बहुत बड़ा कारोबार करते हैं उनके कारोवार की कामयावी जान वूझ कर या वेजाने, तर्क-शास्त्र के नियमों के अनुसार काम करने ही पर अवलम्बित रहती है। आगे पीछे की बातों का विचार कर के, तर्क-शास्त्र के अखण्डनीय सिद्धान्तो के अनुसार ही हर एक किसान और व्यापारी को काम करना पड़ता है। पर इस क्लिष्ट शास्त्र को एक तरफ़ रखकर हम पहले गणित-शास्त्र का, और उसमें भी विशेष करके अङ्कगणित का, विचार करते हैं। क्योंकि व्यवहार और व्यापार में उसीका बहुत अधिक काम पड़ता है। कोई किसान, कोई व्यापारी कोई महाजन ऐसा नहीं जिसे अंकों से काम न पड़ता हो। हिसाब-किताब रखने में; कूतने, आँकने या तख़मीना बनाने में; माल ख़रीदने या वेचने मे; और उद्योग-धन्धे के और भी ऐसे ही कामों में कहाँ अङ्क-गणित का काम नहीं पड़ता? इस शास्त्र से इतना काम निकलता है कि इसकी उपयोगिता समझाते वैठने की कोई ज़रूरत नहीं।

३२—इमारत बनाने, रेल निकालने, जहाज़ चलाने और खेती तक करने में, गणित-शास्त्र जानने की ज़रूरत।

इमारत और कारीगरी से सम्बन्ध रखनेवाले ऊँचे दरजे के कला-कौशल के लिए तो गणित-शास्त्र की विशेष विशेष शाखाओ का थोड़ा बहुत ज्ञान होना बहुत ही जरूरी है। उसके लिए तो भूमिति, अर्थात् रेखागणित, तक की जरूरत पड़ती है। देहाती बढ़ई या कारीगर अपना काम सिर्फ़ तजरिवे के बल पर करता है। मोटी मोटी बातें जो उसे मालूम हो गई है उन्हीं को नियम मान कर वह सब काम करता है। पर, गंगा या जमुना पर प्रचण्ड पुल वांधनेवाले विद्वान् यजीनियर की तरह उसे भी स्थापत्य, अर्थात्

इमारत से सम्बन्ध रखनेवाली, विद्या के नियमों के अनुसार काम करने की हर घड़ी ज़रूरत पड़ती है। उसका भी काम लम्बाई, उँचाई और मुटाई इत्यादि को नापे, या उनका ख़याल मन में किये, बिना एक क्षण भर भी नहीं चल सकता। मोल ली हुई ज़मीन की पैमाइश करनेवाले अमीन, उस पर बनाये जाने के लिए एक बहुत बड़े महल का नक़शा बनानेवाले नक़शेनवीस, उसकी नीव डालनेवाले मेमार और मिस्त्री, पत्थरों को गढ कर सुडौल बनाने वाले राज, और दूसरी चीज़ों को बनाने और कील-काँटों को अपनी अपनी जगह पर लगानेवाले कारीगर—किसे गणितशास्त्र से काम नहीं पड़ता? भूमिति-विद्या के आधार बिना इनमें से एक का भी काम नहीं चल सकता। सबको उसकी सहायता लेनी पडती है। रेल के काम में तो आदि से लेकर अन्त तक सभी काम भूमिति-विद्या के आधार पर होते हैं। लाइन निकालने, पुश्ते बाँधने, ऊँची जमीन को काटने, सड़क का चढ़ाव-उतार ठीक करने, नालियाँ पाटने, पहाड़ और पहाड़ियों को भीतर ही भीतर काट कर सड़क निकालने, और पुल, स्टेशन इत्यादि बनाने और उनके नक़शे तैयार करने में ज्यामिति के बिना किसी तरह काम चलही नहीं सकता। इसी तरह जहाज़ों के ठहरने और माल चढाने-उतारने के लिए बन्दर और बाँध बनाने, समुद्र के किनारे किनारे और भीतर देश में भी पुतलीघरों और कारख़ानों की इमारतें खड़ी करने, और ज़मीन के नीचे सुरंगें खोदने में ज्यामिति-विद्या के नियमों की ज़रूरत पड़ती है। आज कल तो खेत की नालियाँ यथा-नियम बनाने के लिए छोटे छोटे किसानों तक को ज़मीन के चौरस होने का ख़याल रखना पड़ता है। अथवा यों कहिए कि उन्हें भी ज्यामिति-विद्या के नियमों के अनुसार काम करने की जरूरत पड़ती है।

३३—इस बात के प्रमाण और उदाहरण कि प्रति दिन काम में आनेवाली चीज़ें यंत्रविद्या ही की बदौलत मिलती हैं।

अच्छा अब उन शास्त्रों की तरफ़—उन विज्ञानों की तरफ़—ध्यान दीजिए जो मूर्त भी हैं और अमूर्त भी हैं, जो विविक्त भी हैं और अविविक्त भी हैं, जिनका सम्बन्ध मन से भी है और बाहरी वस्तुओं से भी है। ऐसे शास्त्रों में यन्त्रशास्त्र सबसे अधिक सीधा है। यन्त्रशास्त्र से मतलब उस विद्या या विज्ञान से है जिसका काम कलें इत्यादि बनाने में पड़ता है। अब

देखिए उद्योग-धन्धे के कामों में इस शास्त्र का कितना उपयोग होता है। इसी शास्त्र की बदौलत कला-कौशल-सम्बन्धी उद्योगों की आज कल इतनी तरक्की हुई है। इस तरह के उद्योगों की कामयाबी केवल इस शास्त्र की सहायता पर अवलम्बित है। जितनी कलें हैं सबमे "लीवर" (डण्डे), चर्ख़ी और धुरी इत्यादि का उपयोग होता है और जितनी पैदावार है आज कल सब कलों ही की बदौलत है। इँगलैंड में बनी हुई रोटी के इतिहास पर ज़रा ध्यान दीजिए। जिस खेत के अन्न की वह रोटी है उस खेत का पानी कलों ही से बनाये गये खपरों से बाहर निकाला गया था; कलों ही से उसकी मिट्टी उलटी गई थी; कलों ही से उसमें पैदा हुआ गेहूं काटा, पीटा और उसाया गया था; कलों ही से वह पीसा और छाना गया था; और यदि गासपोर्ट नाम के शहर को आटा भेजा गया होगा तो, सम्भव है, कलों ही से बिसकुट (टिकियों की शकल की अंगरेजी रोटियाँ) भी बनाये गये होंगे। अब आप जिस कमरे में बैठते हैं उसके चारों तरफ़ देखिए। यदि वह हाल का बना हुआ है तो उसकी दीवारों की ईंटें बहुत करके कलों ही से बनाई गई होंगी। फ़र्श मे लगे हुए तख़्ते कलोंही से चीर कर साफ़ किये गये हैं। आग रखने की जगह के आगे जो अलमारी है उसके भी तख़्ते कलोंही से चीरे गये हैं और कलोंही से उस पर जिला (पालिश) भी दी गई है। काग़ज़ की झालरें कलोंही से बनाई और छापी गई हैं। मेज़ के ऊपर चढ़ी हुई लकड़ी की पतली तह, उसपर बिछा हुआ बेल-बूटेदार कपड़ा, बैठने की कुरसियों के मुड़े हुए पाये, नीचे बिछा हुआ क़ालीन, दरवाज़ो और खिड़कियों पर पड़े हुए परदे—सब कलोंही से बनाये गये हैं। आप अपने कपड़ो ही की तरफ़ देखिए। सादे, रंगीन, या चित्र-विचित्र जितने कपड़े आप पहनते है क्या वे सब कलोंही से नहीं बनाये गये? और क्या वे सिले भी कलोंही से नहीं गये? जो किताब आप पढ़ रहे हैं, क्या उसका काग़ज कल ही से नहीं बनाया गया और उस काग़ज पर जो वाक्य है क्या वे कल ही से नहीं छापे गये? इस तरह हर एक चीज़ तैयार करने में हमें कलों की मदद दरकार होती है। व्यापार की जितनी चीज़ें ज़मीन या पानी के रास्ते एक जगह से दूसरी जगह भेजी जाती हैं उनको ले जाने के लिए भी हमें कलोंही का मुँह ताकना पड़ता है। इस काम के लिए भी हम कलोंही के मुहताज हैं—कलोंही के ऋणी हैं। याद रखिए, इन सब बातों के लिए यन्त्र-विद्या को हम जितनी अच्छी या

बुरी तरह काम में लाते हैं उतनी ही कामयाबी या नाकामयाबी हमें होती है। पुल बनाने वाला यंजिनियर यदि इस बात की जाँच अच्छी तरह नहीं कर लेता कि ईंट, पत्थर और लोहा आदि सामान, जिसे वह लगाने जाता है, मज़बूत है या नहीं, तो उसका बनाया हुआ पुल गिरने से नहीं बचता; ज़रूर गिर जाता है। जिस कारीगर की कल अच्छी नहीं है वह उस कारीगर की बराबरी कभी नहीं कर सकता जिसकी कल ख़ूब तेज़ चलती है और चलने और रगड़ खाने से कम घिसती है। जो लोग पुराने नमूने के जहाज़ बनाते हैं उनके जहाज़ उन जहाज़ों से पीछे पड़े रह जाते हैं जो समुद्र में उठनेवाली ऊँची ऊँची लहरों का ख़याल रखकर यन्त्रशास्त्र के नियमों के अनुसार नये तरीक़े से बनाये गये हैं। जो देश अपनी शक्ति और योग्यता को दूसरे देशों के मुक़ाबले में क़ायम रखना चाहता हो उसे उचित है कि वह हर आदमी को यन्त्र-विद्या में निपुण बनावे। क्योंकि औरों के मुक़ाबले में शक्ति का क़ायम रहना सिर्फ़ इसी विद्या की निपुणता पर अवलम्बित है। बिना यन्त्र-विद्या का अच्छा ज्ञान हुए यह बात नहीं हो सकती। कला-कौशल में हर आदमी के प्रवीण हुए बिना देश की दशा नहीं सुधर सकती; देश की उन्नति नहीं हो सकती; देश की शक्ति नहीं बढ़ सकती।

४३—भाफ, उष्णता, प्रकाश, बिजली, चुम्बक आदि से सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थ-विज्ञान की बदौलत होने वाली आश्चर्यजनक बातें।

मानसिक और अमानसिक दोनों विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र की जो शाखायें बड़ी बड़ी शक्तियों से सम्बन्ध रखती हैं उनसे आरम्भ करके परमाणु-विषयक छोटी छोटी शक्तियों से सम्बन्ध रखनेवाली शाखाओं की तरफ़ ध्यान देने से हम बहुत उपयोगी बातों के एक और सिलसिले तक जा पहुँचते हैं। यह सिलसिला पदार्थविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। इससे भी हम लोगों का बड़ा काम निकलता है। जिस विज्ञान का सम्बन्ध मन से भी है और बाहरी चीज़ों से भी है, शक्ति-भेद से उसकी अनेक शाखायें हैं। शक्तियों के महत्त्व और भेद का विचार करते करते वैज्ञानिक लोग विज्ञान की उस शाखा तक पहुँचते हैं जिसमें परमाणुओं की शक्तियों पर

विचार होता है। इसीका नाम पदार्थविज्ञान है। विज्ञान की इस शाखा (पदार्थ-विज्ञान) का मेल, इसके पहले बतलाई गई शाखा (यन्त्र-विज्ञान) से होने ही की बदौलत हमें भाफ से चलनेवाला यंजिन मिला है। यह यंजिन ऐसा वैसा नहीं। यह यंजिन लाखों मज़दूरों का काम करता है। विज्ञान की बदौलत प्राकृतिक पदार्थों के अन्तर्भूत उष्णता के गुण-धर्म्म आदि के नियम सीख कर हम यह जान लेते हैं कि जुदा जुदा कारख़ानों में किस तरह ईंधन की किफ़ायत होती है। हम यह जान लेते हैं कि धातुओं को गलाने-वाली भट्टियों में ख़ूब गरमी पहुँचाकर किस तरह उनसे अधिक काम लिया जाता है—किस तरह उनकी पैदावार बढ़ाई जाती है। हम यह जान लेते हैं कि खानो में किस तरह हवा पहुचाई जाती है; एक विशेष प्रकार का लैम्प (चिराग़) बना कर, ज्वालाग्राही पदार्थों के जल उठने से होनेवाली दुर्घटनायें किस तरह बचाई जाती हैं; और गर्मी नापनेवाले थर्मामीटर नाम के यन्त्र की मदद से अनेक तरह के लाभदायक काम किस तरह किये जाते हैं। विज्ञान-विद्या की वह शाखा जो प्रकाश से सम्बन्ध रखती है—जिसमें प्रकाश-विषयक बातों की विवेचना है—बुड्ढो और कमज़ोर आँखों के आदमियों को दृष्टि देती है; सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (ख़ुर्दबीन) के द्वारा रोगों के बीजरूप कारण का पता लगाने, और मिलीहुई भली-बुरी चीज़ों की जाँच करने में मदद देती है; और अच्छे अच्छे *दीपस्तम्भो के द्वारा जहाज़ों को टकरा कर डूब जाने से बचाती है। बिजली और चुम्बक के गुण-धर्मों के ज्ञान की बदौलत दिशादर्शक यन्त्र (कम्पास—क़ुतुबनुमा) ने अनन्त आदमियो की प्राणरक्षा की है और अनन्त धन-दौलत बरबाद होने से बचाई है। कृत्रिम बिजली से नई नई आश्चर्य्यकारक बातें होने लगी है। छायाचित्रण ने अनेक ललित-कलाओ और कला-कौशलो को सहायता पहुँचाई है। और, अब, ख़बर भेजने के तार द्वारा इस बिजली और चुम्बक ने हमारे लिए एक ऐसा वसीला पैदा कर दिया है कि आगे चल कर व्यापार-सम्बन्धी कारोबार ख़ूब नियमपूर्वक हो सकेगा और दूर देशों मे आने जाने और उनसे राह-रस्म

* दीपस्तम्भो से मतलब "लाइट हाउसेज" (Light-Houses) अर्थात् रोशनी के मीनारो से है। ये स्तम्भ समुद्र में किनारे पर होते हैं। इन पर खूब तेज प्रकाश होता है। इसे दूर से देखकर रात के समय जहाज चलाने मे बड़ा सुभीता होता है।

रखने में ख़ूब मदद मिलेगी। और कहाँ तक कहा जाय, इस पदार्थ-विज्ञान की बदौलत इतने सुधार हुए हैं कि उनकी महिमा हम लोगों के घर के भीतर तक देख पड़ती है—चूल्हे तक में उसने अपनी पहुँच कर ली है। रसोईघर में नई तरह के चूल्हे और नई रीति की उन्नत पाकप्रणाली आदि से लेकर मुलाक़ात के कमरे में मेज़ पर रक्खे हुए तसवीर देखने के स्टीरियस्कोप* नाम के यन्त्र तक, सब कहीं, पदार्थ-विज्ञान की महिमा जागरूक है। घर में हमारे सुख और समाधान की जितनी बातें हैं प्रायः एक भी ऐसी नहीं जिस पर पदार्थ-विज्ञान की बढ़ी हुई विद्या की छाया न पड़ी हो।

३५—सैकड़ों उद्योग-धन्धों से रसायन-शास्त्र का आश्चर्य्य-कारक सम्बन्ध।

अब रसायन-विद्या की तरफ़ ध्यान दीजिए। इसका उपयोग तो पदार्थविज्ञान से भी अधिक है। इससे इतने काम निकलते हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। कपड़ा धोने, रँगने और छापनेवाले जितना अधिक रसायन-शास्त्र के नियमों से परिचित होते हैं उतनाही अधिक उनका काम अच्छा होता है और जितना ही वे कम परिचित होते हैं उतना ही उनका काम भी कम अच्छा होता है। उनके काम का अच्छा या बुरापन उनके रासायनिक ज्ञान पर अवलम्बित रहता है। ताँबा, टिन, जस्त, सीसा, चाँदी, लोहा इत्यादि का ढालना रसायन-शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इन धातुओं के गलाने मे रसायन-विज्ञान के नियमों के जानने की बड़ी जरूरत रहती है। शक्कर साफ़ करना, "गैस" बनाना, साबुन को जोश देना, बारूद तैयार करना—ये सब और इसी तरह के शीशे और चीनी मिट्टी के भी काम—रसायनविद्या से थोड़ा बहुत सम्बन्ध ज़रूर रखते हैं। जो लोग शराब, तेज़ाब या "स्पिरिट" इत्यादि का काम करते हैं उनको एक कीमिया-गर (रसायनशास्त्री) रखना ही पड़ता है और रखने से उन्हे लाभ ही होता है, हानि नहीं। क्योंकि इन कामों में रसायन-विद्या का ज्ञान बहुत दरकार

---

* स्टीरियस्कोप (Stereoscope) मे रख कर देखने से तसवीरें ख़ूब साफ और बड़ी मालूम होती है।

होता है । इन चीज़ों के बनाने मे किस दरजे तक की गरमी देनी चाहिए और कितना जोश देने से क्या होता है—ये ऐसी बातें हैं जो रसायन-विद्या का जाननेवाला ही अच्छी तरह समझ सकता है । और इन्हीं बातों के जानने पर इन चीज़ों के कारख़ानों के मालिकों का हानि-लाभ अवलम्बित रहता है । सच तो यह है कि इस समय शायद ही कोई उद्योग-धन्धा ऐसा हो जिसमें रसायन-शास्त्र का काम न पड़ता हो—जिसके किसी न किसी अंश से रसायन-शास्त्र का सम्बन्ध न हो । यहाँ तक कि खेती के काम को भी अच्छी तरह कामयाबी के साथ चलाने के लिए रसायन-विद्या के नियमो का जानना दरकार है । किस तरह की खाद कैसे बनाई जाती है, किस तरह की ज़मीन के लिए कैसी खाद लाभदायक होती है, किस फ़सल के लिए कैसी खाद और कैसी जमीन अच्छी होती है, नौसादर तैयार करने के लिए कौन कौन चीज़ें दरकार होती हैं, जानवरों का मल, मूत्र और हड्डी इत्यादि चीजें किस तरह काम मे लाई जाती हैं—ये सब बातें रसायन-शास्त्र ही की बदौलत जानी जा सकती हैं । उसी की कृपा से—उसी के प्रसाद से—इनका ज्ञान हो सकता है । इनको जानना किसान का बहुत बड़ा कर्तव्य है । दियासलाई बनाने मे; संक्रामक अर्थात् स्पर्शजन्य बीमारियों से बचने के लिए मोरियो के मैले और गन्दे पानी की बदबू दूर करने में; आलोकचित्रण (फोटोग्राफ़ी)—अर्थात् सूर्य्य की किरणो की मदद से तसवीर उतारने में, बिना ख़मीर के रोटी बनाने में, और अत्यन्त त्याज्य कूड़े करकट से इत्र निकालने मे—सब कहीं रसायन-शास्त्र की जरूरत पड़ती है । कोई कारोबार ऐसा नहीं, कोई उद्योग-धन्धा ऐसा नहीं, जहाँ रसायन-शास्त्र की गति न हो । इससे जिन लोगों का सम्बन्ध इन कामों से है—फिर चाहे वह प्रत्यक्ष रीति से हो चाहे अप्रत्यक्ष रीति अर्थात् किसी पर्य्याय से—इस शास्त्र का जानना बहुत ज़रूरी है ।

३६—ज्योतिषशास्त्र का महत्त्व और उससे होने वाले लाभ ।

मूर्त अर्थात् पदार्थ-सम्बन्धी अमानसिक शास्त्रों में से हम पहले ज्योतिःशास्त्र का विचार करते है । इसी शास्त्र से नौकानयन अर्थात् जहाज़ चलाने की विद्या निकली है । इसकी बदौलत जहाज़ चलाने मे बहुत कुछ उन्नति हुई है और दूर देशों के साथ व्यापार इतना बढ़ गया है कि हमारी

आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से का पेट इसी से पलता है। यही नहीं, इसकी कृपा से हमें ज़रूरत और ऐशो-आराम की बहुत सी चीज़ें भी मिलती हैं।

३७—उद्योग-धन्धे के कामों में भूगर्भ-विद्या से मदद मिलना।

इसके बाद भूगर्भ-विद्या को लीजिए। इस शास्त्र का भी उपयोग उद्योग-धन्धे के कामों मे बहुत होता है। इसकी सहायता से कारोबार में बहुत कुछ कामयाबी होती है। यह वह समय है जब ज़मीन से निकलनेवाले कच्चे लोहे की बहुत अधिक खप होने के कारण वह लोहा नहीं सोना हो रहा है। यह वह समय है जब इस बात का ख़ूब विचार हो रहा है कि विलायत की खानों से जो पत्थर का कोयला निकलता है वह कब तक चलेगा। यह वह समय है जब खनिज पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सभायें स्थापित हो गई है और पाठशालायें खुल गई हैं। इन बातों का ख़याल करने पर यह सहज में ही ध्यान मे आ जाता है कि भूगर्भ-विद्या के अभ्यास से कितना लाभ हो सकता है। इस दशा मे, भूगर्भ-विद्या के सम्बन्ध मे, और कुछ अधिक कहने की कोई ज़रूरत नहीं।

३८—प्राणि-विद्या का उद्योग-धन्धे के कामों से सम्बन्ध और उसके जानने से लाभ।

अब जीवनशास्त्र, अर्थात् प्राणिविद्या (Biology) की तरफ़ आइए। क्या यह शास्त्र परोक्ष जीवन—रक्षा से सम्बन्ध नहीं रखता? जो व्यवसाय उदरपालन के लिए किये जाते हैं उनसे तो इसका बहुतही घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह जरूर है कि जिन उद्योगो को मामूली तौर पर हम कला-कौशल या दस्तकारी कहते हैं उनसे इसका बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं है। पर जिन उद्योगो की बदौलत प्राणरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक अन्न उत्पन्न होता है उनसे इसका इतना निकट सम्बन्ध है कि उनसे यह शास्त्र किसी तरह अलगही नहीं किया जा सकता। खेती के कामों में यह जानने की बहुत बड़ी ज़रूरत है कि कौनसी बातें वनस्पतियों और प्राणियों के जीवन के अनुकूल हैं और कौनसी प्रतिकूल। इससे सिद्ध है कि जिस विज्ञान से—जिस शास्त्र से—ये बातें जानी जा सकती हैं उसका अभ्यास

करना खेती के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस शास्त्र को कृषिविद्या का आधार समझना चाहिए। इस शास्त्र के विषयों की जानकारी उचित रीति से किसानों को नहीं प्राप्त होती। हाँ तजरिबे से उन्होंने प्राणिविद्या और वनस्पति-विद्या के अनेक नियम स्थिर ज़रूर कर लिये हैं और प्रसंग पड़ने पर वे उन पर अमल भी करते हैं। यह सच है; पर तजरिबे का नाम शास्त्रीय ज्ञान नहीं। किसान लोग जानते हैं कि कौन खाद किस फ़सल के लिए अधिक लाभदायक होती है, कौन सी फ़सल होने से किस फ़सल के लायक ज़मीन नहीं रह जाती, किस तरह का चारा खाने से बैल या घोडे अच्छा काम नहीं कर सकते, किन किन कारणों से कौन कौन सी बीमारियाँ जानवरों को हो जाती है। पौधों और जानवरो के सम्बन्ध में ये, और इसी तरह की और भी अनेक, बातें किसानों को अपने प्रतिदिन के तजरिबे से मालूम हो जाती हैं। प्राणिविद्या के सिद्धान्तों की बस इतनी ही पूँजी उनके पास रहती है। उनकी कामयाबी इन्हीं सिद्धान्तो के जानने पर अवलम्बित रहती है। इनका जितना ही अधिक ज्ञान उनको होता है उतनी ही अधिक कामयाबी भी उनको होती है। प्राणिविद्या से सम्बन्ध रखनेवाली ये बातें बहुत ही थोड़ी बहुत ही अनिश्चित, और बहुत ही शुरू शुरू की हैं। परन्तु जब इनसे भी किसान को बहुत ज़रूरी मदद मिलती है तब, आप ही कहिए, इन बातों का पूरा पूरा, निश्चित, और सच्चा ज्ञान हो जाने पर उसे कितनी मदद मिलेगी और कितना लाभ होगा? सच पूछिए तो प्राणिविद्या की मोटी मोटी बातें किसानों को जो लाभ पहुँचा रही हैं वे छिपे नहीं हैं। उन्हें हम इस समय भी देख सकते हैं। प्राणिविद्या का एक सिद्धान्त है—"प्राणियों की प्राण-रक्षा के लिए जो गरमी दरकार होती है वह उन्हें अन्न से—ख़ूराक से—मिलती है। इससे यदि प्राणियों के बदन की गरमी व्यर्थ न जाने दी जाय तो थोड़े ही खाद्य या अन्न से काम निकल जाय"। यह सिद्धान्त केवल मानसिक है—सिर्फ़ क़यासी है। पर यह बात अब तजरिबे से साबित होगई है कि इसी तत्त्व-इसी सिद्धान्त-के अनुसार पशुपालन करने से चारा कम ख़र्च होता है और पशु मोटे-ताजे बने रहते हैं। अर्थात् पशुओ को गरम रखने से चारे की किफ़ायत होती है। यही बात पशुओं को जुदा जुदा तरह का चारा खिलाने के विषय में भी कही जा सकती है। शरीर-शास्त्र के जाननेवालों का सिद्धान्त है कि भोजन में फेरफार ज़रूर करते रहना

चाहिए। जुदा जुदा तरह की चीज़ें खाने से बहुत लाभ होता है। खाद्य पदार्थों में फेरफार करते रहने से तबीयत ते अच्छी रहतीही है, उससे एक और लाभ होता है कि अन्न में कई तरह के परमाणु रहने से खाना हज़म भी जल्द हो जाता है। पशुओं में एक बीमारी होती है जिसे अङ्गरेज़ी में "स्टेगर्स" कहते हैं। इससे पशुओं को चक्कर आता है और वे लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं। इससे, आज तक, हज़ारों भेड़ें हर साल मरती हैं। परन्तु प्राणिविद्या की बदौलत अब मालूम हुआ है कि यह बीमारी एक प्रकार के कीड़े से पैदा होती है। यह कीड़ा पशुओं की खोपड़ी के भीतर एक बहुत ही नरम जगह मे पैदा होता है और मग़ज़ पर दबाव डालता है। इसीसे पशु बेहोश होकर गिर पड़ते हैं और बहुत जल्द मर जाते हैं। यदि यह कीड़ा भेड़ों की खोपड़ी से निकाल दिया जाय तो वे बहुत करके बच जाती हैं। कृषिविद्या इस विषय मे भी प्राणिशास्त्र की ऋणी है।

३६—उद्योग-धन्धे के कामों से समाज-शास्त्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध और उससे होनेवाले हानि-लाभ का विचार।

उद्योग-धन्धे के कामों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रों में एक और शास्त्र की बात अभी बाक़ी है। उदरपालन के कामों की कामयाबी इस शास्त्र के जानने पर भी बहुत कुछ अवलम्बित है। इस शास्त्र का नाम समाज शास्त्र है। इसका अभ्यास करने के लिए पुस्तकें पढ़ने और पाठशाला जाने की ज़रूरत नहीं। जो लोग प्रति दिन इस बात पर ध्यान रखते हैं कि बाज़ार मे रुपये की कितनी माँग है; कौन चीज किस भाव बिकती है; अन्न, रुई, शक्कर, ऊन और रेशम इत्यादि की पैदावार इस साल कैसी है; कहीं किसी देश में लड़ाई के लक्षण तो नहीं हैं; और इन सब बातों का विचार करके अपने व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का फ़ैसिला करते हैं वे सब इस समाज-शास्त्र के विद्यार्थी हैं। इस तरह का अभ्यास नियमानुसार अभ्यास नहीं, और बहुत सम्भव है कि इस तरह के अभ्यास से ठहराये गये सिद्धान्त सही न निकलें। तथापि जो लोग ऐसा अभ्यास करते हैं वे इस शास्त्र के विद्यार्थी ज़रूर हैं। इस अभ्यास की सहायता से स्थिर किये गये उनके सिद्धान्त यदि निर्भ्रान्त निकलते हैं, अर्थात् यदि वे लोग सही नतीजे पर पहुँच जाते हैं, तो इनाम पाते हैं, नहीं तो "फ़ेल" होने से हानि

उठाते हैं। अपने माल की पैदावार और खप के अन्दाज़ के जानने की ज़रूरत सिर्फ़ व्यापारी और कारीगर को ही नहीं, किन्तु फुटकर माल बेचनेवाले छोटे छोटे दूकानदारों को भी है। इस तरह का अन्दाज या अनुमान बाज़ार से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी बातों के जानने और समाज-शास्त्र के कुछ व्यापक सिद्धान्तो को बिना सोच विचार के चुपचाप कबूल कर लेने ही से हो सकता है। जितने दुकानदार हैं—चाहे छोटे हों चाहे बड़े—उनको जैसे जैसे इन बातों का ठीक अन्दाज़ मिलता जायगा कि आगे किस चीज का कितना खप होगा और थोक बिक्री करने में कौन चीज किस भाव बिकेगी, वैसे ही वैसे उनकी दुकान चटकेगी और वैसे ही वैसे उन्हें लाभ भी होगा। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि किसी समाज के व्यापार-सम्बन्धी पेचीदा उद्योग-धन्धे से जिसका कुछ भी सरोकार हो उसके लिए उन तत्त्वो का ज्ञान बहुत ही ज़रूरी है जिनके आधार पर इस तरह के व्यवसायों में फेरफार होते रहते है।

४०—वैज्ञानिक विषयों का ज्ञान प्रायः हर आदमी के लिए ज़रूरी है; उसके न होने से बहुत बड़ी बड़ी हानियाँ उठानी पडती हैं।

इससे जो लोग खेती, कारीगरी और व्यापार मे लगे हुए है, अर्थात् जो लोग जुदा जुदा तरह का माल पैदा करते है, उसे मोल लेते या बेचते है, या उसे बिक्री के लिए बाहर भेजते हैं—उनके लिए विज्ञान-शास्त्र की किसी न किसी शाखा का ज्ञान बहुत ज़रूरी है। हर आदमी को, जो किसी तरह के उद्योग-धन्धे से कुछ भी—थोड़ा या बहुत, प्रत्यक्ष या परोक्ष—सरोकार रखता है (और ऐसे आदमी बहुतही कम हैं जिनका कुछ भी सरोकार नहीं), किसी न किसी तरह गणितशास्त्र, पदार्थविज्ञान और रसायनविद्या की बातों से ज़रूर काम पड़ता है। क्योंकि जितने व्यवसाय है उनमें काम आनेवाली एक भी चीज ऐसी नहीं जिसका कुछ न कुछ लगाव इन शास्त्रों से न हो। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि व्यवसायी आदमियों का समाज-शास्त्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। और बहुत सम्भव है कि प्राणिशास्त्र से भी उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। परोक्ष रीति से प्राणरक्षा करने ही का नाम अच्छी तरह उदरनिर्वाह करना है। इस उदर-निर्वाहक विद्या मे किसी आदमी का

कामयाब होना या न होना पूर्वोक्त शास्त्रों में से एक या एक से अधिक शास्त्रों के ज्ञान पर बहुत कुछ अवलम्बित है। अर्थात् इन शास्त्रों का जितना ही अधिक ज्ञान उसे होगा उतनी ही अधिक कामयाबी उसे होगी। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि इस तरह का शास्त्र-ज्ञान जैसा चाहिए वैसाही हर आदमी को होता है। नहीं, बहुत आदमियों को यह ज्ञान सिर्फ़ तजरिबे से प्राप्त होता है—काम करते करते, बिना शास्त्रों का अभ्यास कियेही, हो जाता है। क्योंकि जिसे हम काम सीखना कहते हैं वह उस विज्ञान या शास्त्र का सीखना है जो उस काम से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् उस काम के करने में जिसका काम पड़ता है। इस तरह की शिक्षा बहुत करके शास्त्र-शिक्षा नहीं कहलाती; पर लोग उसे शास्त्र-शिक्षा कहें या न कहें, अभ्यास उसका ज़रूर होता है। किसी काम में पड़ जाने से उस काम से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र का ज्ञान सहज ही में हो जाता है। इससे विज्ञान-शास्त्र की शिक्षा दो कारणों से बहुत ज़रूरी है—एक तो इस शिक्षा से लोग वैज्ञानिक काम अच्छी तरह करने के लिए धीरे धीरे तैयार हो जाते हैं; दूसरे तजरिबे से प्राप्त हुए वैज्ञानिक ज्ञान की अपेक्षा शास्त्रीय रीति से प्राप्त हुए ज्ञान का महत्त्व अधिक है। जिन चीज़ो को हम बनाते या पैदा करते हैं, अथवा जिन चीज़ों का हम व्यापार करते हैं, उन्हीं चीज़ों के सम्बन्ध का शास्त्रीय ज्ञान काफ़ी न समझना चाहिए—उतने ही से हमारा काम नहीं चल सकता। उनके सिवा और चीजों से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रीय ज्ञान की भी बड़ी ज़रूरत है। जो जिस काम को करता है उसी काम के "क्यों" "कैसे" और "किन्तु," परन्तु" को समझ लेने से उसे अपने को कृतार्थ मान लेना मुनासिब नहीं। उसे चाहिए कि वह दूसरी चीज़ों और दूसरे कामों के "क्यों", "कैसे" और 'किन्तु", "परन्तु" को भी ख़ूब समझ ले। तभी उसका काम अच्छी तरह चल सकेगा। क्योंकि कभी कभी दूसरी चीज़ों और दूसरे कामों के विषय के शास्त्रीय ज्ञान से भी बहुत काम निकलता है। इस समय वह ज़माना लगा है कि शराकत में व्यापार-धन्धा करने की चाल बहुत बढ़ गई है। बड़ी बड़ी कम्पनियाँ खड़ी करके लोग बड़े बड़े काम करते हैं। इस दशा में क़ुली कबाड़ियों को छोड़कर—मेहनत मज़दूरी करके किसी तरह पेट भरनेवालों को छोड़कर—और सब लोग अपने कारोबार के सिवा किसी न किसी दूसरे कारोबार में भी, हिस्सेदार होकर अपना रुपया लगाते

हैं। इस तरह के दूसरे कारोबार से जिन शास्त्रों का सम्बन्ध है उनका ज्ञान प्राप्त करने ही पर हिस्सेदारों का हानि-लाभ अवलम्बित रहता है। इस कारण ऐसे शास्त्रों का जानना हिस्सेदारो के लिए बहुत ही ज़रूरी बात है। लीजिए, एक कोयले की खान खोदने में न मालूम कितने हिस्सेदारों का रुपया डूब गया। कारण यह था कि उन लोगों को न मालूम था कि खान में लाल रंग के रेतीले पत्थर की एक तह थी जिसके नीचे कोयला नहीं निकलता। यह भूगर्भ-विद्या का एक सिद्धान्त है। पर इस खान के हिस्सेदार इस सिद्धान्त को न जानते थे। कितनेही आदमियों ने भाफ से चलनेवाले एंजिनों की जगह बिजली और चुम्बक से चलनेवाले एंजिन बनाने की कोशिशों करने में बेहद रुपया फूँक दिया। यदि ये लोग प्राकृतिक पदार्थों की शक्तियों के परस्पर-सम्बन्ध, रक्षण और तुल्यबलत्व आदि के नियम जानते तो इनका इतना रुपया व्यर्थ ख़र्च न होता और महाजनों के बही-खाते में जितना रुपया इनका जमा रह गया उससे कहीं अधिक जमा रहता। बहुत से आदमी ऐसे आविष्कारो की फ़िक्र में अपना बहुत सा समय, श्रम और रुपया व्यर्थ खोते हैं जिनका सिद्ध होना बिलकुलही असम्भव है और जिनकी असम्भवनीयता वैज्ञानिक विषयों का नया अभ्यास करनेवाले विद्यार्थी तक समझ सकते है। पर विज्ञान-शास्त्र का ज्ञान न होने के कारण ऐसे आविष्कारों के लिए भी लोगों को रोज़ उत्तेजना दी जाती है। शायदही कोई शहर ऐसा हो जहाँ किसी न किसी अघटनीय और असम्भव काम को कर दिखाने की खटपट में लोगों ने व्यर्थ रुपया न फूँका हो।

४१—भविष्यत में वैज्ञानिक शिक्षा की और भी अधिक ज़रूरत।

वैज्ञानिक विषयों का ज्ञान न होने से जब पहलेही से इतनी बड़ी बड़ी हानियाँ हुई हैं, और इतना जल्द जल्द हुई हैं, तब जो लोग अब भी इन विषयों के ज्ञान से वञ्चित रहेंगे उनकी हानि का क्या ठिकाना है? उनकी हानि तो और भी अधिक, और, और भी जल्द जल्द होगी। व्यापार की चीज़ें पैदा करने और बनाने के कामों में इस समय इतनी प्रतियोगिता-इतनी चढ़ा ऊपरी—हो रही है, और शराकत के कामों की इतनी अधिक वृद्धि हो रही है कि विज्ञान-शास्त्र का उपयोग हर रोज़ बढ़ता जाता है। यह चढ़ा ऊपरी, और कंपनियाँ खड़ी करके शराकत की पूँजी से कारोबार करने

की चाल, जैसे जैसे बढ़ती जायगी तैसेही तैसे शास्त्रीय ज्ञान की ज़रूरत भी बढ़ती जायगी। मतलब यह कि इस ज़माने में शास्त्रीय विषयों के ज्ञान बिना लोगों का घड़ी भर भी गुज़ारा नहीं हो सकता।

४२—मदरसों की दूषित शिक्षा-प्रणाली, उनमें परमोपयोगी वैज्ञानिक शिक्षा का अभाव, पर निरर्थक ऊटपटांग बातों की शिक्षा का प्राबल्य।

यहाँ तक जो कुछ लिखा गया उससे सिद्ध है कि जो विषय मदरसों में प्रायः बिलकुलही नहीं पढ़ाये जाते उन्हीं से हम लोगों को व्यवहार में सबसे अधिक काम पड़ता है। मदरसों में जितनी शिक्षा दी जाती है उतनी को पूरी हुई समझलेने के बाद, यदि लोग किसी पेशे की शिक्षा यथासम्भव प्राप्त करने का प्रयत्न शुरू न कर देते, तो आज हमारे सारे कल-कारख़ाने और पेशे बन्द हो जाते। और निज के तौर पर अभ्यास करके यदि हम लोगों को अपने पूर्वजों के प्राप्त किये हुए ज्ञान की प्राप्ति वंश-परम्परा से न होती तो एक भी कल-कारख़ाना अस्तित्व में न आता, एक भी पेशे की बुनियाद न पड़ती, एक भी दस्तकारी देखने को न मिलती। मदरसों में जो शिक्षा दी जाती है उसे छोड़ कर यदि और कोई शिक्षा न मिलती तो इँगलैंड आज भी उसी स्थिति में होता जिस स्थिति में वह पहले विलियम के समय में, ग्यारहवीं शताब्दी में, था। जिन नियमों के अनुसार इस सृष्टि की रचना और संचालना होती है उनका पुश्त दर पुश्त अधिक अधिक ज्ञान होते रहने से अब हम लोग प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग अपने प्रायः सभी ज़रूरी कामों में करने लगे हैं। इसी से इस ज़माने में एक मामूली मज़दूर को भी जो सुख और जो आराम मिलता है वह सौ दो सौ साल पहले बड़े बड़े राजाओं को भी मिलना असम्भव था। यह सुख—यह आराम—उस शिक्षा-प्रणाली की बदौलत नहीं मिलता जो इस समय हमारे नवयुवकों को शिक्षित बनाने के लिए मदरसों में जारी है। जिस ज़रूरी शिक्षा की बदौलत हम लोग जातीयता के इस ऊँचे दरजे को पहुँच गये हैं, जिस ज़रूरी शिक्षा के प्रसाद से हम लोगों के देश की गिनती प्रबल और प्रतापी देशों में होने लगी है, और जिस ज़रूरी शिक्षा की कृपा से हमारे जातीय

जीवन की जड़ जमी है उसीको हमने किसी कोने-काने में प्राप्त किया है, किताबें पढ़कर नहीं । अफ़सोस है कि इस तरह की ज़रूरी शिक्षा तो लोगों को इधर उधर मिले और शिक्षा के प्रधान स्थल मदरसों में ऊटपटाँग की निरर्थक बातें सिखलाई जायें । शाबाश, मदरसों की इस शिक्षा-प्रणाली की क्या बात है !

४ ३—वर्तमान पाठ्यपुस्तकों में बाल-बच्चों के पालन-पोषण आदि की शिक्षा न देख कर भावी पुरातत्त्ववेत्ता इस अभाव का क्या कारण समझेंगे ।

अब हम मनुष्य-जीवन के कामों में से तीसरे भाग की तरफ़ झुकते हैं। दो बड़े बड़े भागों, कामों या व्यवसायों का विचार यहाँ तक हो चुका । यह तीसरा विभाग या वर्ग ऐसा है जिसके सम्बन्ध का कर्तव्य-पालन करने के लिए बिलकुलही तैयारी नहीं की जाती । इस वर्ग का सम्बन्ध बाल-बच्चो के पालन-पोषण से है। यह कर्तव्य बहुत बड़े महत्त्व का है; पर इसके महत्त्व का कोई ख़याल नहीं करता—इसके पूरा करने के लिए कोई तैयार नहीं रहता। कल्पना कीजिए कि किसी अघटित घटना के कारण भविष्यत् में होनेवाले हमारे वंशजों को, स्कूली किताबों के एक ढेर और परीक्षाप्रश्नों के परचों के एक विशाल बंडल के सिवा, हमारी और कोई यादगार नहीं पहुँची । इस दशा में, यदि उस ज़माने का कोई पुरातत्त्ववेत्ता इन किताबों और परचो की जाँच करेगा, तो उसे यह देखकर कितना आश्चर्य होगा कि जिन विद्यार्थियों के ये परचे और पुस्तकें हैं वे क्या आमरण ब्रह्मचारी बने रहने के लिए तैयार हो रहे थे ? क्या वे गृहस्थ हो कर बाल-बच्चेदार होने की इच्छा नहीं रखते थे ? यदि रखते थे तो फिर क्यों इन पुस्तकों और इन परचों में बच्चों के पालन-पोषण से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का कोई ज़िक्र नहीं ? उसे यही दृढ़ विश्वास होगा कि इन बचो या नवयुवको ने मरण-पर्यंत विवाह न करने का प्रण किया था । अन्त में वह अपने सिद्धान्त इस तरह निश्चित करेगा:—"इन लोगों ने बहुत से विषयों के सीखने की ख़ूब तैयारी की थी । इसमें सन्देह नहीं । क्योंकि यह बात इन पुस्तको और परचों से बख़ूबी साबित है । जिन मनुष्य-जातियों का समूलही नाश हो गया था उनकी, और अन्य वर्तमान जातियों की भी, बनाई हुई किताबें पढ़ने का इन

लोगों को बड़ा शौक़ था। अन्य जातियों की विलुप्त या विद्यमान भाषाओं पर इनकी बड़ी भक्ति थी। इससे निःसन्देह मालूम होता है कि इन लोगों की निज की भाषा में बहुत कम पुस्तकें पढ़ने के लायक़ थीं। परन्तु सबसे बढ़कर अचरज इस बात का ख़याल करके होता है कि बाल-बच्चों के पालन, पोषण और विद्याभ्यास इत्यादि का कहीं नाम को भी इन पुस्तकों में ज़िक्र नहीं। जाँच से तो यही मालूम होता है कि ये लोग इतने मूर्ख न थे कि इस बहुत बड़े महत्त्व के विषय को न समझ सकते। इससे लाचार होकर यही कहना पडता है कि ये पाठ्य पुस्तकें उस ज़माने के मठवासी महन्तों ने आमरण ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करनेवाले विद्यार्थियों ही के लिए बनाई थीं"।

४४—सन्तति के भरण-पोषण और विद्याभ्यास से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा का आश्चर्य्य-जनक अभाव।

बच्चों का जीवन या मरण, सुख या सर्वनाश, हित या अहित, सारी बातें उनको लड़कपन में दी गई शिक्षाही पर अवलम्बित रहती हैं। तिस पर भी जो लोग थोड़ेही दिनों में बच्चो के माँ-बाप बननेवाले हैं, अर्थात् जो विवाह हो जाने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाले हैं, उनको बाल-बच्चों के पालने और उन्हें शिक्षा देने के विषय में, भूल कर भी कभी एक शब्द तक नहीं सिखलाया जाता। क्या यह बहुत बड़े आश्चर्य्य की बात नहीं? क्या यह बहुत ही अद्भुत और चमत्कार-कारिणी घटना नहीं? क्या यह बहुतही विलक्षण पागलपन नहीं कि भावी सन्तति का भाग्य अविचार से भरी हुई पुरानी चाल, प्रवृत्ति, अटकल, मूर्ख दाइयों की सलाह और घर की अन्ध-परम्परा-भक्त बड़ी बूढ़ियों की समझ पर छोड़ दिया जाय? हिसाब-किताब और बही-खाते का कुछ भी ज्ञान न रखनेवाला कोई व्यापारी यदि कारोबार शुरू कर दे तो हम उसकी मूर्खता का ढोल पीटने लगेंगे और बहुत जल्द उसके तबाह होने की ख़बर सुनने की आशा करेंगे। अथवा शरीर-शास्त्र का अभ्यास किये बिना ही यदि कोई चीर-फाड़, अर्थात् जर्राही, का काम आरम्भ करदे तो हमें उसकी ढिठाई पर अचम्भा होगा और उसके रोगियों पर दया आवेगी। परन्तु जो मानसिक, नैतिक और शारीरिक सिद्धान्त इस विषय के आदर्श हैं उनका ज़रा भी विचार न करके, उन पर

कुछ भी ध्यान न देकर—बालबच्चों के पालन-पोषण और विद्याभ्यास आदि कठिन काम यदि माँ-बाप शुरू करदें तो हमें न तो उनकी करतूत पर आश्चर्य्य ही होता है, और न उनके अन्याय की पात्र उनकी सन्तति पर दया ही आती है।

४५—सन्तति की शरीर-रक्षा के सम्बन्ध में माँ-बाप की लापरवाही और उससे होनेवाले भयङ्कर परिणाम।

आरोग्य-रक्षा के नियम माँ-बाप को न मालूम रहने से उनके बाल-बच्चों को जो भोग भुगतने पड़ते हैं, उनकी जो दुर्गति होती है, उन पर जो आफ़तें आती हैं, उनका ठौर ठिकाना नहीं। हजारों बच्चे तो माँ-बाप की असावधानी और मूर्खता के कारण पैदा होते ही मर जाते हैं। जो बचते हैं उनमें लाखों अशक्त, निर्बल और जन्म-रोगी होते हैं। और करोड़ों ऐसे नीरोग और सशक्त नहीं होते जैसे होने चाहिए। अब इन सबको आप जोड़ डालिए तो आपको मालूम हो जायगा कि माँ-बाप की नादानी के कारण सन्तति को कितनी हानि उठानी पड़ती है, कितना दुख सहना पड़ता है, कितनी आपदाओं का सामना करना पड़ता है। लड़कपन में लड़के जिस तरह रक्खे जाते हैं और जिस तरह की शिक्षा उन्हें दी जाती है उसी के अनुसार जन्म भर उनको सुख-दुःख मिलता है—यदि अच्छी शिक्षा मिली, यदि वे अच्छी तरह रक्खे गये, तो उन्हें जन्म भर सुख मिलता है, नहीं तो दुःख। पर ज़रा इस बात का तो ख़याल कीजिए कि आज कल लड़के किस तरह पाले-पोसे जाते हैं। इस समय हम लोग जिस तरह लड़कों को रखते हैं और जिस तरह की शिक्षा उन्हें देते हैं उसमें यदि एक गुण है तो बीस दोष। इन बातों का असर हर घड़ी लड़कों पर पड़ता है। लड़कपन में लड़कों के पालन-पोषण और शिक्षण में अविचार से काम लेने, और महत्त्व की बातों को दैवगति या भाग्य के भरोसे छोड़ देने से जो हानि होती है उसका अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। इस तरह का अविचार—इस तरह की बेपरवाही—आज कल यहाँ सब कहीं प्रचलित है। इन सब बातों पर ख़याल करने से जो हानि लड़कों को पहुँच रही है उसका थोड़ा बहुत अंदाज आपको ज़रूर हो जायगा। कोई इस बात का विचार नहीं करता कि पायदार मज़बूत और ख़ूब गरम कपड़े पहने बिना लड़कों को

सरदी मे बाहर खेलने कूदने देना, श्रौर सरदी के कारण उनके हाथ पैरों का फटना, अच्छा है या नहीं। पर इसका विचार करना बहुत ज़रूरी बात है; क्योंकि इन बातों से लड़कों के भावी सुख-दुःख का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इस तरह की वेपरवाही के कारण या तो लड़के बीमार रहा करते हैं, या उनकी बाढ़ रुक जाती है, या काम करने की शक्ति घट जाती है, या तरुण होने पर जितना बल उनके बदन में होना चाहिए उतना नहीं होता। इसका फल यह होता है कि कोई काम अच्छी तरह नहीं हो सकता—उसमे पूरी कामयाबी नहीं होती—श्रौर लड़कों के भावी सुख में बाधा आती है। इसका कारण क्या है? हमारा अविचार, हमारी नादानी, हमारी बेपरवाही! श्रौर कुछ नहीं। लड़कों को जो एक ही तरह का श्रौर कम बलवर्द्धक खाना खिलाया जाता है वह क्या उनको सज़ा देने के इरादे से खिलाया जाता है? इस तरह का खाना खाने से, बड़े होने पर, उनका शारीरिक बल जरूर कुछ कम हो जाता है श्रौर पुरुषत्व के काम करने की योग्यता मे भी थोड़ा बहुत विघ्न ज़रूर आ जाता है। क्या लड़कों के लिए कोलाहलकारी श्रौर दौड़-धूप के खेल-कूद मना हैं? या बदन पर काफ़ी कपड़े न होने के कारण जाड़े की ऋतु में वे इसलिए बाहर नहीं निकलने पाते कि कहीं उनको सरदी न हो जाय? कुछ भी हो, इस तरह घर के भीतर बन्द रहने से उनके आरोग्य में ज़रूर बाधा आती है श्रौर उनकी शारीरिक शक्ति भी ज़रूर थोड़ी बहुत क्षीण हो जाती है। तरुण होने पर भी लड़के श्रौर लड़कियों को रोगी श्रौर अशक्त देखकर माँ-बाप बहुधा अपना दुर्भाग्य या एक प्रकार का ईश्वरीय कोप समझते हैं। अथवा आज कल लोगों की जैसी बेढँगी समझ है उसके अनुसार वे यह कल्पना कर लेते हैं कि ये बातें अपने हाथ में नहीं—ये आपदायें बिना कारणही पैदा हो गई हैं; या यदि किसी कारण से हुई हैं तो उसका उत्पादक ईश्वर है; उसे दूर करना आदमी के बस की बात नहीं। परन्तु इस बात को कौन समझदार आदमी न क़बूल करेगा कि इस तरह की तर्कना पागलपन है? यह निःसन्देह सच है कि कभी माँ-बाप के दुर्गुणों श्रौर रोगों का फल सन्तान को भी भोग करना पड़ता है, अर्थात् माँ-बाप में जो दोष होते हैं वे कभी कभी सन्तान को भी हो जाते हैं, परन्तु बहुधा पालन-पोषण में माँ-बाप की नादानी ही के कारण लड़कों को बीमारियाँ हो जाया करती हैं, श्रौर, फिर, जन्म भर उनकी तबीयत अच्छी नहीं

रहती। इस सारे दुख-दर्द के, इस सारी निर्बलता के, इस सारी आपदा के, इस सारी उदासीनता के ज़िम्मेदार बहुत करके माँ-बाप ही होते हैं। माँ-बाप ने अपने बालबच्चों की जान को हर घड़ी अपने क़ाबू में रखने का ठेका सा ले लिया है—उनको खिलाने, पिलाने और शिक्षा देने का भार उन्होंने हर घड़ी अपने ही ऊपर रक्खा है। पर ज़िन्दगी से सम्बन्ध रखनेवाली जिन बातों में वे अविचारों से भरी हुई आज्ञायें देकर और रुकावटें पैदा करके बराबर उलट फेर किया करते हैं, उन बातों का ज्ञान प्राप्त करने में उन्होंने बहुत बड़ी निर्दयतापूर्ण बेपरवाही की है। उन्हें सीखने की ज़रा भी कोशिश उन्होंने नहीं की। आरोग्य-रक्षा और शरीर-शास्त्र के बहुत ही सीधे सादे नियमों का भी ज्ञान प्राप्त न करने के कारण वे अपने बच्चों के आरोग्य को—उनके शारिरिक बल को—बराबर क्षीण करते चले जा रहे हैं; हर साल उसे अधिकाधिक कम करते चले जा रहे हैं। इस तरह की निर्दयता और नादानी के कारण वे अपनी सन्तति ही को नहीं, किन्तु सन्तति की भावी सन्तति को भी बीमारी के घर और अकाल-मृत्यु के मुँह में फेंक रहे हैं।

४६—स्त्रियों को बच्चों के पालने-पोसने से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा न मिलने से हानियाँ।

जब हम आरोग्य-शिक्षा से आगे बढ़कर नैतिक शिक्षा की तरफ़ आते हैं तब वहाँ भी हम इसी तरह की नादानी और अज्ञानता देखते हैं। वहाँ भी हमें माँ-बाप की बेपरवाही और मूर्खता के उदाहरण मिलते हैं। लड़कपन में बच्चों के पालन-पोषण का भार सिर्फ़ माँ-बाप पर रहता है। इससे उनको सबसे पहली शिक्षा माँ से ही मिलनी चाहिए। अब ज़रा कमउम्र माँ, और उसके बच्चों को खिलाने पिलानेवाली दाई, की योग्यता का विचार कीजिए। माँ के जारी किये हुए क़ानूनों पर तो ज़रा ध्यान दीजिए। अभी थोड़ेही साल हुए कि वह मदरसे में पढ़ती थी। वहाँ उसके दिमाग़ में हज़ारों शब्द, नाम और तारीख़ें कूट कूट कर भरी गई थीं। दिन रात उसने उन्हें रट रट कर याद किया था। उसे किसी बात के सोचने या समझने का शायद कभी मौका ही नहीं दिया गया। अर्थात् उसकी विचार-शक्ति को ज़रा भी प्रौढ़ता नहीं प्राप्त हुई। लडकों के कोमल मन को किस तरह की शिक्षा देनी चाहिए—इस विषय का एक शब्द भी वहाँ उसको नहीं

सिखलाया गया। इस दशा में ख़ुद कोई नई शिक्षा-प्रणाली सोचकर निकालने की तो बात ही नहीं। उसे इस तरह की शिक्षा का गन्ध भी मदरसे में नहीं मिला। फिर वह बेचारी बाल-शिक्षा की नई तरकीब निकाले कैसे? यह तो मदरसे की शिक्षा का हाल हुआ। मदरसा छोड़ने और विवाह होने के बीच के वक़्त में भी सन्तति के पालन पोषण की शिक्षा उसे नहीं मिली। वह वक़्त गाने-बजाने, बेल-बूटे काढ़ने, क़िस्से-कहानियों की किताबें पढ़ने और आज इसके यहाँ कल उसके यहाँ जलसों और दावतों में शरीक होने में गया। इस समय तक उसने इस बात का कुछ भी विचार नहीं किया कि लड़के-बाले होने पर उस पर कितनी बड़ी ज़िम्मेदारी आ पड़ेगी। जो मानसिक शिक्षा इस तरह की ज़िम्मेदारी उठाने में स्त्री को थोड़ी बहुत मदद पहुँचाती है उस शिक्षा का शायद ही कुछ अंश कभी उसे मिला हो। अब देखिए उसी पर एक ऐसे प्राणी के पालने-पोसने और शिक्षित करने का भार आ पड़ा जिसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ प्रति दिन बढ़ती रहती हैं। ज़रा इस नादानी पर तो ध्यान दीजिए कि जिस काम का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं, जिसे वह बिलकुल ही नहीं जानती, उसी को अब उसे करना है। और काम भी ऐसा, जो उस विषय का पूरा पूरा ज्ञान होने पर भी, अच्छी तरह नहीं हो सकता। पर इसी महाकठिन काम के करने का बीड़ा, माँ के नये पद को पानेवाली इस युवती को उठाना पड़ा। ऐसी माँ को ऐसा कठिन काम करने में कहाँ तक कामयाबी हो सकती है, इसका फ़ैसिला पाठक ही करें। वह इस बात को बिलकुल नहीं जानती कि मनोवृत्तियाँ किस तरह की होती हैं। उनकी कैफ़ियत क्या है। वे किस तरह बढ़ती हैं और किस तरह एक दूसरी के बाद पैदा होती हैं। उनका काम क्या है। उनका उपयोग कहाँ आरम्भ होता है और कहाँ समाप्त। वह यह समझती है कि कोई कोई मनोवृत्तियाँ सर्वथा बुरी हैं और कोई कोई सर्वथा भली। पर यह समझ उन वृत्तियों में से एक के विषय में भी ठीक नहीं। यह ख़याल बिलकुल ही ग़लत है कि कोई कोई वृत्ति सर्वथा बुरी और कोई कोई सर्वथा अच्छी होती है। फिर एक और बात भी ध्यान देने लायक़ है। जिस शरीर के पालने-पोसने की ज़िम्मेदारी उस पर है उस शरीर की बनावट से वह जैसे अनभिज्ञ होती है वैसे ही जुदा जुदा दवाइयों और चिकित्साओं का जो असर उस शरीर पर पड़ता है उससे भी

वह अनभिज्ञ होती है—उसका भी ज्ञान उसे नहीं होता। इन बातों के न जानने से बच्चों को हर घड़ी जो कष्ट भोगने पड़ते हैं—उन पर हर घड़ी जो आफ़तें आती हैं—वे बहुत ही भयङ्कर हैं। इस अज्ञान के कारण जो परिणाम होते हैं उनको हम प्रति दिन अपनी आँखों से देखते हैं। वे छिपे नहीं हैं। उनसे अधिक हानिकारक परिणाम और क्या हो सकते हैं? माँ को न तो यही ज्ञान होता है कि कौनसी मानसिक वृत्तियाँ भली हैं और कौनसी बुरी। और न उसे उन वृत्तियों के कारण और परिणाम ही का ज्ञान होता है। अतएव मनोवृत्तियों के रोकने या उनके काम में विघ्न डालने से जो हानि बहुधा होती है वह हानि उससे कहीं बढ़कर है जो भले बुरे की परवा न करके उन्हें यथेच्छ अपना काम करने देने से हो सकती है। अर्थात् यह प्रवृत्ति भली है या बुरी, इसका विचार न करके बच्चे को अपनी इच्छा के अनुसार रहने देने से उतनी हानि नहीं होती जितनी कि बहुधा वेसमझे बूझे उसकी किसी प्रवृत्ति को—उसके मनके किसी झुकाव को—बुरा समझ कर रोकने से होती है। बच्चे को जिन कामों के करने की आदत होती है, और जिनसे उसे लाभ के सिवा हानि हो भी नहीं सकती, उनको करने से वह उसे रोकती है। वह समझती है कि ऐसे कामों से बच्चे को हानि पहुँचेगी। वह नहीं जानती कि उसका रोकनाही हानिकर है। इस तरह की रुकावट से बच्चा ना.खुश रहता है, वह चिड़चिड़ा हो जाता है, और लाभ के बदले उसे जरूर हानि पहुँचती है। बच्चे के साथ इस तरह पेश आने से माँ-बेटे में वैमनस्य हो जाता है और परस्पर जैसा स्नेह रहना चाहिए नहीं रहता। जिन कामों को माँ अच्छा समझती है उन्हें वह धमकी या लालच देकर बच्चे से कराती है। अथवा वह बच्चे को यह सुझाती है कि ये काम करने से सब लोग तुम पर .खुश होंगे और तुम्हारी तारीफ़ करेंगे। इस तरह वह उससे वे काम कराती है। बच्चे के मन की वह बिलकुल परवा नहीं करती। ऊपरी मन से यदि बच्चे ने उसका कहना मान लिया तो इतनेही से वह कृतार्थ होजाती है। वह समझती है कि बस मेरा कर्तव्य हो चुका। इस तरह के वर्ताव से बच्चे को कोई अच्छी शिक्षा तो मिलती नहीं—वह कोई अच्छी बातें तो सीखता नहीं—हाँ दम्भ, डर और .खुदग़रज़ी की शिक्षा उसे मिल जाती है। एक तरफ़ तो वह बच्चे को सच बोलने की शिक्षा देती है, दूसरी तरफ़ वह .खुद अपने ही वर्ताव से

झूठ के नमूने उसके सामने रखती है। वह बच्चे से कहती है कि यदि तुम सच न बोलोगे तो मै तुमको यह सज़ा दूँगी, वह सज़ा दूँगी। पर जब बच्चा झूठ बोलता है तब अपने कहने के मुताबिक़ वह सज़ा नहीं देती। यह झूठ का नमूना नहीं है तो क्या है? यही नमूना लड़कों को झूठ बोलना सिखला देता है। एक तरफ़ तो वह यह सिखाती है कि आदमी को आत्म-संयमन करना चाहिए—अपने आपको क़ाबू में रखना चाहिए—दूसरी तरफ़ ज़रा ज़रा सी बात के लिए वह अपने छोटे छोटे बच्चो पर बिगड़ उठती है और क्रोध करती है। क्या इसी का नाम आत्मसंयमन है? जिस तरह बड़े होने पर संसार के सारे व्यवसायों में भले-बुरे कामों का भला-बुरा परिणाम होने देना शिक्षा का सबसे अच्छा तरीक़ा है—स्वाभाविक रीति पर ऐसे परिणामों से फिर चाहे जितना सुख या दुख हो – उसी तरह बच्चों को सुमार्गगामी बनाने के लिए उनको लड़कपन में जो शिक्षा दी जाय उसमें भी इसी तरीक़े से काम लेना चाहिए और बच्चों के भले-बुरे कामों का भला या बुरा परिणाम होने देना चाहिए। परन्तु बेचारी माँ को इस तरह की शिक्षा के तरीक़े का स्वप्न में भी ख़याल नही होता। कार्य्य-कारण-भाव का निश्चय न होने से, अर्थात् बच्चों के पालन-पोषण से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा यथाशास्त्र न प्राप्त करने से, और बच्चों के मन के जुदा जुदा भावों का ज्ञान न होने के कारण उन भावों के अनुसार बच्चों के साथ बर्ताव करने का सामर्थ्य उसमें न होने से, वह मनमाने तरीक़े से उन्हें रखती है। आज वह अपने बच्चों से एक तरह का बर्ताव करती है, कल और तरह का। जो उसके मन मे आता है वही उसका क़ानून है। उसीके अनुसार वह बच्चों का शासन करती है—उसीके अनुसार वह उन पर हुकूमत करती है। इससे बहुत बड़ी हानि होती है। परन्तु बच्चो की समझ जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे उनके मन की वृत्ति मनुष्य-जाति के स्वभाव-सिद्ध नैतिक भावों की तरफ़ अधिक अधिक झुकती जाती है। इससे छोटी मोटी विपरीत बातों का असर बच्चों पर कम पड़ता है और जितना बिगड़ते हुए वे मालूम होते हैं उतना नहीं बिगड़ते। यदि बच्चों में यह वृत्ति स्वभाव-सिद्ध न होती तो माँ के ऐसे अशास्त्रीय और अनुचित शिक्षण के कारण वे बरबाद होने से न बचते—माँ का ऐसा अन्यायपूर्ण क़ानून उनको संसार मे किसी काम का न रखता।

४७—लड़कों की बुद्धि-विषयक शिक्षा की उचित रीति से माँ-बाप की अनभिज्ञता और उस के बुरे परिणाम ।

अच्छा अब बच्चों की बुद्धि-विषयक शिक्षा का विचार कीजिए। क्या इस शिक्षा के सम्बन्ध में भी गड़बड़ नहीं है ? क्या इसका भी प्रबन्ध वैसा ही ख़राब नहीं है ? मान लीजिए कि बुद्धि-विषयक सब बातें यथानियम होती हैं। मान लीजिए कि बच्चों की बुद्धि का विकास भी नियमानुसार ही होता है। अतएव मानना पड़ेगा कि बिना इन नियमों का ज्ञान हुए बच्चों की शिक्षा अच्छी तरह नहीं हो सकती। जिस तरीक़े से बच्चों को ख़याल करना और ख़यालात को इकट्ठा करके उन्हें याद रखना सिखलाया जाता है उस तरीक़े का पूरा ज्ञान हुए बिना ये काम अच्छी तरह नहीं हो सकते। बिना इस ज्ञान के शिक्षा को सम्भव समझना निरा पागलपन है। पर, आज कल, दो ही चार शिक्षक ऐसे होंगे जो मनोविज्ञान का कुछ भी ज्ञान रखते होंगे। और, माँ-बाप की तो बातही न पूछिए, उनमें तो शायदही किसी की पहचान इस शास्त्र से होगी। जिस शास्त्र में मन के गुण-धर्म्म और उसकी शक्तियों का विचार किया गया है उसीकी जब यह दशा है, तब कैसे सम्भव है कि मानसिक नियमों का ख़याल रखकर बच्चों को शिक्षा दी जा सके। अतएव जैसी शिक्षा बच्चों को मिलनी चाहिए, और जैसी मिल रही है, उस में आकाश-पाताल का अन्तर है। शिक्षा की जो प्रणाली इस समय प्रचलित है वह बहुत ही दूषित और बहुतही शोचनीय है; और होनी ही चाहिए, क्योंकि सब सामान ही वैसा है। यही नहीं कि जो शिक्षा दी जाती है वही दूषित है; नहीं जिस तरीके से वह दी जाती है वह तरीक़ा भी दूषित है। जिन बातों की शिक्षा दी जानी चाहिए उनकी तो दी नहीं जाती; दी जाती है व्यर्थ, अनुपयोगी और अनुचित बातों की। फिर जो ऊटपटाँग बातें लड़कों के दिमाग़ में जबरदस्ती भरी जाती हैं वे ठीक क्रम से भी नहीं भरी जातीं। न शिक्षा ही ठीक है, न क्रम ही ठीक है, न तरीक़ा ही ठीक है। कुछ भी ठीक नहीं। न उचित शिक्षा ही का प्रबन्ध है, न उचित क्रम ही का प्रबन्ध है; और न उचित तरीके ही का प्रबन्ध है। माँ-बाप समझते हैं कि किताबों से जो ज्ञान प्राप्त होता है - जो शिक्षा मिलती है—बस वही विद्या है। विद्या

की सीमा वे इतनी ही परिमित समझते हैं। इसी ख़याल से वे अपने छोटे छोटे बच्चों के हाथ में, समय से बरसों पहले ही, किताबें पकड़ा देते हैं। इससे उनकी हानि होती है। शिक्षक लोग यह नहीं समझते कि किताबें शिक्षा प्राप्त करने का गौण साधन हैं। वे प्रधान साधन नहीं। उनसे जो शिक्षा मिलती है वह प्रत्यक्ष शिक्षा नहीं, अप्रत्यक्ष है। जब प्रत्यक्ष साधनों की सहायता से शिक्षा न मिल सकती हो तभी अप्रत्यक्ष-साधनी-भूत किताबों की सहायता लेनी चाहिए। सीधे-सादे तरीक़े से प्रत्यक्ष शिक्षा मिलना असम्भव होने पर ही किताबों से शिक्षा प्राप्त करना मुनासिब कहा जा सकता है। जिन चीज़ों को आदमी ख़ुद न देख सके उन्हीं को उसे दूसरों की आँखों से देखना चाहिए। इसी तरह जिस शिक्षा को लड़के प्रत्यक्ष रीति से ख़ुद ही न प्राप्त कर सकते हों उसी के लिए उन्हें किताबों की मदद पहुँचाना मुनासिब है। किताबों से कुछ सीखना मानो दूसरों की आँखों से देखना है। पर इस बात को शिक्षक बिलकुल ही भूल जाते हैं। इस पर वे ध्यान ही नहीं देते। इसी से प्रत्यक्ष रीति से जानी जाने लायक़ बातों को भी वे अप्रत्यक्ष रीति से लड़कों को सिखलाते हैं। थोड़ी उम्र मे जो ज्ञान लड़कों को आपही आप होता रहता है वह बड़े महत्त्व का है—वह अनमोल है। लड़कपन में लड़कों की बुद्धि बहुत शोधक होती है। बुद्धि की यह शोधकता—ज्ञान प्राप्त करने की यह लालसा—उनमें स्वाभाविक होती है। वह आपही आप पैदा होती है; पर शिक्षक महाशय इस स्वभावसिद्ध ज्ञान-लिप्सा पर धूल डालते हैं। लड़कपन में बच्चे बड़े कौतूहल और ध्यान से हर एक बात को देखते और उसके विषय में पूछपाछ करते हैं। उनके कौतूहल का निवारण न करके उसे रोक देना या सुनी अनसुनी कर जाना बहुत बुरा है। उनकी ज्ञान-लिप्सा का प्रतिबन्ध करना बहुत हानिकारी है। प्रतिबन्ध न करके उसे और उत्तेजना देनी चाहिए। लड़के जिस बात को पूछें उसे बताना चाहिए। वे जिस चीज़ के विषय मे कोई बात जानना चाहें उसका यथासम्भव पूरा पूरा और सच्चा हाल उनसे कहना चाहिए। परन्तु शिक्षक ऐसा नहीं करते। वे करते क्या हैं कि जो बातें लड़कों की समझ के बाहर हैं, और जिनको सीखना उन्हें नागवार मालूम होता है, उन्हीं को लड़कों की आँखों के सामने लाने और उनके दिमाग़ मे भरने का यत्न करते हैं। वे ऐसी बातें लड़कों को सिखलाने की कोशिश करते हैं जिन्हें सीखने में

न तो लड़कों का मनही लगता है और न वे उन्हें समझही सकते हैं। शिक्षकों का मन अन्धभक्ति या अन्ध-परम्परा में डूबा रहता है; उनकी प्रेरणा से वे प्रत्यक्ष विद्या का आदर नहीं करते; करते हैं विद्या की तसवीर का—विद्या के प्रतिविम्ब का। उनके हृदय में नक़लीही शिक्षा की भक्ति की तेज़ी अधिक होती है। इससे उनको यह नहीं सूझता कि जब घर, द्वार, खेत, खलिहान, गली, कूचे आदि में देख पड़नेवाली चीजों का ज्ञान अच्छी तरह हो जाय तभी इनके आगे की चीजों का ज्ञान प्राप्त करने की साधन किताबें लड़कों के हाथ में देनी चाहिए। वे नहीं जानते कि नये नये तरीक़ों से घर और पास-पड़ोस से दूर की चीजों का ज्ञान प्राप्त करने का वही उपयुक्त समय है। उसके पहले लड़कों के हाथ मे किताबें देने की कोई जरूरत नहीं। इस तरीक़े से शिक्षा देना सिर्फ़ इस कारण से ही मुनासिब नहीं, कि अप्रत्यक्ष रीति से प्राप्त हुए ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष रीति से प्राप्त हुआ ज्ञान अधिक मूल्यवान है; किन्तु इस कारण से भी मुनासिब है कि जिन चीजो की शिक्षा लड़कों को दी जाने को है उनका तजरिबा पहलेही से उनको जितना अधिक होगा, किताबें पढ़ते समय उन चीजो का बयान भी उनकी समझ में उतना ही अधिक आवेगा—उतनाही अधिक अच्छी तरह वे उन चीज़ो का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। एक दोष यह भी है कि यह रूढ़िप्राप्त या परम्परागत शिक्षा—यह रस्मी तालीम—बहुत जल्द शुरू करदी जाती है और जिन नियमों के अनुसार मन की शक्तियाँ बढ़ती जाती हैं उनकी कुछ भी परवा न करके यह जारी रक्खी जाती है। मानसिक शक्तियों में तो उन्नति होती जाती है, पर इस शिक्षा-प्रणाली में उन्नति नहीं होती। वह जैसी की तैसी जारी रहती है। मूर्त विषयों का ज्ञान पहले होना चाहिए अमूर्त विषयों का पीछे। जो चीज़ें आँखों के सामने रहती हैं उनसे सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा हो चुकने पर, उन चीजों की शिक्षा होनी चाहिए जो आँखों के सामने नहीं रहतीं। दृश्य विषयों की शिक्षा के बाद अदृश्य विषयों की शिक्षा देना मुनासिब है। ज्ञान-प्राप्ति में इसी क्रम से काम लेना चाहिए और सीधी-सादी बातों की शिक्षा से शुरू करके कठिन बातों की शिक्षा तक पहुँचना चाहिए। इस नियम की जरा भी परवा नहीं की जाती और अमूर्त और अत्यन्त कठिन विषयों की शिक्षा—उदाहरण के लिए व्याकरण की—जो बहुत पीछे शुरू होनी चाहिए, बिलकुल बचपन ही में शुरू करदी जाती है। इसी

तरह, बचपनही में भूगोलविद्या जिस क्रम से लड़कों को सिखलाई जाती है वह क्रम भी ठीक नहीं। राजकीय व्यवस्था के अनुसार जुदा जुदा देशों और खण्डों के जो विभाग होते हैं उनके नाम और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली शुष्क बातें बचपनही में रटा दी जाती हैं। इस तरह की मुर्दा बातें सीखने में लड़कों का मन नहीं लगता और उनका बहुत सा समय नष्ट जाता है। इन बातों को, कुछ दिन बाद, लड़कों के ज़रा बड़े होने पर, सिखलाना चाहिए। इनका सम्बन्ध समाज से है। अतएव सामाजिक शिक्षा के साथ इनकी शिक्षा होनी उचित है। इसतरह की भूगोल-विद्या तो इतना जल्द शुरू करदी जाती है, पर प्राकृतिक भूगोल, अर्थात् वह विद्या जिसमें पृथ्वी के आकार और रूप आदि का वर्णन रहता है और जिसके सीखने में लड़कों का मन लगता है, और जो उनकी समझ में भी आ सकती है, प्रायः नहीं सिखलाई जाती। उसे सिखलाने की बहुत कम कोशिश होती है। किसी विषय के सिखलाने का क्रम ठीक नहीं। जितने विषय हैं उनकी शिक्षा में नियमों की प्रायः बिलकुल ही परवा नहीं की जाती। कौन विषय किस क़ायदे से सिखलाना चाहिए, इस बात पर बहुधा कोई ध्यान नहीं देता। परिभाषा, व्याख्या, नियम और सिद्धान्त पहले ही सिखला दिये जाते हैं। पर जिन चीज़ों के विषय में ये बातें सिखलाई जाती हैं उनसे लड़कों की, तब तक, प्रत्यक्ष पहचान ही नहीं होती—वे उन्हें देखही नहीं पाते। चाहिए कि ये बातें, सृष्टि-क्रम के अनुसार, उदाहरणों के द्वारा, सिखलाई जायँ। संसार में प्रत्येक चीज़ को देखने के बाद जिस क्रम से उसके प्रत्येक अंग का ज्ञान होता है उसी क्रम से शिक्षा भी होनी चाहिए। जिस चीज़ के विषय की शिक्षा दी जाय उस चीज़ के सृष्टि-सम्बन्धी क्रम और नियम का ज़रूर ख़याल रखना चाहिए, और उन्हीं के अनुसार लड़कों को सब बातें बतलानी चाहिए। जिन लड़कों ने कभी महासागर, या पहाड़ या डमरूमध्य नहीं देखा उनके पढ़ने की किताबों के शुरू ही में इनकी परिभाषा आदि का देना क्रम और नियम के बिलकुलही खिलाफ़ है। फिर, इन सब दोषों से बढ़कर दोष, तोते की तरह हर बात को रटकर याद करलेने की आदत है। यह आदत बहुतही बुरी है। इस आदत ने लड़कों की बुद्धि का सत्यानाश कर डाला है। देखिए इसका नतीजा क्या होता है। बच्चों की बुद्धि-सञ्चालना में रोक-टोक करने-

उसे यथेच्छ न विचरण करने देने-और उनसे ज़बरदस्ती पुस्तकें रटवाने, से उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ बचपनही में कुण्ठित होकर आगे बिलकुलही मन्द हो जाती हैं। उनकी बुद्धि की तीव्रता जाती रहती है। जिन विषयों के समझने की योग्यता नहीं है उन्हें सिखलाने, और बिना किसी विषय को अच्छी तरह समझाये उसके सम्बन्ध के साधारण नियम या सिद्धान्त बतलाने, से बच्चों की बुद्धि बे तरह गड़बड़ में पड़ जाती है। इस तरह के नियम या सिद्धान्त ठीक ठीक उनकी समझही में नहीं आते। जो जिस बात को जानताही नहीं वह उसके सिद्धान्त कैसे अच्छी तरह समझ सकेगा? शिक्षा का जो तरीक़ा आज-कल जारी है वह लड़कों को ज़रा भी इस लायक़ नहीं होने देता कि वे ख़ुद भी कुछ सोच-विचार कर सकें और अपनी निज की खोज से अपने आपके शिक्षक हो सकें। यह तरीक़ा दूसरों के ख़याल।त को लड़कों के मग़ज़ में भरना सिखलाकर उन्हें बिलकुलही आलसी, निकम्मा और परमुखापेक्षी बना देता है। बहुत बचपन में विद्याभ्यास के वज़नी बोझ का दिमाग़ पर दबाव पड़ने से लड़को की मानसिक शक्तियाँ चूर हो जाती हैं। इन सब कारणों से बहुतही कम लड़के पूरे विद्वान् और योग्य निकलते हैं। परीक्षायें ख़तम होतेही किताबें उठाकर ताक़ पर रख दी जाती हैं; फिर लड़के भूल कर भी कभी उनकी तरफ़ नहीं देखते। सीखी हुई बातों में—सम्पादन किये हुए ज्ञान में—व्यवस्था न होने, अर्थात् यथानियम और यथाक्रम शिक्षा न मिलने, के कारण शिक्षित विषयों का बहुतसा हिस्सा जल्द भूल जाता है। जो कुछ रह जाता है वह भी न रहने के बराबर है-उसमें भी कुछ जीव नहीं रहता। क्योंकि लड़कों को यही नहीं मालूम रहता कि मदरसे में सीखी हुई विद्या से व्यवहार में काम किस तरह लेना चाहिए। यह उन्हें सिखलाया ही नहीं जाता कि कामकाज में विद्या का कैसे उपयोग करना चाहिए—विद्या को किस तरह तरक़्क़ी देना चाहिए। किसी चीज़ का सही सही ज्ञान प्राप्त करने, किसी विषय की बारीक खोज करने, और अपने आप, स्वाधीनतापूर्वक, किसी बात का विचार करने, की बहुतही थोड़ी शक्ति लड़को में होती है। इन सब बातों के सिवा प्राप्त किये गये ज्ञान का बहुत सा हिस्सा व्यवहार में बहुतही कम काम देता है—उसकी क़ीमत बहुतही कम होती है। सारांश यह कि लड़कों की शिक्षा में अत्यन्त उपयोगी और अत्यन्त महत्त्व से भरे हुए

ज्ञान का एक बहुत बड़ा समूह फटकने तक नहीं पाता। वह बिलकुलही निकाल बाहर किया गया है।

४८—शारीरिक, नैतिक और बुद्धि-विषयक शिक्षा में दोषों का होना और उनके दूर करने में माँ-बाप की बेपरवाही का नतीजा।

लड़कों की शिक्षा का यह हाल है। और ऐसा होनाही चाहिए। माँ-बाप की जैसी स्थिति है उससे इस बात का अनुमान भी किया जा सकता है। माँ-बाप की दशा देखकर अनुमान से भी यह बात जानी जा सकती है कि जो हाल लड़कों की शिक्षा का इस समय है वही हो सकता है। जैसा कारण वैसाही कार्य। लड़कों की शारीरिक, नैतिक और बुद्धि-विषयक शिक्षा इतनी दोष-पूर्ण है कि उसका ख़याल करके डर मालूम होता है। शिक्षा-प्रणाली के इतना दोष-पूर्ण होने का बहुत कुछ कारण ख़ुद माँ-बाप हैं; क्योंकि जिस ज्ञान की बदौलत, जिस विद्या की बदौलत, जिस शिक्षण की बदौलत लड़कों की शिक्षा ठीक तौर पर हो सकती है उससे वे बिलकुलही कोरे हैं—उसका लेश भी उनमे नहीं। किसी बहुत ही पेचीदा सवाल को हल करने के लिए जिन नियमों या सिद्धान्तों के जानने की ज़रूरत है उन पर जिस आदमी ने शायद ही कभी ध्यान दिया है, वह यदि उस सवाल को हल करने चले तो उससे क्या उम्मेद की जा सकती है? क्या यह सम्भव है कि वह उस सवाल को हल कर सके? चमड़े की चीजें तैयार करने, घर बनाने, या रेलगाड़ी और जहाज़ चलाने की विद्या सीखने के लिए बहुत दिन तक उम्मैदवारी करनी पड़ती है—बहुत दिन तक काम सीखना पड़ता है। तो क्या मनुष्य की शारीरिक और मानसिक शक्तियों को तरक़्क़ी देने—उनको विकसित करने—का काम इतना सीधा है कि बिना किसी तरह की तैयारी के हर आदमी उसका प्रबन्ध और देख-भाल कर सकता है? यदि नहीं कर सकता—और यदि यह काम सांसारिक कामों में एक को छोड़ कर और सबसे अधिक पेचीदा है, और उसकी ठीक व्यवस्था करना बहुतही कठिन है—तो उसे अच्छी तरह करने के लिए पहले से कुछ भी तैयारी न करना क्या पागलपन नहीं? दिखाव के जो काम हैं, बन-

ठन कर दूसरो पर अपना असर डालने के जो काम है, उनके बलिदान से—उन पर ध्यान न देने से—विशेष हानि नहीं; पर शिक्षा-सम्बन्धी इस अत्यन्त ज़रूरी और अत्यन्त महत्त्व के काम मे बेपरवाही करने से बहुत बड़ी हानि है। अतएव इस काम में उदासीनता दिखलाना मुनासिब नहीं। जब बाप अविचार और दुराग्रह के वश होकर बिना जाँच पड़ताल के, झूठे सिद्धान्तों को सच समझकर, उनके अनुसार काम करने के कारण, लड़कों मे पितृस्नेह का नाश कर चुकता है, उनमें बेगानियत पैदा कर चुकता है, अपने कड़े बर्ताव से उनको अपनी इच्छा के विरुद्ध काम करने को विवश कर चुकता है, उन्हें बरबाद कर चुकता है, और मामला इस नौबत को पहुँचने पर वह ख़ुद भी विपद मे पड़ चुकता है तब उसकी आँखें खुलती है; तब उसे ख़याल होता है कि ग्रीस के प्राचीन कवि और करुणरस-प्रधान नाटकों के कर्ता आयसकिलस का हाल लड़कों को मालूम होता चाहे न होता, पर स्वभावशास्त्र का अभ्यास उनके लिए बहुत ज़रूरी था। तब वह समझता है कि यदि इस शास्त्र को वे पढते तो बहुत अच्छा होता। एक विशेष प्रकार के बुख़ार से अपने बड़े लड़के के मरने पर जब माँ रोने बैठती है, जब कोई स्पष्टवक्ता डाकृर यह कहकर उसके सन्देह को पुष्ट करता है कि बहुत अधिक विद्याभ्यास करने से यदि तुम्हारे लड़के का शरीर क्षीण न हो जाता तो वह बच जाता; जब ऐसे दुःसमय में, दुःख और अनुताप की पीड़ा से वह बेहद व्याकुल होती है, तब उसे इटली के प्रसिद्ध कवि दान्ते की मूल कविता, कवि की ही भाषा में, पढ़कर कितना सन्तोष हो सकता है? कितना समाधान हो सकता है?

४६—बाल-बच्चों के पालने पोसने के लिए जीवन-शास्त्र के स्थूल नियमों के जानने की ज़रूरत।

इससे यह बात अच्छी तरह ध्यान में आ जाती है कि सांसारिक कारोबार से सम्बन्ध रखनेवाले इस तीसरे भाग, अर्थात् बाल बच्चों के पालन-पोषण और उनकी शिक्षा, की उचित व्यवस्था करने के लिए जीवन-शास्त्र के ज्ञान की बहुत बड़ी जरूरत है—आदमी की जिन्दगी से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों का जानना बहुत आवश्यक है। बच्चों के यथोचित पालन-पोषण और शिक्षण के लिए शरीर-शास्त्र की मोटी मोटी बातें, और मानस शास्त्र

के मूल-तत्त्वों का थोड़ा बहुत ज्ञान होनाही चाहिए। बिना उसके काम नहीं चल सकता। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत आदमी इस बात को सुन कर हँस पड़ेंगे। माँ-बाप से इन गहन शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कराने की आशा रखना उनकी दृष्टि में बेहूदापन मालूम होगा। यदि हम यह कहते कि जितने माँ-बाप हैं सबको इन शास्त्रों का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए तो यह बात ज़रूर हँसने ही लायक़ थी, तो हमारा यह कहना ज़रूर उपहास्य था, तो हमारी यह तजवीज़ ज़रूर बेहूदा थी। पर बात ऐसी नहीं है। हम यह नहीं कहते। यदि माँ-बाप को इन शास्त्रों की सिर्फ़ मुख्य मुख्य बातें और उनको अच्छी तरह समझा सकने के लिए थोड़े से उदाहरण मालूम हो जायँ तो हम इतनाही ज्ञान काफ़ी समझते हैं। इतनेही ज्ञान से बाल-बच्चो के पालने, पोसने और उनको शिक्षा देने का काम निकल सकता है। इससे अधिक हम और कुछ नहीं कहते। इन शास्त्रों की इतनी शिक्षा बहुत थोड़े दिनों में दी जा सकती है। इस तरह की शिक्षा का कार्य्य-कारण-भाव यदि तर्कना- द्वारा बुद्धिस्थ न कर दिया जा सके, यदि दलीलों से उसकी योग्यता न समझाई जा सके, तो न सही; विधि-निषेध-भाव से ही यह शिक्षा दी जाय। इस बात को करना अच्छा है, इस बात को करना बुरा—इतनाही समझा देना काफ़ी होगा। कुछ भी हो, जो बातें हम नीचे लिखते हैं उनके विषय में मत-भेद नहीं हो सकता। उनके खिलाफ़ कोई कुछ नहीं कह सकता। वे बातें ये हैं:—

(१) बच्चों के शरीर और मन की तरक्क़ी कुछ विशेष प्रकार के नियमों के अनुसार होती है।

(२) यदि माँ-बाप इन नियमों की ज़रा भी परवा न करेंगे, यदि इनका बिलकुलही पालन न करेंगे, तो बच्चे कभी जीते न रहेंगे।

(३) यदि माँ-बाप इन नियमों की थोड़ीही परवा करेंगे, यदि इनके पालन मे थोड़ाही ध्यान देंगे, तो बच्चों के शरीर और मन में बहुत से दोष पैदा हुए बिना न रहेंगे।

(४) यदि माँ-बाप इन नियमों की पूरी पूरी परवा करेंगे, यदि इनको पूर्ण रीति से पालेंगे, तभी बच्चो के शरीर और मन निर्दोष होंगे।

तो अब आपही इस बात का फ़ैसला कीजिए कि जिन लोगों के किसी न किसी दिन बाल-बच्चे होने की सम्भावना है क्या उनको उचित नहीं कि वे जरा उत्साहपूर्वक इन नियमों के सीखने की कोशिश करें ?

५०—सार्वजनिक कामों की शिक्षा का नाममात्र के लिए मदरसों में प्रचार।

यहाँ तक माँ-बाप के कर्तव्यों का विचार हुआ। अब हम सार्वजनिक कामों का विचार आरम्भ करते हैं। यहाँ पर हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि किस तरह का ज्ञान—किस तरह की शिक्षा—आदमी को सार्वजनिक कर्तव्य करने के योग्य बनाती है। यह नहीं कहा जा सकता कि जिस ज्ञान या जिस शिक्षा की बदौलत आदमी सार्वजनिक काम करने के योग्य हो सकता है उसकी तरफ़ आजकल किसीका बिलकुल ही ध्यान नहीं। थोड़ा बहुत ध्यान ज़रूर है। क्योंकि इस समय मदरसों में जो विषय पढ़ाये जाते हैं उनसे राजकीय और सार्वजनिक कामों से सम्बन्ध रखनेवाली बातें, यदि बहुत नहीं तो नाम के लिए, कुछ अवश्य रहती हैं। इनमें सिर्फ़ एक इतिहास ही ऐसा विषय है जिसका दर्जा, इस सम्बन्ध में, कुछ ऊँचा है।

५१—मदरसों में इतिहास की जो शिक्षा दी जाती है वह किसी काम की नहीं। वह व्यर्थ है, ज़रा भी उपयोगी नहीं।

परन्तु, इशारे के तौर पर जैसा हम पहलेही कह चुके हैं, जिस तरह की इतिहास-शिक्षा आज-कल मिलती है वह बहुत करके किसी काम की नहीं। वह पथदर्शक नहीं। उससे उचित शिक्षा नहीं मिलती। इतिहास की जो किताबें मदरसों में जारी हैं उनकी बात तो कुछ पूछिए ही नहीं। राजकीय विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली बातों के सही सही सिद्धान्त शायदही एक आध कहीं उनमें पाये जाते हों। उनकी बात जाने दीजिए; बड़ी उम्र के समझदार आदमियों के लिए जो इतिहास की किताबें ख़ूब परिश्रमपूर्वक लिखी गई हैं उन तक में इन सिद्धान्तों का बहुत कम पता मिलता है। लड़के मदरसों में बहुत करके पढ़ते क्या हैं, राजाओं और बादशाहों के जीवनचरित। भला उनसे समाजशास्त्र का ज्ञान कैसे हो सकता है? उनमें सामाजिक बातें बहुत ही कम रहती हैं। कहीं कोई कपट-काण्ड रच रहा है;

कहीं कोई कूट-नीति का जाल बिछा रहा है; कहीं कोई किसी का राज्य छीन रहा है; कहीं कुछ हो रहा है, कहीं कुछ । यही सब बातें उनमें रहती हैं । इन्हीं बातों को लड़के सीखते हैं और जिनका सम्बन्ध इनसे होता है उनके नाम याद करते हैं । इन बातों से देश के उत्कर्ष के कारण कहाँ समझ में आ सकते हैं ? ये बातें जातीय उन्नति के कारण जानने में बहुतही कम मदद देती हैं । इतिहासों में इस तरह की बातें रहती हैः—राज्य के लालच से अमुक अमुक झगड़े-फ़साद पैदा हुए । उनका फल यह हुआ कि दोनों दलवालों की सेनायें ख़ूब बहादुरी से लड़ीं । इन सेनाओं के सेनापतियों के अमुक अमुक नाम थे और उनके अधीन जो सरदार थे उनके अमुक अमुक । उनमें हर एक के पास इतनी पैदल सेना, इतना रिसाला और इतनी तोपें थीं । उन्होने अपनी अपनी सेना को लड़ाई के मैदान में अमुक क्रम से खड़ा किया था । उन्होंने अमुक अमुक युक्ति से काम लिया; अमुक अमुक तरह से धावा किया; और अमुक अमुक तरकीब से वे पीछे हटे । दिन के इतने बजे उन पर अमुक प्रसंग आया–उन पर अमुक आफ़त आई–और इतने बजे उनकी ऐसी जीत हुई । एक धावे में अमुक सरदार काम आया; दूसरे में अमुक पल्टन कट गई । कभी इस दल का भाग्य चमका, कभी उसका । इस तरह भाग्य का उलट फेर होते होते अन्त में अमुक दल की जीत हुई । हर एक दल के इतने आदमी मारे गये, इतने घायल हुए और इतने विजयी दल ने क़ैद कर लिए । अब बतलाइए कि इस युद्ध-वर्णन में जो बातें लिखी गई हैं उनमे कौनसी बात ऐसी है जिससे आप को यह शिक्षा मिल सकती है कि सार्वजनिक कामों में आपको कैसा बर्ताव करना चाहिए । इसमे क्या कोई भी बात ऐसी है जो आपको यह सिखला सकती है कि आपको अपना नागरिक चालचलन कैसा रखना चाहिए । मान लीजिए कि आप दुनिया की सर्व-प्रसिद्ध पन्द्रह लड़ाइयों का ही हाल पढ़कर चुप नहीं रहे; किन्तु और भी जितनी छोटी बड़ी लड़ाइयाँ हुई है उन सबका सविस्तर हाल आप पढ़ चुके हैं; तो क्या इससे, पारलियामेंट के मेम्बरों का अगला चुनाव होने पर, राय देते समय, आपकी राय मे कुछ विशेषता आजायगी ? इस इतिहास-ज्ञान की बदौलत उस समय क्या आप कुछ विशेष बुद्धिमानी से राय दे सकेंगे ? हरगिज़ नहीं । परन्तु आप कहेंगे कि—"ये सच्ची घटनायें हैं—सच्ची ही नहीं मनो-

रञ्जक भी"। निःसन्देह ये मनोरञ्जक घटनायें है। इनमें से जिनका कुछ अंश या सर्वांश झूठ नहीं वे अवश्य मनोरञ्जक हैं। ओर बहुत आदमियों को वे वैसाही मालूम भी होती होंगी। परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि इस तरह की घटनायें महत्त्व की हैं—क़दर करने के क़ाबिल हैं। हम लोग कभी कभी बिलकुल ही तुच्छ बातों को किसी कल्पित और अयोग्य कारण से भ्रमवश बनावटी महत्त्व देने लगते हैं। जो आदमी गुले-लाला या गुलाब के पीछे पागल हो रहा है—जिसके दिमाग़ में उसका खब्त समाया हुआ है—उसे यदि किसी अच्छे फूल की बराबर कोई सोना भी तैालने को तैयार हो जाय तो भी वह उसे न देगा। कोई चीनी मिट्टी के महा पुराने और दरके हुए बर्तन को हीं एक अनमोल चीज समझ कर अपने पास रखता है। दुनिया में ऐसे भी आदमी हैं जो प्रसिद्ध हत्यारों का स्मरण दिलानेवाली चीज़ों को हज़ारों रुपये देकर मोल लेते और अपने पास रखते हैं। परन्तु क्या इस तरह की रुचि-विचित्रता से ये चीजें क़ीमती हो सकती हैं? क्या ये चीजें सिर्फ़ इसलिए बहुत क़ीमती हो जायँगी कि अपनी विचित्र रुचि के कारण कोई कोई इनको विशेष मूल्यवान् समझते हैं? यदि नहीं, तो इस बात को भी जरूर क़बूल करना होगा कि कुछ ऐतिहासिक बातें किसी किसी को बहुत पसन्द होने हीं के कारण, कीमती नहीं हो सकतीं। इस तरह की पसन्द उनके महत्त्वपूर्ण होने का कोई सबूत नहीं। अतएव और बातों की क़ीमत हम जिस तरह उनके उपयोग का खयाल करके ठहराते हैं उसी तरह इन बातों की भी कीमत उनके उपयोग का ख़याल करके ही ठहरानी चाहिए। जो चीज़ उपयोगी है वही क़ीमती है। जो जितनी अधिक उपयोगी है वह उतनीही अधिक क़ीमती भी है। हर एक बात का उपयोगीपनही उसकी क़ीमत की माप है। यदि कोई आकर तुमसे कहे कि तुम्हारे पड़ोसी की बिल्ली या कुतिया ने कल बच्चे दिये तो तुम कहोगे कि दिये होंगे; हमको इससे क्या? आपकी यह ख़बर व्यर्थ है। इससे हमें क्या फ़ायदा? इसका हमें क्या उपयोग? यद्यपि यह भी एक घटना है और सही घटना है, तथापि तुम इसे बिलकुलही व्यर्थ समझोगे। सांसारिक व्यवहारों से इसका कुछ भी सरोकार नहीं। तुम्हारी जिन्दगी के कर्तव्य कामों पर इस घटना का कुछ भी असर नहीं हो सकता। यह एक ऐसी घटना है जो तुमको अपनी ज़िन्दगी को पूरे तौर पर सार्थक करने मे किसी तरह की मदद नहीं दे सकती। अच्छा, तो

आप इसी उपयोग-विषयक कसौटी से ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में भी काम लीजिए। इसी कसौटी पर कस कर उनकी भी क़दर और क़ीमत निश्चित कीजिए। ऐसा करने से हम जो कुछ कह रहे हैं वह आपको ज़रूर सच मालूम होगा—वह आपके ध्यान में ज़रूर आजायगा। इतिहास में जो घटनायें बयान की जाती हैं उनका कार्य्य-कारण-भाव नहीं दिखलाया जाता; उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह नहीं बतलाया जाता। इससे उन घटनाओं के—उन बातों के—आधार पर कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता। जितनी घटनायें हैं उनका एक मात्र उपयोग यह है कि उनकी मदद से हम अपने चालचलन-सम्बन्धी, हम अपने सांसारिक-व्यवहार-सम्बन्धी, नियम निश्चित कर सकें; हम यह जान सकें कि हमें किस तरह का चाल-चलन अख़तियार करना चाहिए—किस तरह का व्यवहार पसन्द करना चाहिए। परन्तु इन ऐतिहासिक घटनाओं से हमें इस तरह की कोई शिक्षा नहीं मिलती; इनकी मदद से हम इस तरह का कोई नियम निश्चय नहीं कर सकते। अतएव इनका जानना व्यर्थ है; ये हमारे किसी उपयोग की नहीं। हाँ, ऐतिहासिक घटनाओं को यदि आप दिल बहलाने के लिए पढ़ना चाहे—मनोरंजन के लिए पढ़ना चाहें—तो ख़ुशी से पढ़ सकते हैं। परन्तु इस बात की आप व्यर्थ आशा न करें—आप अपने दिल को व्यर्थ न फुसलावें—कि वे आपके किसी काम भी आ सकती हैं। उनसे आपका कोई काम नहीं निकल सकता। वे आपके किसी उपयोग की नहीं।

५२—इतिहास की पुस्तकें कैसी होनी चाहिएँ; उनमें किस तरह की बातों का होना ज़रूरी है।

यथार्थ में जिन बातों का नाम इतिहास है वे बातें इतिहास-विषयक पुस्तकों मे बहुत करके छोड़ दी जाती हैं। वे वहाँ फटकने ही नहीं पातीं; निकाल बाहर की जाती हैं। हाँ, अब कुछ दिनों से, इतिहास लिखने-वालों ने, सच्ची सच्ची उपयोगी बातें, अधिकता के साथ, लिखनी शुरू की हैं। पुराने ज़माने में लोगों का यह ख़याल था कि राजाही सब कुछ है, प्रजा कोई चीज़ नहीं। इससे पुराने इतिहास बहुत करके राजाओं की ही बातों से भरे हुए हैं; प्रजा के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें—देश की दशा से सम्बन्ध रखनेवाली घटनायें—उनमें बहुत कम हैं; और हैं भी तो

कहीं किसी अँधेरे कोने में पड़ी हुई हैं। पर अब समय ने पलटा खाया है। अब लोग समझने लगे हैं कि राजा के कल्याण की अपेक्षा प्रजा का कल्याण अधिक महत्त्व का है। इससे प्रजा के कल्याण की तरफ़ लोगों का ध्यान अधिक खिँचने लगा है और इतिहास के लेखक प्रजा की तरक्की से सम्बन्ध रखनेवाली घटनायें अधिकता से लिखने लगे है। जिसका जानना हमारे लिए बहुत जरूरी है वह जन-समूह का स्वाभाविक इतिहास है। जनसमूह, जनसाधारण या प्रजा-वर्ग की दशा में कैसे कैसे फेरफार हुए, उसमे क्या क्या विशेषतायें थीं, किस बात का क्या नतीजा हुआ. यही बातें है जिनका जानना और जानकर जिनसे शिक्षा लेना हमारे लिए ज़रूरी है। हमें उन सब घटनाओं को जानना चाहिए जिनकी मदद से हम यह शिक्षा प्राप्त कर सकें कि किस तरह से किस देश की उन्नति हुई और किस तरह से किस जाति ने अपनी जातीयता स्थापित की। इन सब घटनाओ के वर्णन में राज्य-व्यवस्था का भी वर्णन रहे—बेशक रहे—पर उसके अधिकारियों के विषय की बेसिरपैर की बातें जितनी कम हों उतनाही अच्छा। इस व्यवस्था-वर्णन में राज्य के आकार, गठन, बुनियाद या बनावट का, उसके नियमों और सिद्धान्तो का, उसकी परिपाटी अर्थात् तौर-व-तरीक का, उसके दुराग्रह और मिथ्या विश्वासों का, और उसकी भ्रष्टता, दुष्कृत्य और घूसख़ोरी आदि का जहाँ तक हो सके, ख़ूब विस्तृत विचार होना चाहिए। इसमें सार्वभौम राज-सत्ता के—प्रधान गवर्नमेंट के—प्रकार या क़िस्म और उसकी काररवाइयों का ही वर्णन न होना चाहिए, किन्तु, इन विषयों में, हर एक प्रान्त की स्थानिक गवर्नमेंटो और उनकी शाखा-प्रशाखाओं का भी वर्णन ज़रूर होना चाहिए। इसके साथ साथ धर्म-सम्बन्धी बातों का भी वर्णन ज़रूर रहे। उसमें यह दिखलाया जाय कि धार्मिक सत्ता की स्थिति कैसी थी, धर्माधिकारी पुरुषों का चालचलन कैसा था, उनको अधिकार क्या क्या प्राप्त थे, और राजसत्ता से धार्म्मिक सत्ता का सम्बन्ध कैसा था। इतनाही नहीं, किन्तु इन बातों के साथ साथ यह भी बतलाया जाय कि लोगों के धार्म्मिक विचार कैसे थे, पन्थ कौन कौन से प्रचलित थे, धार्म्मिक विश्वास किस तरह के थे और धार्म्मिक रीति-रस्में किस प्रकार की थीं। सिर्फ़ उन्हीं धार्म्मिक विचारों का वर्णन न रहे जिन पर लोगों का नाममात्र के लिए विश्वास हो, किन्तु उन विचारों का भी वर्णन रहे जिनपर लोगों का सच्चा विश्वास हो

और जिनके अनुसार वे व्यवहार भी करते हों—जिनके अनुसार वे चलते भी हों। इसके साथ ही नमस्कार, प्रणाम, रामराम और सलाम आदि के तरीक़े, चिट्ठियों मे प्रयोग की गई सिरनामे और सम्बोधन आदि की रीतियाँ और मान-मर्य्यादा के अनुसार ख़िताबों के प्रकार इत्यादि सामाजिक बातों का वर्णन करके यह भी बतलाया जाय कि एक समुदाय के लोगों का दूसरे समुदाय के लोगों पर कहाँ तक प्रभुत्व प्राप्त था। यह भी हमें मालूम होना चाहिए कि सब लोगों में, घर के भीतर और बाहर, इनके सिवा और कौन कौन से आचार-विचार या रीति-रवाज प्रचलित थे, जिनके अनुसार वे अपने व्यवहार-सम्बन्धी काम करते थे। इन रीति-रस्मों के वर्णन में यह भी दिखलाया जाना उचित है कि स्त्री-पुरुषों का तथा माँ-बाप और सन्तान का सम्बन्ध परस्पर कैसा था। प्रसिद्ध पैाराणिक कथाओं से लेकर प्रचलित यंत्र, मंत्र और टोटकों तक का ज़िक्र करके लोगों के दुराग्रहों और मिथ्याविश्वासों का भी हाल लिखा जाना चाहिए। इसके बाद देश के कल-कारख़ानों और दूसरी औद्योगिक बातों का वर्णन होना चाहिए जिससे यह मालूम हो जाय कि श्रम का कहाँ तक विभाग किया गया था—कौन कौन लोग किस किस तरह की मेहनत के काम कहाँ तक करते थे; बनिज-व्यापार की क्या व्यवस्था थी—जाति के अनुसार थी, या कम्पनियाँ खड़ी करके की गई थी, या और किसी तरीके पर थी; स्वामी और सेवक में परस्पर कैसा सम्बन्ध था; माल भेजने और मँगाने के क्या साधन थे—माल मँगाया किस तरह जाता था और भेजा किस तरह; लोगों के आने-जाने और चिट्ठी-पत्री भेजने का क्या प्रबन्ध था; और लेन-देन में किस-तरह के सिक्के का चलन था। इन बातों का वर्णन करते समय कलाकौशलों का भी हाल, उनकी कला-सम्बन्धिनी योग्यता के अनुसार, लिखना चाहिए और यह भी बतलाना चाहिए कि माल किस तरह तैयार किया जाता था और वह कैसा होता था। इन बातों के सिवा इस विषय की भी तसवीर उतारनी चाहिए कि सब लोगों की बुद्धि की क्या दशा थी; वे कहाँ तक सज्ञान थे; कौन विद्या कितनी सिखलाई जाती थी; वैज्ञानिक विषयों में लोगों को कहाँ तक शिक्षा मिलती थी; और उनके ख़यालात किस तरह के थे—उनके विचारों का झुकाव किस तरफ़ को था। स्थापत्य (अर्थात् घर बनाने की) विद्या, पत्थर लकड़ी या धातु पर नक़्क़ाशी के काम, पोशाक चित्रकारी

गाना-बजाना, कविता और उपन्यास आदि का वर्णन करके यह भी दिखलाना चाहिए कि कल्पकता, ललित-कला और मनोरञ्जन की बातों में लोगों की कहाँ तक गति थी और उनकी रुचि कैसी थी। इस बात की समालोचना करना भी न भूलना चाहिए कि लोगों के रहने का ढंग कैसा था; किस तरह वे अपना जीवन-निर्वाह करते थे; उनकी दिनचर्य्या कैसी थी, उनके खाने-पीने के पदार्थ, उनके घर-द्वार, उनके खेल-तमाशे कैसे थे। इन सबका भी वर्णन होना चाहिए। और, अख़ीर में, क़ायदे-क़ानून, स्वभाव, रीति-रस्म, कहावतें और व्यावहारिक कामों का वर्णन करके यह बतलाना चाहिए कि हर एक स्थिति के आदमियों के मानसिक और नैतिक विचार कैसे थे और व्यवहार में वे कैसा बर्ताव करते थे—किस नीति से काम लेते थे। फिर इन सब बातों का परस्पर सम्बन्ध दिखलाना चाहिए। ये सब बातें, जहाँ तक हो सके, थोड़े में, सही सही, लिखी जायँ और इस तरह लिखी जायँ कि पढ़नेवाले उन्हें अच्छी तरह समझ जायँ। ये बातें इस तरह इकट्ठी की जायँ और क्रम से रक्खी जायँ कि सब बातों के एकदम ध्यान में आने में बाधा न हो; पढ़ते समय वे एक दूसरी से सम्बद्ध मालूम हों; यह न जान पड़े कि जिन बातों का वर्णन हुआ है उनके समुदाय से कोई बात अलग है। सब में परस्पर-सापेक्षता रहे और उनका वास्तविक ऐक्य दर्शित हो। लिखनेवाले का अभिप्राय यह होना चाहिए कि जिन बातों को वह अपने इतिहास में जगह दे उनके पारस्परिक सम्बन्ध का चित्र पढ़नेवाले के हृत्पटल पर सहज में खचित हो जाय और उसे यह मालूम हो जाय कि लोक स्थिति की अमुक अवस्था होने से अमुक अमुक बातें होती हैं। मतलब यह कि कार्य्य-कारण-भाव ख़ूब समझ में आ जाना चाहिए। समय समय की लोक-स्थिति का वर्णन इस तरह किया जाना चाहिए जिससे यह साफ़ साफ़ मालूम हो जाय कि लोगो के मत, विश्वास, चालचलन, रीति-रस्म, क़ायदे-कानून आदि में किस तरह फेरफार होते गये और पहली पीढ़ी के सामाजिक ढाँचों और व्यवसायों ने किस तरह अगली पीढ़ी के सामाजिक ढाँचों और व्यवसायों का रूप धारण किया। नागरिक आदमी को—जनसमुदाय के मेम्बर को—इस बात की शिक्षा ग्रहण करने के लिए, कि सार्वजनिक कामों में उसे किस तरह का बर्ताव करना चाहिए, ऐसेही ऐतिहासिक वर्णन की जरूरत है। इसी तरह के

वर्णन या प्रतिपादन से उसे लाभ हो सकता है और किसी तरह के वर्णन या प्रतिपादन से नहीं । जिस इतिहास में समाज की स्थिति, अवस्था और उसके दशा-परिवर्तन का वर्णन होगा, व्यवहार में वही लोगों के काम आवेगा—व्यवहार-दृष्टि से उसी का आदर होगा । सबसे बड़ा महत्त्व का काम, जो इतिहासकार कर सकता है, यह है कि वह जुदा जुदा देशों और जातियों का ऐसा इतिहास लिखे—ऐसा वर्णन करे—जिससे जुदा जुदा समय की लोक-स्थिति के हिसाब से उन उन देशों और जातियों की परस्पर तुलना हो सके, और आगे के लिए इस बात का निश्चय हो सके, कि जिन नियमों या सिद्धान्तों के अनुसार जन समुदाय की स्थिति में परिवर्तन होता है वे क्या हैं ।

५३—इतिहास की कुंजी विज्ञान है; बिना वैज्ञानिक ज्ञान के अच्छे इतिहास का भी तादृश उपयोग नहीं हो सकता ।

पर, इस विषय मे एक बात पर ध्यान देना अभी बाक़ी है । मान लीजिए कि इस सच्चे ऐतिहासिक ज्ञान का ख़ज़ाना, मतलब भर के लिए, आपने प्राप्त कर लिया । तथापि उस ख़ज़ाने की कुञ्जी पाये बिना वह आपके काम नहीं आसकता । आप उसका तादृश उपयोगही नहीं कर सकते । यह कुञ्जी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा है—शास्त्रीय विषयों का ज्ञान है । यदि जीवन-विज्ञान और मनोविज्ञान के मुख्य मुख्य नियमों का ज्ञान आपको नहीं है तो कार्य्य-कारण-भाव दिखला कर आप जन-समुदाय की व्यावहारिक बातों को कभी अच्छी तरह न समझा सकेंगे । आदमी जैसे मनुष्य-स्वभाव-सम्बन्धी कुछ बातों का ज्ञान, अनाड़ियों की तरह, अन्दाज़ से थोड़ा बहुत प्राप्त कर लेते हैं, वैसेही सामाजिक जीवन-सम्बन्धी बहुतही सीधी-सादी बातों का ज्ञान भी वे प्राप्त कर लेते हैं । उदाहरण के लिए किसी चीज की पैदावार और माँग के विषय को लीजिए । इन दोनों का सम्बन्ध तभी हमारी समझ में आ सकेगा जब हम यह जानते होंगे कि अमुक बात होने से मनुष्य अमुक तरह का बर्ताव करेंगे । अतएव, यदि, समाज-शास्त्र की मोटी मोटी प्रारम्भिक बातों का भी ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक हमें यह न मालूम हो कि किस स्थिति में आदमी क्या ख़याल करते हैं, क्या समझते हैं और किस तरह का बर्ताव करते हैं, तो यह साफ़ ज़ाहिर है कि इस शास्त्र

को अच्छी तरह समझने के लिए मनुष्य की मानसिक और शारीरिक शक्तियों का पूरा पूरा ज्ञान होना बहुत ही ज़रूरी है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर इन बातों की स्वतःसिद्धता आपही ध्यान में आजायगी। विचार करने से जो नतीजा निकलेगा वह ख़ुदही इस विषय की सत्यता को साबित कर देगा; कोई उदाहरण देने की ज़रूरत न पड़ेगी। देखिए, जनसमुदाय, व्यक्तियों के मेल से बना है—एक एक आदमी मिलकर मनुष्यों का समुदाय हुआ है। जन-समुदाय में जो कुछ होता है वह हर आदमी के सम्मिलित कामों की बदौलत होता है। इससे, जन-समुदाय के सब कामों का बीज, हर आदमी के काम पर ध्यान देने ही से मालूम हो सकता है। और हर आदमी जो कुछ करता है अपने स्वभाव के अनुसार करता है। अर्थात् उसका स्वभाव जिन तत्त्वों, नियमों या सिद्धान्तो का अनुसरण करता है उन्हीं पर उसका काम अवलम्बित रहता है। अतएव इन तत्त्वों या नियमों को बिना जाने किसी के काम समझ में नहीं आ सकते। विचार करते करते मनुष्य-स्वभाव के इन नियमों की आदि अवस्था तक पहुँचने पर—उन के मूल कारणों का पता लगाने पर—यह साबित होता है कि साधारण रीति पर ये नियम मनुष्य के मानसिक और शारीरिक नियमों से सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह सिद्ध है कि समाज-शास्त्र के नियमों को अच्छी तरह समझने के लिए मनोविज्ञान और जीवन-शास्त्र की शिक्षा के बिना काम नहीं चल सकता। इन शास्त्रो का ज्ञान होनाही चाहिए। यह सिद्धान्त, इससे भी अधिक सरल रीति पर, इस तरह समझाया जा सकता है:—जितनी सामाजिक बातें हैं सब जीवन-सम्बन्धी बातें हैं—सबका सम्बन्ध ज़िन्दगी से है। उन्हें जीवन का सङ्कीर्ण अवतार या रूपान्तर कहना चाहिए—वे ज़िन्दगी के पेचीदा प्रादुर्भाव हैं। जिन नियमों पर जीवन अवलम्बित है उन्हीं पर ये बातें भी निःसन्देह अवलम्बित हैं। जीवन-सम्बन्धी नियमों का ज्ञान होनेही से वे समझ में आ सकती हैं; अन्यथा नहीं। अतएव मनुष्य के सांसारिक व्यवहारों के इस चौथे भाग की उचित व्यवस्था करने के लिए, पूर्ववत्, विज्ञान-शास्त्र के ज्ञान की हमें बड़ी जरूरत है। साधारण रीति पर मदरसों में जो शिक्षा दी जाती है उसका सार्वजनिक कामो में बहुतही कम उपयोग हो सकता है। इन बातों के जानने में उससे बहुतही कम मदद मिल सकती है कि नागरिक को

किस तरह का बर्ताव या व्यवहार करना चाहिए, अथवा उसे कौन काम करना चाहिए और कौन न करना चाहिए। जो इतिहास मदरसों में पढ़ाया जाता है उसका बहुतही थोड़ा अंश व्यवहार में काम आने लायक़ होता है। और इस थोड़े अंश को भी उचित रीति पर काम में लाने की योग्यता हममें नहीं। समाज-शास्त्र का ज्ञान होने के लिए जिस सामग्री की ज़रूरत होती है वह सामग्री ही हम लोगों के पास नहीं। लोकस्थिति, अर्थात् सामाजिक व्यवस्था, के व्यापक नियमों का ज्ञान होना तो बहुत दूर की बात है। और क्या कहा जाय, हम इतना भी तो नहीं जानते कि समाज-शास्त्र चीज़ क्या है? यही नहीं, किन्तु इन्द्रियविशिष्ट-पदार्थ-विषयक जीवन-शास्त्र की मोटी मोटी बातें तक तो हम जानते नहीं, जिनके बिना, समाज-शास्त्र के व्यापक नियमों का ज्ञान होने पर भी, उनसे बहुत कम मदद मिल सकती है।

५४—मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद की योग्यता और जरूरत।

अब हम मनुष्य-जीवन के व्यवहारों के शेष भाग का विचार करते हैं। यह वह भाग है जो फ़ुरसत के समय किये जानेवाले आमोद-प्रमोद और दिल-बहलाव आदि के कामों से सम्बन्ध रखता है। आत्म-रक्षा, उदर-निर्वाह, सन्तान के विषय में माँ-बाप के कर्तव्य, और राजकीय तथा सार्व-जनिक काम-काज का विचार यहाँ तक किया गया और दिखलाया गया कि इनके लिए किस तरह की शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है। अब हमें इस बात का विचार करना है कि जो फुटकर बातें पूर्वोक्त भागचतुष्टय में नहीं आईं—जैसे प्राकृतिक पदार्थ, ग्रन्थावलोकन, सब तरह की ललित कलायें उनसे आनन्द उठाने के लिए किस तरह की शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है। जिन बातों का मनुष्य-कल्याण से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है उनका विवे-चन हमने पहले किया और उस विवेचन में हर एक बात को हमने उसकी उपयोगिता—उसकी क़दर व क़ीमत—की कसौटी पर कसा। यह कर चुकने पर, अब, पीछे से, हम आमोद-प्रमोद की बातों का विचार करने चले हैं। इससे यह न ख़याल करना चाहिए कि हम इन कम ज़रूरी बातों को कुछ समझते ही नहीं, या इन्हें बिलकुल ही निरुपयोगी समझते हैं। यदि कोई ऐसा ख़याल करे तो उसकी बहुत बड़ी भूल है। बल्कि यह कहना चाहिए कि उससे अधिक बड़ी भूल और होही नहीं सकती। सुन्दर और

मनोमोहक बातों से प्रेम रखने और उनसे आनन्द उठाने को हम बहुत अच्छा समझते है। हम इन बातों को तुच्छ नहीं समझते। हम यह कदापि नहीं कहते कि इन बातों का उपयोग ही नहीं—इनसे कुछ लाभ ही नहीं। चित्रविद्या, प्रतिमानिर्म्माण, संगीत, कविता और प्राकृतिक दृश्यो की सुन्दरता को देख कर पैदा होनेवाले अनेक प्रकार के मनोविकार यदि न होते तो मनुष्य-जीवन का आधा आनन्द चला जाता। सुरुचि और रसिकता सीखने, और काव्य-संगीत आदि के रसास्वादन से आनन्द उठाने, को हम अनावश्यक अथवा कम योग्यता का काम तो समझते नहीं, उलटा हमारा यह विश्वास है कि आज-कल की अपेक्षा अगले जमाने में जिन्दगी का अधिक भाग इन्हीं बातों में खर्च हुआ करेगा। जब सृष्टि की पञ्चमहाभूतात्मिका प्रकृति-देवी को पूरे तौर पर अपने वश में करके उससे हम यथेच्छ काम लेने लगेंगे; जब ज़रूरत की चीजें पैदा करने के साधन पूर्णता को पहुँच जायँगे; जब सारे काम यथासम्भव अत्यन्त कम मेहनत से होने लगेंगे; जब शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध हो जायगा कि जीवन-निर्वाह से सम्बन्ध रखनेवाले विशेष महत्त्व के काम ख़ूब जल्द किये जाने लगेंगे; और, जब, इन कारणों से, हमें आज-कल की अपेक्षा बहुत अधिक फ़ुरसत मिलने लगेगी; तब ललित कलाओं और प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य्य से मनोरञ्जन करने की प्रवृत्ति सब लोगों के हृदय में ख़ूब अधिकता से उत्तेजित हो उठेगी।

५५—मनोरञ्जक कामों की और कामों से तुलना और उनका पारस्परिक महत्त्व।

परन्तु यह क़बूल करना कि आमोद-प्रमोद और मनोरञ्जन के कामों से मनुष्य के सुख की बढ़ती होती है एक बात है, और यह मान लेना कि मनुष्य को सुखी बनाने के लिए उनका होना अनिवार्य्य है—अर्थात् बिना उनके मनुष्य सुखी हो ही नहीं सकता—दूसरी बात है। यह हमारा मतलब नहीं कि मनोरञ्जन के कामों के बिना मनुष्य सुखसे वञ्चित रहता है। ये काम चाहे कितनेही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों—चाहे कितनेही ज़रूरी क्यों न हों—तथापि हमारे प्रति दिन के कर्तव्यो से जिन कामों या शिक्षाओं का प्रत्यक्ष, अर्थात् बहुत ही घनिष्ठ, सम्बन्ध है उनके बाद इनका नम्बर है। उनके हो चुकने पर मनोरञ्जक बातों की तरफ़ ध्यान देना मुनासिब है।

उन कामों से इनका दरजा ज़रूर कम है। अपने निज के और सार्वजनिक कामों की यथोचित व्यवस्था हो सकने के लिए जिन बातों की ज़रूरत है उनके सम्पादन के बाद पुस्तकावलोकन और ललित कलाओं से मनोरञ्जन होना सम्भव है। यह हम, इशारे के तौर पर, पहले ही कह चुके हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस वस्तु का होना किसी दूसरी वस्तु पर अवलम्बित होता है वह उस दूसरी वस्तु के बाद होनी चाहिए। आधार का प्रबन्ध कर चुकने पर आधेय की तरफ़ ध्यान देना मुनासिब होता है। माली, या और कोई आदमी जो फूलों से प्रेम रखता है, गुलाब के पौधे सिर्फ़ फूलों ही के लिए बाग़ में लगाता है। पत्तियों और जड़ों की परवा विशेष करके वह इसलिए करता है कि वे फूलों की पैदावार की सहायक हैं। उसका असल मतलब फूल पैदा करना होता है। और फूल ऐसी चीज़ है कि और चीजो का महत्त्व उसके महत्त्व की हरगिज़ बराबरी नहीं कर सकता। परन्तु वह समझता है कि वास्तव में जड़ें और पत्तियाँ अपने हिसाब से फूलों से भी अधिक महत्त्व की हैं; क्योंकि जड़ों और पत्तियों ही की बदौलत फूल खिलते हैं। पौधों को वह बड़ी ख़बरदारी से रखता है। उनको अच्छी तरह रखने की वह दिल लगा कर कोशिश करता है। क्योंकि वह जानता है कि फूल पाने की आतुरता मे पौधों को अच्छी तरह न रखना पागलपन है। जिस बात का हम विचार कर रहे है उसका भी ठीक यही हाल है। स्थापत्य-विद्या, प्रतिमा-निर्म्माण, चित्रकला, सङ्गीत और कविता सभ्य-समाज-रूपी पेड़ के फूल हैं। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि इन फूलों की योग्यता, इनके जन्मस्थान, सभ्य समाज-रूपी पेड़, की योग्यता से भी अधिक है (जो कि शायद ही कोई कहे) तो भी यह क़बूल करना पड़ेगा कि सभ्य-समाज-रूपी वृक्ष को बड़ा करके अच्छी हालत में लाने की तरफ़ सबसे पहले ध्यान देना चाहिए और जिस शिक्षा से हम लोगों के सामाजिक जीवन की दशा सुधरे उसे बहुत ऊँचे दरजे की शिक्षा समझना चाहिए।

५६—वर्तमान शिक्षापद्धति के दोष।

यहाँ पर हमें अपनी शिक्षा-पद्धति के दोष बहुत ही स्पष्टता के साथ देख पड़ते हैं। हमारी शिक्षा-पद्धति इतनी दूषित है कि वह फूल पाने की जल्दी में पौधे की कुछ भी परवा नहीं करती। वह शोभा और सिंगार

के पीछे दौड़कर मूल वस्तु को बिलकुल ही भूल जाती है। वह इतनी ख़राब है कि जिस शिक्षा से आत्म रक्षा होती है उसका कुछ भी ज्ञान नहीं होने देती। जिससे उदर-निर्वाह होता है उसे वह, सिर्फ़ दिग्दर्शन कराकर, छोड़ देती है और उसका अधिकांश, भविष्यत् में, जिस तरह जिससे हो सके उस तरह प्राप्त करने के लिए हर आदमी को लाचार करती है। बाल-बच्चों के पालन-पोषण के विषय में माँ-बाप के कर्तव्यों की वह बिन्दुमात्र भी शिक्षा नहीं देती। रही सामाजिक और राजकीय बातों की शिक्षा, सो उस का वह एक ढेर सामने रख देती है। इस ढेर का अधिक अंश बिलकुल ही असम्बद्ध होता है; इसकी एक बात का दूसरी से क्या सम्बन्ध है, इसका कुछ पताही नहीं चलता। जो थोड़ा अंश बाकी रहता है उसकी कुंजी नहीं बतलाई जाती। इस कारण, उसका भी कोई तादृश उपयोग नहीं हो सकता। जो शिक्षा अत्यन्त ज़रूरी है उसकी तो यह दशा; पर शोभा-सिंगार, बाहरी दिखाव, टीम-टाम, ठाठ-बाट आदि की शिक्षा का बेहद विस्तार! क्या कहना है! हम मानते हैं, और पूरे तौर पर मानते हैं, कि आज-कल जो भाषायें प्रचलित हैं उनका विस्तृत ज्ञान होना बहुत अच्छी बात है। क्योंकि अनेक भाषाओं की पुस्तकें पढ़ने, अनेक लोगों के साथ बात-चीत करने, और अनेक देशों में घूमने से आदमी चतुर हो जाता है। परन्तु बहुत अधिक ज़रूरी ज्ञान को खोकर चतुरता के पीछे दीवाना होना क्या मुनासिब बात है? जो ज्ञान बहुत ही ज़रूरी है उसके सामने बेचारी चतुरता की क़ीमत ही कितनी? यदि हम इस बात को सच मान लें कि पुरानी भाषायें पढ़ने से शुद्ध और सुन्दर भाषा लिखने में मदद मिलती है तो भी क्या इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि महत्त्व के ख़याल से शुद्ध और सुन्दर भाषा लिखनी उतनी ही जरूरी है जितना कि बाल-बच्चों के पालने-पोसने और लिखाने-पढ़ाने से सम्बन्ध रखने वाले नियमों की शिक्षा ज़रूरी है? इन दोनों बातों का महत्त्व एक सा नहीं। दोनों में बड़ा अन्तर है। जिस शिक्षा से आदमी अपनी सन्तति को अच्छी तरह शिक्षित कर सकता है उसकी अपेक्षा शुद्ध और मनोहर भाषा लिख सकना बहुत कम महत्त्व की बात है। मान लीजिए कि पुरानी मुर्दा भाषाओं में काव्य पढ़ने से मनुष्य में रसिकता आ जाती है, तो क्या इससे आप यह अर्थ निकाल सकेंगे कि रसिकता की उतनी ही क़ीमत है जितनी कि आरोग्य-रक्षा के नियमों की शिक्षा की? कदापि नहीं।

आरोग्य-शास्त्र का जानना रसिक होने की अपेक्षा अधिक ज़रूरी और अधिक महत्त्व की बात है। सुघरता, बोल-चाल की चतुराई, कविता और सङ्गीत आदि ललित-कलायें, और वे सब आलङ्कारिक बातें जिन्हें हम सभ्य-समाज-रूपी पेड़ के फूल समझते हैं, महत्त्व के हिसाब से, सभ्यता की आधार-भूत शिक्षा और सुधार से कम दरजे की हैं। इसी से हम कहते हैं कि जैसे हम इन मनोरंजक कामों को फ़ुरसत पाने पर करते हैं वैसे ही अधिक ज़रूरी और अधिक उपयोगी बातों की शिक्षा प्राप्त कर लेने पर फ़ुरसत के समय में ही हमें इनको सीखना चाहिए।

५७—सृष्टि-सौन्दर्य्य और ललित-कलाओं से पूरे तौर पर मनोरञ्जन होने के लिए भी विज्ञान की ज़रूरत है।

सुख, समाधान, सृष्टि-सौन्दर्य्य और मनोरञ्जन की बातों का दर्जा इस तरह निश्चित करने के बाद हमने जो राय क़ायम की है वह यह है, कि और बातों की शिक्षा के साथ ही साथ, शुरू से ही, इन बातों की शिक्षा होनी चाहिए। पर, हाँ, इस बात को न भूलना चाहिए कि मनोरंजक बातों की शिक्षा गौण शिक्षा है; उनकी शिक्षा और बातों की शिक्षा से कम महत्त्व की है। वह प्रधान शिक्षा नहीं, अप्रधान है। अब हमें इस बात का विचार करना है कि किस तरह का ज्ञान इस काम के लिए सबसे अधिक उपयोगी है— किस तरह की शिक्षा मनोरंजकता से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्य-जीवन के इस बाक़ी बचे हुए काम के लिए सबसे अधिक मुनासिब है? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है जो इसके पहले दिया जा चुका है। हर एक ऊँचे दरजे का कला कौशल; विज्ञान, अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान, पर ही अवलम्बित है। विज्ञान ही उसकी जड़ है, विज्ञान ही उसकी नीव है विज्ञान ही उसका आधार है। यह बात यद्यपि किसी किसी को चमत्कारिक मालूम होगी, पर है यह सच। इसके सच होने में सन्देह नहीं। बिना विज्ञान के—बिना शास्त्रीय ज्ञान के—न तो किसी कला से सम्बन्ध रखने वाला कोई काम ही सर्वोत्तम हो सकता है और न उसे देख कर किसी को पूरा पूरा आनन्द ही मिल सकता है। इन बातों के लिए कारीगर दर्शक या परीक्षक का विज्ञान से परिचित होना बहुत ज़रूरी है। सर्व-साधारण आदमी

शास्त्र या विज्ञान का अर्थ परिमित समझते हैं। उनका ख़याल है कि विज्ञान का अर्थ बहुत आकुञ्चित है। इन लोगों के हिसाब से तो बड़े बडे प्रसिद्ध कारीगरों को भी विज्ञान न आता होगा। पर प्रसिद्ध प्रसिद्ध कारीगरों और शिल्पियों की बुद्धि बड़ी शोधक होती है। इससे विज्ञान के मोटे मोटे नियमों से वे हमेशा परिचित रहते हैं। अन्दाज और तजरिबे से ही वे लोग वैज्ञानिक नियमों का स्थूल ज्ञान प्राप्त कर लिया करते हैं। जितने विज्ञान हैं—जितने शास्त्र हैं—बाल्यावस्था में उनके नियमों का ऐसा ही ज्ञान हुआ करता है। कारीगर लोग वैज्ञानिक बातों में इस लिए कच्चे रहते हैं—वे वैज्ञानिक नियमों का इस लिए बहुत ही थोड़ा ज्ञान रखते हैं—क्योंकि अन्दाज और तजरिबे से जानी हुई वैज्ञानिक बातों की बहुत ही थोड़ी पूंजी उनके पास होती है और वह भी निर्भ्रान्त और सुव्यवस्थित नहीं होती। उसमें भी भूलें होती हैं। मतलब यह कि उनका वैज्ञानिक ज्ञान बहुत नीचे दरजे का होता है। जितनी ललित कलायें हैं—जितने कारीगरी के काम हैं—सबकी जड़ विज्ञान है। ललित-कलाओं से जो चीजें पैदा होती हैं वे सब सृष्टि के भीतर या बाहर की चीज़ों की प्रतिनिधि होती हैं। सृष्टि ही की चीजों की जगह पर दूसरी चीजों को ललित-कलायें बनाती हैं। इन कलाओं से पैदा हुई चीजों का सादृश्य सृष्टि की चीज़ों से थोड़ा-बहुत ज़रूर होता है। इस बात का विचार करने--इस बात को याद करने—से यह आप ही साबित हो जाता है कि कारीगरी के जितने काम हैं सबका आधार सबका सहारा, सबकी बुनियाद विज्ञान है। सृष्टि की जिन भीतरी या बाहरी चीजों के नमूने कारीगर बनाते हैं उनका रूप उन चीजों से जितनाही अधिक मिलेगा—उनके रूप में जितनी ही अधिक तुल्यता होगी उतना ही अधिक वे अच्छे होंगे। अतएव कारीगरी की चीजों में तुल्यरूपता लाने के लिए सृष्टि की चीज़ों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रीय नियमों का ज्ञान होना कारीगर के लिए बहुत जरूरी है। यह नतीजा अन्दाज से तो निकलता ही है, पर तजरिबे से भी निकलता है। इस बात को हम अभी साबित कर के दिखाते हैं।

५८—प्रतिमा-निर्म्माण-विद्या के लिए मनुष्य-शरीर की बनावट और यन्त्रशास्त्र का जानना ज़रूरी है।

जो नव-युवक प्रतिमा-निर्म्माण के—मूर्ति बनाने के—पेशे के लिए तैयार होना चाहते हैं उनको मनुष्य-शरीर की हड्डियों और पट्ठो का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है; और यह भी सीखना पड़ता है कि वे कहाँ कहाँ पर हैं, किस तरह एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, और कैसे हिलते डुलते हैं। ये वैज्ञानिक बातें है। इनको सीखने की इसलिए ज़रूरत पड़ती है जिससे मूर्तियाँ बनाने में भूलें न हों। जो लोग शास्त्रीय ज्ञान के इस हिस्से से परिचित नहीं होते उनसे मूर्ति-निर्म्माण में ज़रूर भूलें होती हैं। मूर्तियाँ बनाने वालों को यन्त्र-विद्या के सिद्धान्तो का जानना भी ज़रूरी बात है। इन सिद्धान्तो का ज्ञान बहुधा न होने से कभी कभी लोग यंत्र-विद्या-सम्बन्धी बड़ी बड़ी भूलें कर बैठते है। एक उदाहरण लीजिए। मूर्ति अच्छी तरह खड़ी रहने के लिए यह ज़रूरी है कि उसके तुल्यगुरुत्व के बीच से जो सन्धान-रेखा निकाली जाय वह मूर्ति की बैठक के बाहर न पड़े। इसी से फ़ौजी क़वायद के वक्त, "स्टेंड एट ईज़" के हुक्म पर, आराम से खड़े होने में जब आदमी का एक पैर तना हुआ और दूसरा कुछ ढीला और टेढ़ा होता है, तब सन्धान-रेखा तने हुए पैर के भीतर पड़ती है, बाहर नहीं। परन्तु जो मूर्तिकार तुल्यगुरुत्व (अर्थात् सब तरफ़ से वज़न के बराबर तुले रहने) के इस सिद्धान्त को नहीं जानता वह इस स्थिति में खड़ी हुई मूर्ति बहुधा इस तरह बना डालता है कि सन्धान-रेखा दोनों पैरों के ठीक बीच में पड़ती है। यह बहुत बड़ी भूल है। इसके कारण मूर्ति ठीक तौर पर नहीं खड़ी रहती। पदार्थों की गति के वेग के सिद्धान्त को न जानने वालों से भी ऐसी ही भूलें होती हैं। डिस्कोबोलस * की मूर्ति की बड़ी तारीफ़ है। उसे देखकर लोग अचरज

* गोल और वजनी पत्थर आदि के टुकड़ों को फेक कर जो पहलवान कसरत करते है उनका नाम डिस्कोबोलस है। पुराने जमाने मे इस कसरत की दर्शक एक मूर्ति योरप मे बनी थी। उसी को देख कर और भी कई मूर्तियाँ पीछे से बनाई गई थी। उन्हीं मे यहाँ मतलब है।

करते हैं। पर यदि उसे आप, जिस समय वह अपनी जगह पर खड़ी है, देखेंगे तो ऐसा जान पड़ेगा कि उसके हाथ का पत्थर यदि खींच लिया जाय तो खींचने के साथ ही वह मूर्ति आगे की तरफ़ झुक जायगी।

५६—चित्रकला के लिए भी विज्ञान जानने की बड़ी ज़रूरत है।

चित्रकला के लिए भी विज्ञान की ज़रूरत है, और यह ज़रूरत ऐसी है कि और भी अधिक साफ़ मालूम होती है। हम यह नहीं कहते कि चित्रकार को विज्ञान का ज्ञान शास्त्रीय रीति से ही होना चाहिए, नहीं यदि उसके सिर्फ़ मोटे मोटे नियम उसे मालूम हों तो भी उसका काम चल सकता है। चीन में बने हुए चित्र क्यों बेडौल और बुरे लगते हैं? इसका कारण यह है कि वहाँ के चित्रकार दिखावे और आकार-प्रकार के नियमों की परवा नहीं करते; रेखागणित का उपयोग करना नहीं जानते; और चित्र खींचते समय जुदा जुदा चीज़ों की दूरी और उनकी छुटाई बड़ाई का ख़याल भी अच्छी तरह नहीं रखते। वे यह नहीं समझते कि दूरी के हिसाब से प्रकाश और छाया में चित्र उतारते समय, अन्तर हो जाता है। चित्र के स्वच्छ और अस्वच्छ हिस्सों में वे यथानियम रंग लगाना नहीं जानते। लड़कों के चित्र क्यों इतने ख़राब होते हैं? क्योंकि उनमें असलियत नहीं होती। जुदा जुदा हालतों में चीजों के दृश्य भी जुदा जुदा होते हैं—उनकी सूरतें भी जुदा जुदा होती है। पर इस बात पर चित्रकार बहुधा ध्यान नहीं देते। इसीसे उनके बनाये हुए चित्रों में दोष रह जाते हैं। चित्र-विद्या की उन किताबों और वक्तृताओं का तो जरा स्मरण कीजिए जो लड़कों को पढ़ाई जाती है; या इँगलैंड के विद्वान् ग्रन्थकार रस्किन ने इस विषय की जो आलोचना की है उस पर तो जरा विचार कीजिए; या इटली के प्रसिद्ध चित्रकार रैफल के पहले के बने हुए चित्रों को तो देखिए। ऐसा करने से मालूम हो जायगा कि चित्रण-कला की उन्नति उस ज्ञान की उन्नति पर अवलम्बित रहती है जिससे यह जाना जाता है कि प्राकृतिक पदार्थों के—सृष्टि-सम्भूत बातों के—परिणाम किस तरह पैदा होते हैं। जैसे जैसे यह मालूम होता जाता है कि संसार में जो बातें देख पड़ती हैं उनके क्या क्या नतीजे होते हैं वैसे ही वैसे चित्र खींचने की विद्या

में भी उन्नति होती जाती है। जिस चीज, या जिस बात, का जैसा परिणाम होता है उसको वैसाही चित्र में दिखला देना चित्रकार का काम है। यह बात तभी उससे हो सकती है जब वह उस परिणाम को अच्छी तरह जानता हो। उसे जानने ही से चित्र में असलियत आ सकती है। आदमी के चेहरे पर क्रोध का क्या परिणाम होता है, यह जो नहीं जानता उसके बनाये हुए चित्र में असलियत का आना असम्भव है। मनुष्य चाहे जितना चतुर, बुद्धिमान्, शोधक और सूक्ष्मदर्शी हो, जब तक उसे शास्त्रीय ज्ञान नहीं - जब तक वह विज्ञान से परिचित नहीं—तब तक वह भूल किये बिना नहीं रह सकता। उससे ज़रूर भूलें होंगी। इस बात को कोई भी चित्रकार कबूल करेगा कि जुदा जुदा हालतों में जुदा जुदा चीजों की सूरतों का ज्ञान हुए बिना चित्र में उन्हे तद्वत् दिखलाना बहुधा असम्भव होता है। और, इस बात का जानना कि किस हालत में किस चीज की कैसी सूरत होती है, एक तरह का शास्त्र है—एक प्रकार का विज्ञान है। ल्युइस साहब एक चतुर चित्रकार हैं। वे अपना काम बड़ी सावधानी से करते हैं। पर उन्होने चित्र में जालीदार खिड़की की छाया सामने की दीवार पर साफ़ साफ़ लकीरों में दिखलाई है। यह विज्ञान न जानने का फल है। यदि उन्हें छाया का शास्त्रीय ज्ञान होता, यदि वे जानते कि अपूर्ण छाया कैसी होती है, यदि उन्हे मालूम होता कि प्रकाश के योग मे छाया किस तरह अदृश्य सी होकर उसमें मिल जाती है, तो कभी उनसे ऐसी भूल न होती। रासेटी नाम के चित्रकार ने यह देखा कि किसी बालदार जगह पर एक विशेष प्रकार का प्रकाश पड़ने से प्रकाश की छाया ने इन्द्र-धनुष की तरह के रंग पैदा कर दिये। उस बालदार जगह पर बालों मे घुसते समय प्रकाश का वक्रीभवन होने के कारण ये रंग पैदा हुए थे। बस इसी के आधार पर उसने इन्द्र-धनुष की तरह के चित्र-विचित्र रंग ऐसी जगहो पर ऐसी हालतों में दिखलाये जहां उनके होने की कोई सम्भावना न थी। यह विज्ञान न जानने का फल है। यदि वह विज्ञान जानता तो कभी उससे ऐसी भूल न होती।

६०—संगीत में भी विज्ञान काम आता है। वहाँ भी उसकी ज़रूरत है।

यदि हम यह कहें कि संगीत-विद्या के लिए भी विज्ञान की ज़रूरत है तो तुम्हें और अधिक आश्चर्य होगा। परन्तु आश्चर्य का कोई कारण नहीं;

क्योंकि यह बात साबित की जा सकती है कि मन में जो विकार पैदा होते हैं संगीत उनका चित्र है। अथवा यों कहिए कि स्वाभाविक विकारों या उद्गारों के पूरे उत्कर्ष का नाम संगीत है। अतएव इन मनोविकारों के जो नियम हैं—आदमी की इस क़ुदरती ज़बान के जो क़ायदे हैं—उन नियमों की संगीत में जितनी ही अधिक पाबन्दी होगी उतनाही वह अधिक अच्छा होगा। उसका अच्छा या बुरा होना इन्हीं नियमों के अनुसरण पर अवलम्बित रहता है। मनोविकार अनेक तरह के होते हैं। उनमें न्यूनाधिकता भी होती है। कोई विकार कम प्रबल होता है कोई अधिक। इन्हीं मनोविकारों के कारण ध्वनि में भी भेद होता है। कोई ध्वनि ऊँची होती है, कोई नीची। स्वर के उतार चढ़ाव का कारण मनोविकारों की भिन्नता ही है। यही उतार चढ़ाव संगीत का बीज है; इसीसे संगीत की उत्पत्ति है। यह बात अच्छी तरह साबित की जा सकती है कि ध्वनि का उतार चढ़ाव—स्वर का ऊँचा नीचा होना—कोई आकस्मिक घटना नहीं। स्वर में बेक़ायदे उतार चढ़ाव नहीं होते। उसमें अन्धाधुन्ध भेद नहीं होता। उसके नियम हैं और वे नियम बहुत व्यापक हैं। उन्हीं व्यापक नियमों के अनुसार स्वर धीमे या ऊँचे होते हैं। जुदा जुदा हालतों में जीवधारियों के जुदा जुदा व्यापार होते हैं। स्वरों का उतार चढ़ाव इन्हीं व्यापारों पर अवलम्बित रहता है। और जितने व्यापार हैं सब मन की प्रेरणा से होते हैं। इससे स्वरों को मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब समझना चाहिए। उनमें मनोवृत्तियों की झलक साफ़ मालूम होती है। इससे यह नतीजा निकलता है कि गाते समय स्वरों के उतार चढ़ाव से जो तानें और मूर्च्छनायें आदि पैदा होती हैं उनका असर सुननेवाले पर तभी पड़ सकता है जब वे पूर्वोक्त नियमों के अनुकूल हों। इस बात को उदाहरण देकर समझाना कुछ कठिन है। परन्तु, यहाँ पर शायद इतना ही कहना काफ़ी होगा कि ये सैकड़ों निकम्मी ठुमरियाँ, दादरे और ग़ज़लें जिन्हें हम लोग, गन्दी भाषा में, उठते बैठते सुनते हैं, और जो महफ़िलों में लोगों की कुरुचि को बढ़ाती हैं, सङ्गीत-विद्या के नियमों के अनुकूल नहीं हैं। शास्त्र की रीति से ये जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं। ऐसे गीतों की शास्त्र में आज्ञा नहीं। इस तरह के गीत विज्ञान की दृष्टि में—सङ्गीत-शास्त्र की नजर में—अपराधी हैं। क्योंकि वे ऐसे भावों को, ऐसे ख़यालों को, ऐसी बातों को सङ्गीत में ज़बरदस्ती

-लाते है जिनमे काफ़ी रस नहीं होता । उनमे ऐसी बातें कही जाती हैं जिन्हें कहने के लिए मनोविकारो से काफ़ी प्रेरणा नहीं मिलती । उनमे इस तरह के भाव रहते हैं जिन्हें संगीत की सहायता से प्रकट करने के लिए मनुष्य के मनोविकार गायक को उत्तेजित ही नहीं करते । इस तरह के गीत इस कारण से भी सङ्गीत-शास्त्र की दृष्टि में अपराधी हैं. कि उनमें वे भाव प्रकट किये जाते हैं जो बिलकुल ही अस्वाभाविक हैं—जो मनुष्य के मनोविकारो से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते हैं । यदि मनोविकारों से वे सम्बन्ध भी रखते हैं तो भी वे स्वाभाविक नहीं होते । ऐसे गीतों को हम इसलिए बुरा कहते हैं कि उनमें असलियत नहीं होती—उनके भावों में यथार्थता का अभाव रहता है। और यह कहना कि उनमें असलियत नहीं होती—उनमें यथार्थता नहीं होती—मानों उन्हें अशास्त्रीय कहना है । दोनों बातों का मतलब एकही है । क्योंकि जिसमे असलियत नहीं—जिसमें बनावट है—उसकी विज्ञान में गिनती नहीं हो सकती । वह शास्त्र की परिभाषा के भीतर नहीं आ सकता ।

६१——कविता में भी स्वाभाविक मनोविकारों से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता ।

कविता का भी यही हाल है । मन में मनोविकारों के प्रबल होने से जो बातें स्वाभाविक तौर पर मनुष्य के मुँह से निकलती हैं उन्हीं के आधार पर, संगीत की तरह, कविता भी होती है । मनोविकारों ही को कविता का बीज समझना चाहिए । कविता मे जो शब्द-चातुर्य्य, जो स्वर-संवाद, जो प्रभावपूर्ण रूपक, जो अतिशयोक्तियाँ, जो तीव्र विपर्यास देख पड़ते हैं वे क्षुब्ध हुई मनोवृत्ति के उत्कट उच्छ्वास है । मनमें विकार पैदा होने से वाणी में जो विशेषता आ जाती है, ये अलङ्कार उसी के अवतार या आविष्कार है । अथवा यों कहिए कि उद्दाम मनोवृत्ति को वाणी की सहायता से प्रकट करने के ये साधन हैं। इससे कविता में स्वाभाविकता लाने के लिए—उसे उत्तम बनाने के लिए—कवि का काम है कि वह ज्ञानतन्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाले उन नियमों को ध्यान में रक्खे जो क्षुब्ध हुई वाणी का कारण होते हैं । अर्थात् क्षोभ उत्पन्न होने पर वाणी जिन नियमों की पाबन्दी करती है उनको जानना कवि का सबसे बड़ा काम है । क्षुब्ध मनोवृत्ति से उत्तेजित हुई वाणी को कविता का रूप देते समय क्षोभ के लक्षण दिखाने और

तीव्रता लाने में कवि को चाहिए कि वह सीमा के बाहर न जाय और जिन साधनों से अपनी वाणी को कविता का रूप दे उन्हें प्रतिबन्ध में रक्खे। परिणाम और प्रतिबन्ध का उसे ज़रूर ख़याल रखना चाहिए। उनका दुरुपयोग करना उचित नहीं। उन्हें काबू में रखना चाहिए। यह नहीं कि कविता के साधनीभूत अलङ्कार, वर्ण-विन्यास, वर्णनक्रम और रस-परिपाक आदि को बेरोकटोक अनर्गल होकर अपनी सीमा के बाहर चले जाने दे। जहाँ मनोवृत्तियों का वेग प्रबल न हो वहाँ कविता का भी वेग प्रबल न होने पावे; जैसे जैसे मनोवृत्तियों का वेग बढ़ता जाय तैसे तैसे कविता का भी वेग बढ़ता जाय; और जहाँ मनोवृत्तियों का वेग प्रबल होकर पराकाष्ठा को पहुँच जाय वहाँ कवितागत रस का भी वेग बढ़ कर सीमा के शिखर पर आरूढ़ हो जाय। जिस कविता में इन बातों की बिलकुल परवा नहीं की जाती-जिसमें इन नियमों का सर्वतोभाव से उल्लंघन होता है—वह कविताही नहीं। उसे नीच काव्य, शब्दाडम्बर या क़ाफ़ियाबन्दी कह सकते हैं, कविता नहीं कह सकते। उपदेश-विषयक कविता में इन नियमों की बहुत कम परवा की जाती है। बहुतेरी कविताओं के नीरस होने का यही कारण है कि उनके कर्ता कवियों ने नियमों की बहुतही कम पाबन्दी की है। उन्होंने शायदही कभी इनका पालन पूरे तौर पर किया हो।

६२—प्रत्येक कारीगर के लिए मनोविज्ञान के नियम जानने की ज़रूरत।

हर एक कारीगर वह चाहे जो काम करता हो, तब तक अपना काम ठीक तौर पर नहीं कर सकता—तब तक उसे निर्दोष नहीं बना सकता—जब तक कि वह उस काम से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों को न समझ ले और उसके गुण-धर्म्मों को न जान ले। इतनाही नहीं, किन्तु उसके लिए इस बात का जानना भी बहुत ज़रूरी है कि उसके काम की—उसकी कारीगरी की—खूबियों का देखने या सुननेवालों पर कैसा असर पड़ेगा। और यह मनोविज्ञान की बात है। जिनके सामने कोई कारीगरी या कोई चीज रक्खी जाती है उनके दिल पर उसका क्या असर पडेगा—यह एक ऐसी बात है जो स्वभाव से सम्बन्ध रखती है। और स्वभावों का यह धर्म्म है कि वे विशेष विशेष बातों में एक दूसरे से थोड़ा बहुत ज़रूर मिलते हैं।

इस लिए उन बातों के सम्बन्ध में ऐसे व्यापक नियम जरूर निकाले जा सकते हैं जिनके अनुसार कारीगरी करने से कामयाबी हो सकती है। अर्थात् जिन नियमों के अनुसार किसी किसी बात में सब लोगो के स्वभाव परस्पर मिलते हैं उन नियमों का खयाल रख कर यदि कारीगर कोई चीज बनावेगा तो वह चीज लोगों को जरूर पसन्द आवेगी। इन साधारण नियमों को कारीगर तब तक नही समझ सकता और तब तक इनका उपयोग भी नहीं कर सकता जब तक वह इस बात को न जान ले कि मनोधर्मों से इन नियमो का कैसा सम्बन्ध है—मनोविकारों के झुकाव का ये किस तरह अनुसरण करते है। किसी चित्र के विषय में किसी से यह पूछना कि वह कैसा है—अच्छा है या बुरा—मानो यह पूछना है कि उसके मनोभाव और पदार्थ-ज्ञान पर उसका कैसा असर पड़ेगा। अर्थात् उसे देखकर देखनेवाले की मनोवृत्ति कैसी होगी। इसी तरह, यह पूछना कि अमुक नाटक अच्छा है या नहीं, मानो यह पूछना है कि उसके कथानक की रचना क्या ऐसी है कि वह अभिनय देखनेवालों के चित्त को अपनी तरफ़ खींच कर एकाग्र कर सके? अथवा, क्या उसमें किसी मनोभाव या रसपरिपाक की मात्रा इतनी अधिक तो नहीं होगई कि उसके कारण दर्शकों के मन में उद्वेग पैदा होजाय। कविता और उपन्यासों का भी यही हाल है। इनके मुख्य मुख्य भागों की रचना, और प्रत्येक वाक्य के शब्दो का पारस्परिक सम्बन्ध इस ख़ूबी से होना चाहिए कि सुनने या देखनेवालों के मन में उद्वेग न होकर आनन्द उत्पन्न हो। तभी समझना चाहिए कि रचना निर्दोष हुई है। नाटक या उपन्यास की कामयाबी सिर्फ़ इस बात पर अवलम्बित है कि उसे देखने या सुनने से लोगों की मनोवृत्तियाँ जगकर उत्तेजित हो जायँ और उनका चित्त आनन्द से उल्लसित हो उठे।

६ ३—तजरिबे से जाने गये कारीगरी के सिद्धान्तों की जड़ मनोविज्ञान है।

हर एक कारीगर, अपनी शिक्षा के समय—अपना काम सीखते समय—और उसके बाद भी तजरिबे से कुछ ऐसे नियम और सिद्धान्त सीख लेता है जिनकी मदद उसे हमेशा दरकार होती है। इन सिद्धान्तों की जड़ों का पता लगाने से वे आपको मनोविज्ञान की भूमि मे गड़ी हुई मिलेंगी। ये

सिद्धान्त मनोविज्ञान के सिद्धान्त है । अतएव जब कारीगर इस विज्ञान के सिद्धान्तों और तदन्तर्गत जुदा जुदा बातों को समझ लेगा तभी वह अपना काम उनके अनुसार यथानियम कर सकेगा, अन्यथा नहीं ।

६४—स्वाभाविक प्रतिभा और विज्ञान के मेल से ही कवि और कारीगर को पूरी पूरी कामयाबी होती है ।

हम इस बात पर एक क्षण भर के लिए भी विश्वास नहीं करते कि विज्ञान पढ़ने से ही कोई कारीगर हो सकता है । हम यह जरूर कहते हैं कि कारीगर के लिए बाहरी सृष्टि के मुख्य नियमों और उनके स्थूल धर्म्मों का ज्ञान होना ही चाहिए, पर हम यह भी कहते हैं कि सिर्फ़ इसी ज्ञान से किसी कारीगर का काम नहीं चल सकता । उसे अपने काम से—अपने उद्योग-धन्धे से—सम्बन्ध रखनेवाला स्वाभाविक ज्ञान भी होना चाहिए । सिर्फ़ कवि ही नहीं, किन्तु हर विषय का कारीगर बनाया नहीं जाता । वह पैदा ही वैसा होता है । उसमें कविता और कारीगरी का बीज स्वाभाविक होता है । उनका अंकुर वह जन्म से ही अपने साथ लाता है । हमारे कहने का मतलब सिर्फ़ इतनाही है कि मूलांकुर से काम नहीं निकल सकता । उसके लिए शास्त्रीय ज्ञान की जरूरत है । विज्ञान सीखने ही से-शास्त्र पढ़ने ही से-उसे कामयाबी हो सकती है । अन्तर्ज्ञान से बहुत कुछ काम निकल सकता है; पर सब काम नहीं । जब प्रतिभा और विज्ञान दोनो का मेल हो जाता है—जब प्रतिभा विज्ञान के गले मे सवरणमाल डाल देती है—तभी ऊँचे दरजे की कामयाबी होती है ।

६५—विज्ञान का ज्ञान जितनाही अधिक होगा कारीगरी भी उतनीही अधिक अच्छी होगी और आनन्द भी उससे उतनाही अधिक मिलेगा ।

जैसा हम ऊपर कह चुके है, विज्ञान की शिक्षा सिर्फ़ इसी लिए जरूरी नहीं कि उसकी मदद से कारीगरी सर्वोत्तम हो, किन्तु इसलिए भी ज़रूरी है जिसमे ललित-कलाओ की ख़ूबियों को जान कर उनसे आनन्द भी प्राप्त हो सके । किसी चित्र की ख़ूबियों को जानने की योग्यता बच्चे की अपेक्षा

वयस्क आदमी में क्यों अधिक होती है? इसका कारण सिर्फ़ इतनाही है कि सृष्टि और जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें जो चित्र में चित्रित रहती हैं उनका मर्म्म वयस्क आदमी को अधिक समझ पड़ता है। क्या कारण है जो विद्वान् और रसिक आदमी को, एक अक्षरशून्य ग्रामीण की अपेक्षा, अच्छी कविता के आस्वादन में अधिक आनन्द मिलता है? कारण यही है कि उसे सृष्टि के पदार्थों और मानुषिक जीवन के व्यवहारों का ज्ञान, नादान ग्रामीण की अपेक्षा, अधिक होता है। इसीसे काव्यो में इस विषय की बातें वह अधिक समझता है और उनसे उसका मनोरञ्जन भी अधिक होता है। जैसा कि इस उदाहरण में बहुत ही स्पष्टतापूर्वक दिखलाया गया है, यदि चित्रों की ख़ूबियों को थोड़ा बहुत समझने के पहले उन चीजो का कुछ न कुछ ज्ञान होना बहुत ज़रूरी है जिनके कि वे चित्र हैं, तो उन ख़ूबियों को पूरे तौर पर समझने के लिए उन असल चीज़ों का पूरा ज्ञान प्राप्त करना भी बहुत ज़रूरी है। यह एक ऐसी बात है जिसके लिए और कोई सबूत दरकार नहीं। बात बिलकुल साफ़ है। और अपनी सचाई को आपही साबित कर रही है। सच तो यह है कि चाहे जिस विषय की कारीगरी हो उसमें जितनी अधिक असलियत होती है—जितनी अधिक ख़ूबियाँ उसमे दिखाई देती है—समझदार आदमी को उतनाही अधिक आनन्द मिलता है। ये ख़ूबियाँ जिन लोगो के ध्यान में नहीं आतीं उनको यह आनन्द भी नहीं मिलता; वे इससे सर्वथा वञ्चित रहते हैं। कारीगर अपने काम में जितनीही अधिक ख़ूबियाँ दिखलाता है उतनीही अधिक मानसिक शक्तियों को वह जागृत करता है; उस कामको देखकर उतनेही अधिक मनोभाव और विचार पैदा होते हैं; और उतनाही अधिक आनन्द भी मिलता है। पर इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए देखने, सुनने या पढ़नेवाले के ध्यान में वे ख़ूबियाँ आनी चाहिए जिनको कि उस कारीगर ने अपने काम में दिखलाया है। और इन ख़ूबियों का जानना—इन मर्मों का समझना—मानों उतने विज्ञान या शास्त्र का जानना है।

६६—विज्ञान कविता की जड़ही नहीं; वह ख़ुद भी एक विलक्षण प्रकार की कविता है।

अब हम एक और बात कहना चाहते हैं। यह बात औरों से अधिक ज़रूरी है। इसलिए इसे न भूलना चाहिए। वह बात यह है कि मूर्ति-

निर्माण किंवा सङ्ग-तराशी, चित्र-विद्या, सङ्गीत और कविता की जड़ ही विज्ञान नहीं; विज्ञान ख़ुद भी एक प्रकार की कविता है। इन कलाकौशलों का महत्त्व सिर्फ़ इसी लिए नहीं कि उनकी जड़ विज्ञान है। नहीं, विज्ञान में ख़ुद भी एक विलक्षण प्रकार का आनन्द है। आजकल लोग जो यह समझते हैं कि विज्ञान और कविता में परस्पर विरोध है सो भ्रममात्र है। जो ऐसा समझते हैं वे भूलते हैं। यह जरूर सच है कि ज्ञान और मनोविकार, ये दोनों, मन की जुदा जुदा स्थितियाँ हैं। अतएव जब मन इन दोनों में से किसी एक स्थिति में रहता है तब वह, एक ही साथ, दूसरी स्थिति में नहीं रह सकता। और यह भी ज़रूर सच है कि विचार-सागर में निमग्न होने से मन की सारी भावनायें शिथिल हो जाती हैं। और भावनाओं में मन के डूब जाने से विचार-परम्परायें बन्द हो जाती हैं। इस हिसाब से तो मन से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं सभी परस्पर विरोधी हैं। पर यह कदापि सच नहीं कि वैज्ञानिक बातों में काव्यरस नहीं—उनसे आनन्द की प्राप्ति नहीं। और न यही सच है कि विज्ञान में प्रवीणता प्राप्त करने से—विज्ञान सीखने से—कल्पनाशक्ति मे बाधा आती है और सृष्टि-सौन्दर्य्य से मिलनेवाली रसिकता कम हो जाती है। उलटा इसके, जो लोग विज्ञान के ज्ञाता हैं उनके सामने काव्य के वे विस्तृत मैदान, जो विज्ञान न जाननेवालों को रेगिस्तान मालूम होते हैं, नन्दनवन बनकर प्रकट होते हैं। जो लोग वैज्ञानिक विचारों में लगे हैं—जो लोग वैज्ञानिक खोज में निमग्न हैं—वे बार बार इस बात को साबित कर दिखाते हैं कि अपने वैज्ञानिक विषयों की कविता से वे और लोगों की अपेक्षा कम नहीं, किन्तु बहुत अधिक आनन्द पाते हैं। उनका आनन्द एक विलक्षण प्रकार का होता है और उसका अनुभव वे बड़ी ख़ूबी से करते हैं। स्काटलैंड के राजा ह्यू मिलर की भूगर्भ-शास्त्र-विषयक पुस्तकें और ल्यूइस साहब की "सामुद्रिक तट के विचार" (सी साइड स्टडीज़) नाम की पुस्तक जो ध्यान से पढ़ेगा उसे साफ़ मालूम हो जायगा कि विज्ञान से कवित्व-शक्ति की दीपशिखा बुझती नहीं, किन्तु अधिक प्रज्वलित हो जाती है। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् गेटी के जीवन-चरित को जो विचारपूर्वक पढ़ेगा उसके ध्यान मे यह बात जरूर आ-जायगी कि कवित्व और विज्ञान, ये दोनों, एकही साथ एकही आदमी में किस तरह रह सकते हैं और किस तरह वे दोनों अपना अपना काम उत्साह

पूर्वक कर सकते हैं। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि जो आदमी विज्ञानवेत्ता है वह साथही कवि भी हो सकता है। क्या यह कहना बेहूदा और प्रायः अपवित्र या नास्तिकतापूर्ण नहीं है कि जैसे जैसे आदमी सृष्टि के पदार्थों को अधिक देखता और उनके विषय में अधिक विचार करता है वैसेही वैसे उन पर उसकी भक्ति और श्रद्धा कम होती जाती है? क्या तुम कभी इस बात का खयाल कर सकते हो कि पानी का एक बूँद जो नादान और कमसमझ आदमियों की नजर मे सिर्फ़ पानी का बूँद है, पदार्थशास्त्र मे पण्डित को भी वैसाही मालूम होगा? अथवा क्या उसकी क़ीमत उसकी नज़र में कुछ कम हो जायगी जो यह जानता है कि उस बूंद के परमाणु एक शक्ति विशेष के बल से परस्पर बँधे हुए हैं और यदि वह शक्ति सहसा दूर कर दी जाय—यदि अकस्मात् उसका विच्छेद हो जाय—तो उसी बूंद से बिजली की चमकीली शिखा निकल पड़े? अब आप ही कहिए कि पानी के ऐसे बूंद को देख कर किसे अधिक आनन्द होगा? जब कोई मामूली आदमी अपने चर्म-चक्षुओ से बर्फ़ के किसी गाले को बेपरवाही से देखता है तब उसे उसमे कोई विशेषता नहीं मालूम होती। पर उसी को जब कोई विज्ञानवेत्ता ख़ुर्दबीन लगा कर देखता है तब उसे उसमें कितनी ही तरह के मनोहर रंग और कितनी ही तरह की अद्भुत अद्भुत शकलें देख पड़ती हैं। इस दशा मे मामूली आदमी की अपेक्षा विज्ञान-शास्त्र के ज्ञाता के मन में क्या ऊँचे दरजे के अनेक ख़यालात अधिक न पैदा होंगे? क्या तुम समझते हो कि किसी गोल चट्टानी पत्थर पर समान्तराल रेखाओ को देख कर अज्ञान आदमी के चित्त मे वैसे ही कविजनोचित विचार पैदा होंगे जैसे कि भूगर्भ-विद्या के ज्ञाता के चित्त में जो इस बात को जानता है कि दस लाख वर्ष पहले उसी पत्थर के ऊपर पर्वतप्राय बर्फ़ जमा था? सच तो यह है कि जिनको शास्त्रीय ज्ञान का गन्ध भी नहीं—जो विज्ञानविद्या के पास से होकर भी कभी नहीं निकले—वे सृष्टि की उन हज़ारों रमणीय वस्तुओ से सम्बन्ध रखनेवाली कविता से बिलकुलही वञ्चित रहते हैं जो उनके चारों तरफ़ पाई जाती है। वे उन चीजों से हमेशा घिरे हुए रहते हैं, पर उनसे उनको कुछ भी आनन्द या समाधान नहीं मिलता। जिसने लड़कपन मे तरह तरह के पौधों और कीड़ो मकोड़ों को नहीं इकट्ठा किया उसे उस आनन्द और मनोरञ्जन का अर्धांश भी नहीं

मिल सकता जो गली-कूँचों और काँटेदार झाड़ियों में इन चीजों को ढूँढने से मिलता है। हजारों वर्ष से पृथ्वी के पेट में गड़ी हुई चीजों को खोद निकालने का जिसने कभी प्रयत्न नहीं किया उसके मन में वे कवि-जनोचित भाव कभी पैदा नहीं हो सकते जो उन जगहों को देख कर पैदा होते हैं जहाँ ऐसी चीजों का ख़ज़ाना पृथ्वी के भीतर गड़ा हुआ पाया जाता है। समुद्र के किनारे सामुद्रिक जीवों से भरे हुए किसी कुण्ड को जिसने ख़ुर्दबीन से नहीं देखा वह बेचारा नहीं जान सकता कि समुद्र-तट में सबसे अधिक आनन्द-दायक चीजें कौनसी हैं। बड़े अफसोस की बात है कि आदमी तुच्छ बातों के पीछे अपना अनमोल समय व्यर्थ नष्ट करते हैं और बहुत बड़ी बड़ी बातों की बिलकुल परवा नहीं करते। परमेश्वर ने इस विस्तृत विश्व में जो नाना प्रकार के अपूर्व अपूर्व दृश्य और चमत्कार दिखलाये हैं उनको समझने की जो लोग कुछ भी कोशिश नहीं करते, पर रानी एलिजब्यथ के खिलाफ़ षड्यन्त्र रचने वाली स्काटलैंड की रानी मेरी की कपट-कालिमा-विषयक एक आध शुष्क बात की चर्चा बड़े उत्साह से करने बैठते हैं! किसी ग्रीक या संस्कृत-कवि के एक आध श्लोक की आलोचना करने में तो लोग अपनी सारी विद्वत्ता ख़र्च कर देते हैं; पर इस पृथ्वी के विशाल पृष्ठ पर जगदीश्वर ने अपनी करांगुली से प्रकृति-रूपी इस बड़े महाकाव्य की जो रचना कर रक्खी है उसकी तरफ़ वे आँख उठाकर भी नहीं देखते! कैसा निन्द्य व्यापार है!

६७—विज्ञान में विलक्षण सरसता है। बिना उसे जाने मनोरञ्जक कला-कौशलों से पूरा पूरा आनन्द नहीं मिल सकता।

यहाँ तक जो कुछ लिखा गया उससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य की ज़िन्दगी से सम्बन्ध रखने वाले इस आख़िरी काम के लिए भी विज्ञान की शिक्षा बहुत जरूरी है। शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने ही में पूरे तौर पर मनोरञ्जन हो सकता है और किसी तरह नहीं। हम कह चुके हैं कि साधारण रीति पर मनोरञ्जन की सारी बातों के आधार वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं। सृष्टि-सौन्दर्य्य से सम्बन्ध रखने वाली जितनी कलायें हैं सबकी जड़ शास्त्रीय तत्त्व हैं। इन तत्त्वों से—इन सिद्धान्तों से—जानकारी प्राप्त करने ही से मनोरञ्जक कलाकौशलों से आनन्द उठाने में कामयाबी हो

सकती है। बिना इनको जाने पूरे तौर पर मनोरञ्जन नहीं हो सकता; और जितनी कारीगरियाँ हैं उनकी अच्छी तरह परीक्षा कर सकने और उनसे पूरा पूरा आनन्द उठा सकने के लिए उन चीज़ों के अवयवों का सम्बन्ध ज्ञात होना बहुत ज़रूरी है। वे किस तरह बनी हैं? उनके अवयवों का परस्पर सम्बध कैसा है? उनको देखकर मन में क्या क्या भाव पैदा होते हैं? बिना इन बातों के जाने कलाकौशल्य के कामों से पूरा पूरा आनन्द नहीं मिल सकता। और इन सब बातों को जानना मानो विज्ञान जानना है—मानो शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करना है। यही नहीं कि कला-कौशल और कविता के जितने रूप हैं, विज्ञान-विद्या उन सब की सिर्फ़ सखी है; किन्तु यथार्थ रीति से विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि वह ख़ुदही कवितामय है। अर्थात् विज्ञान वह वस्तु है जिसमें ख़ुदही एक प्रकार की विलक्षण सरसता है।

६८—मन और बुद्धि पर हर तरह के ज्ञान का क्या असर होता है और उनकी अन्यसापेक्ष-योग्यता कितनी है।

यहाँ तक हमने इस बात का विचार किया कि व्यवहार में सब तरह के ज्ञानों का कितना उपयोग होता है और उनमें से हर एक का मोल कितना है। अब तक हमने सिर्फ़ इस बात पर बहस की कि किस तरह के ज्ञान से आदमी का कितना काम निकलता है। अब हमको यह देखना है कि हर तरह के ज्ञान का मन और बुद्धि पर क्या असर होता है और उनकी अन्य-सापेक्ष-योग्यता कितनी है—सापेक्ष भाव के ख़याल से किसकी योग्यता कम है किसकी अधिक। जिस विषय पर हम लिख रहे हैं उसके इस अंश का विचार, विवश होकर, हमें थोड़े ही में करना पड़ेगा, और सौभाग्य से इस पर बहुत कुछ लिखने की ज़रूरत भी नहीं है। थोड़े ही में काम निकल जायगा। जब हमको यह मालूम हो गया कि किसी एक काम के लिए कौन बात सबसे अधिक अच्छी है तब अनुमान द्वारा हमें यह भी मालूम हो गया सा है कि किसी दूसरे काम के लिए कौन बात सबसे अधिक अच्छी है। एक काम हो जाने से दूसरा भी हो गया समझना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिन बातों का जानना चालचलन को सुधारने और हर एक काम को मुनासिब तौर पर करने के लिए सबसे अधिक

ज़रूरी है उनके जानने—उनका अभ्यास करने—से मानसिक शक्तियों को भी सबसे अधिक लाभ पहुँचता है। ऐसी बातों के अभ्यास से बुद्धि की भी सञ्चालना होकर उसमें मज़बूती आती है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए यदि एक तरह का अभ्यास दरकार होता और मानसिक शक्तियों को सुधारने के लिए दूसरी तरह का, तो सृष्टि के सुन्दर और सरल नियमों में बट्टा लग जाता। इस संसार में सब कहीं हम यही देखते है कि जिस शक्ति का जो काम है उसी को करने से उस शक्ति में वह काम करने की अधिक योग्यता आती है, बनावटी कामों का अभ्यास करने से नहीं आती। इसके लिए स्वतंत्र संथा लेने और उसे घोखते बैठने की ज़रूरत नहीं पड़ती। जानवरों के पीछे दौड़ने से ही अमेरिका के लाल रंग के जंगली आदमी इतने चुस्त, चालाक और तेज़ दौड़ने वाले हो जाते हैं कि शिकार उनसे भग कर नहीं जाने पाता। इन लोगों का काम हमेशा दौड़ धूप करने का है। उसकी बदौलत इनके बदन की सब शक्तियाँ, मामूली तौर पर कसरत करके घर में बैठे रहनेवालों की अपेक्षा, अधिक प्रबल और बढ़ी चढ़ी होती है। इनके सब अंग बराबर बलवान् होते हैं—उनमें समभाव रहता है; यह नहीं कि कोई अंग अधिक सशक्त हो कोई कम। इन लोगों को अपने शत्रुओं और शिकार की खोज में प्रायः रोज दौड़ना पड़ता है। अतएव हमेशा दौड़ने धूपने के कारण इन लोगों में जो चुस्ती और चालाकी आ जाती है वह और लोगों मे अस्वाभाविक कसरत करने से कभी नहीं आ सकती। यही बात सब कहीं पाई जाती है। दक्षिणी अफ़रीक़ा के घर-द्वार-विहीन बुशमैन नाम के असभ्य आदमियों को देखिए। जिन जीवों को पकड़ना या जिनसे दूर रहना चाहिए उन्हें ये लोग अभ्यास-वश दूर ही से पहचान लेते हैं। इस विषय में इनकी दृष्टि इतनी तेज़ होती है कि उसके सामने दूरबीन कोई चीज़ ही नहीं। जितनी दूर की चीजें ये लोग आँख से देख सकते हैं उतनी दूर की और लोग बिना दूरबीन लगाये हरगिज़ नहीं देख सकते। इन जंगली आदमियों से लेकर उन हिसाबी बाबुओं तक, जो प्रति दिन अभ्यास करते करते हिन्दसों की दस दस सतरों का एक साथ जोड़ लगा देते है, सब कहीं यही देखा जाता है कि स्वाभाविक शक्तियों की सबसे अधिक बढ़ती तभी होती है जब उन शक्तियों से वे काम लिये जाते हैं, जो आदमी को, अपनी जुदा जुदा

अवस्थाओं के अनुसार, उदरनिर्वाह के लिए, करने पड़ते हैं। बिना और कोई सबूत दिये हम इस बात को विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि यही नियम सब तरह की शिक्षा के लिए भी उपयुक्त है। प्रति दिन व्यवहार में काम आनेवाली जो शिक्षा सबसे अधिक क़ीमती और उपयोगी होगी वही शरीर, मन और बुद्धि की उन्नति के लिए भी सबसे अधिक क़ीमती और उपयोगी होगी।

६६—भाषा-शिक्षा की अपेक्षा विज्ञान-शिक्षा से स्मरण-शक्ति अधिक बढ़ती है।

हमारी आजकल की शिक्षा-पद्धति में भाषाओं के सीखने पर जो इतना जोर दिया जाता है उसका कारण लोग यह बतलाते हैं कि उससे स्मरण-शक्ति ख़ूब बढ़ जाती है। वे कहते हैं कि भाषा-शिक्षा से यह बड़ा फ़ायदा होता है। वे यह समझते हैं कि शब्दों को रटने से ही स्मरण-शक्ति बढ़ सकती है, और किसी तरह नहीं। परन्तु यह उनका भ्रम है। सच बात यह है कि स्मरण-शक्ति की बढ़ती के लिए विज्ञान से बढ़कर और कोई विषय नहीं। उसके लिए विज्ञान ही की सबसे अधिक ज़रूरत है। स्मरण-शक्ति को अपना विस्तार बढ़ाने के लिए शास्त्रीय विषयों के अभ्यास में बहुत बड़ा मैदान ख़ाली मिलता है। सौर-जगत् अर्थात् ग्रह-मालिका के विषय में आज तक जितनी बातें जानी गई हैं उन सबको याद कर लेना कोई सहज काम नहीं। और आकाश-गङ्गा की रचना आदि के सम्बन्ध में आज तक जो कुछ मालूम हुआ है उसे याद रखना तो और भी कठिन काम है रसायन-शास्त्र में प्रति दिन नये नये मिश्रित पदार्थों का पता लगने से उनकी संख्या इतनी बढ़ गई है कि, स्कूलों और कालेजों के अध्यापकों को छोड़कर, शायदही और कोई उन सबकी गिनती कर सके। सब मिश्र-पदार्थों की घटना, उसके अवयवों का परस्पर सम्बन्ध, और उनकी संयोग-क्रिया आदि की बातें अच्छी तरह याद रखना तो, जन्म भर रसायन-विद्या का अभ्यास किये बिना, प्रायः असम्भव सा है। पृथ्वी की पीठ से, उसकी तहों से, और उसके पेट में भरे हुए अनन्त पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भूगर्भशास्त्र का अभ्यास करनेवालों

को वर्ष के वर्ष बिताने पड़ते हैं। पृथ्वी की पीठ से जिन बातों का सम्बन्ध है वही थोड़ी नहीं; पेट से सम्बन्ध रखनेवाली बातें तो और भी अधिक हैं। पदार्थ-विज्ञानशास्त्र को देखिए। ध्वनि, उष्णता, प्रकाश, बिजली इत्यादि इस शास्त्र के प्रधान अङ्ग हैं। इनमें सीखने लायक इतनी बातें हैं, कि उनकी असंख्येयता का ख़याल करके उसे सीखने की इच्छा रखनेवालों का कलेजा धड़क उठता है। और जब हम इन्द्रिय-विशिष्ट-विज्ञान की तरफ़ ध्यान देते हैं तब हमें वहाँ स्मरण-शक्ति की और भी अधिक ज़रूरत देख पड़ती है। अकेले मानव-शरीर शास्त्रही में हड्डियों, रगों और पट्ठो की संख्या इतनी अधिक है कि उन सबको अच्छी तरह याद रखने के लिए सीखनेवालों को छः छः सात सात दफ़े उनके नाम रटने पड़ते हैं। वनस्पति-विद्या के जाननेवालों ने वनस्पतियों के जो भेद किये हैं उनकी संख्या तीन लाख बीस हजार तक पहुँची है, और प्राणि-शास्त्र के ज्ञाताओ को प्राणियों की जिन तरह तरह की सूरतों से काम पड़ता है उनकी संख्या कोई बीस लाख है। विज्ञान-वेत्ताओं के सामने याद रखने और समझने लायक इतना बड़ा ख़जाना पड़ा हुआ है कि उन्हें इन बातों के जानने के लिए अपनी मेहनत को अनेक भागों और उन भागों को अनेक विभागों में बाँटना पड़ता है। बिना इसके उनका कामही नहीं चल सकता। एक एक शाखा प्रशाखा का अलग अलग अभ्यास करने के लिए उन्हें विवश होना पड़ता है। हर आदमी किसी विशेष शाखा या प्रशाखा का पूरे तौर पर अभ्यास करके उससे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी शाखा-प्रशाखाओ का साधारण तौर पर सिर्फ़ थोडा बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेता है; और बहुत हुआ तो और और शाखा-प्रशाखाओ की भी मोटी मोटी बातें जान लेता है। शास्त्रज्ञान की आज कल ऐसीही व्यवस्था है। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि यदि वैज्ञानिक विषयों की, काम निकाल लेनेही भर के लिए, बहुतही परिमित शिक्षा प्राप्त की जाय तो भी स्मरणशक्ति को बढ़ाने के लिए काफ़ी सामग्री विद्यमान है। और कुछ नहीं तो कम से कम इतना तो ज़रूरही है कि विज्ञान की शिक्षा से स्मरण-शक्ति उतनीही बढ़ सकती है जितनी कि भाषा की शिक्षा से।

७०—वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा से स्मरण-शक्ति भी बढ़ती है और बुद्धि भी बढ़ती है।

अब इस बात का विचार कीजिए कि सिर्फ़ स्मरण-शक्ति को बढ़ाने के लिए यदि भाषा-शिक्षा का उतनाही उपयोग हो जितना कि विज्ञान-शिक्षा का, उससे अधिक नहीं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि वैज्ञानिक विषयों के अभ्यास से स्मरण-शक्ति की जो वृद्धि होती है उसमें एक प्रकार की विशेषता है। इस विशेषता के कारण वह वृद्धि भाषाओं के अभ्यास से प्राप्त हुई वृद्धि की अपेक्षा अधिक महत्त्व की है। भाषा सीखने में जो बातें याद करनी पड़ती हैं उनका सम्बन्ध संसार की जिन घटनाओं से होता है वे बहुत करके आकस्मिक होती हैं। उनके सम्बन्ध को लोग वैसा मान लेते हैं। यह नहीं कि इस तरह का सम्बन्ध निश्चितरूप से होताही है। परन्तु वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा प्राप्त करने में जिन बातों या जिन कल्पनाओं का सम्बन्ध ध्यान में रखना पड़ता है वह सम्बन्ध सांसारिक घटनाओं और सांसारिक वस्तुओं से निश्चित होता है। वैज्ञानिक बातों का जो सम्बन्ध सांसारिक वस्तुओं से होता है वह बहुधा ज़रूरी होता है, नित्य होता है, नियमित होता है। वह आकस्मिक या अनिश्चित नहीं होता, उसमें कार्य्य-कारण-भाव का लगाव भी रहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शब्द और अर्थ में एक प्रकार का स्वाभाविक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध-सूत्र की खोज यदि जड़ तक नहीं, तो बहुत दूर तक, जरूर हो सकती है। यह खोज कुछ निश्चित नियमों के अनुसार की जाती है। इन नियमों के समूह से मनोविज्ञान की एक शाखा बन गई है। इस शाखा का नाम है—"भाषा-विज्ञान"। परन्तु इस बात को शायद सब लोग स्वीकार करेंगे कि आज कल, मामूली तौर पर, भाषाओं की शिक्षा में न तो शब्द और अर्थ का ही सम्बन्ध बतलाया जाता है और न उनके नियमही बतलाये जाते हैं। इससे लोग शब्दार्थ के सम्बन्ध को अनित्य या आकस्मिक समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि इस तरह का सम्बन्ध नित्य है—स्वाभाविक है। परन्तु विज्ञान की बात इससे बिलकुल उलटी है। क्योंकि जितनी वैज्ञानिक बातें हैं—जितने वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं—उन सबका सम्बन्ध कार्य्य-कारण भाव युक्त होता है और अच्छी

तरह सिखलाने से समझ में भी आजाता है। भाषा की शिक्षा में शब्दार्थों का सम्बन्ध जानने के लिए बुद्धि-सञ्चालना की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। वैज्ञानिक बातों क सम्बन्ध समझने के लिए बुद्धि-संचालना के बिना काम ही नहीं चल सकता। मतलब यह कि भाषा सीखने के लिए स्मरण-शक्ति की संचालना की भी ज़रूरत पड़ती है और बुद्धि की संचालना की भी।

७१—विज्ञान-शिक्षा से विचार और विवेचना की भी शक्ति बढ़ती है। अतएव भाषा की शिक्षा से उसका महत्त्व अधिक है।

एक बात और भी है। वह यह कि शास्त्रीय विषयों का अभ्यास करने में मन से अधिक काम लेना पड़ता है। इससे विचार और विवेचना की शक्ति बढ जाती है। अतएव इस कारण से भी भाषा की अपेक्षा विज्ञान को अधिक महत्त्व देना चाहिए। रायल इन्स्टिट्यूशन नामक विद्यालय में एक दफ़े अध्यापक फराडे ने मानसिक शिक्षा पर एक व्याख्यान दिया। उसमें उन्होंने यह बात बहुत ही अच्छी कही कि हम लोगो की मानसिक शिक्षा में सबसे बड़ा दोष विचारशून्यता है। अध्यापक महाशय का कथन है कि मामूली तौर पर लोग सिर्फ़ इस बात से ही अनभिज्ञ नहीं कि हमारी शिक्षा में विचार और विवेचना शक्ति की कमी है; किन्तु इस विषय की अपनी अनभिज्ञता से भी वे अनभिज्ञ हैं। उनकी राय में इस अज्ञान का कारण वैज्ञानिक शिक्षा का अभाव है। यह यथार्थ है। इसमें कोई संदेह नहीं। जिन चीज़ो को हम रोज अपने चारों तरफ़ देखते हैं, जिन बातों को हम रोज़ सुनते हैं. और जो नतीजे रोज हमारी आँखो के सामने रहते हैं, उनका यथार्थ ज्ञान हमें तभी हो सकता है जब हम उनके पारस्परिक सम्बन्ध को अच्छी तरह समझ सकें और यह जान सकें कि किस तरह वे एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। शब्दों के अर्थ से चाहे जितनी जानकारी हो जाय, पर उसकी सहायता से कार्य्य-कारण-सम्बन्धी अनुमान नहीं निकाले जा सकते। अर्थ जानकर कोई यह नहीं जान सकता कि उस अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाला कारण क्या है और उसका कार्य्य क्या है। सच्ची विवेचना की शक्ति तभी आती है जब आदमी किसी बात को लेकर उससे सिद्धान्त निकालने, और तजरिबे

तथा प्रत्यक्ष देख-भाल के द्वारा उस सिद्धान्त की सचाई साबित करने, की आदत डालता है। इसी आदत की बदौलत आदमी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के योग्य होता है; अन्यथा नहीं। विज्ञान-शास्त्र के अभ्यास से इस तरह की आदत जरूर पड़ जाती है। विज्ञान-शिक्षा से जो अनगिनत लाभ होते हैं उनमें से यह भी एक है।

७२—विज्ञान-शिक्षा से विचार-शक्ति भी बढ़ती है और आचरण भी सुधर जाता है।

विज्ञान की शिक्षा सिर्फ़ इसी लिए उत्तम नहीं कि उससे बुद्धि बढ़ती है—उससे विचार-शक्ति तेज़ हो जाती है—किन्तु आचरण सुधारने के लिए भी वह सर्वोत्तम है। सदाचार की उन्नति के लिए भी उसे सबसे अच्छा साधन समझना चाहिए। भाषाओं के अभ्यास से यदि कुछ होता है तो यह कि दूसरों की कही हुई बातों को प्रामाण्य मान लेने की आदत, जो पहले ही से रहती है, और भी अधिक हो जाती है। औरों के वाक्यों का हम लोग योंही बहुत आदर करते हैं। भाषायें सीखने से वह आदर और भी अधिक बढ़ जाता है। अमुक अध्यापक अथवा अमुक कोशकार के अनुसार इन शब्दों का यह अर्थ है। इस विषय में व्याकरण का यह नियम है। विद्यार्थी को इस तरह की बातें वेद-वाक्य के समान ग्रहण करनी पड़ती हैं। विचार और विवेचना से उसे कोई काम नहीं लेना पड़ता। उसके मन की प्रवृत्ति कुछ ऐसी हो जाती है कि जो कुछ उससे कहा जाता है उसे वह चुपचाप मान लेता है। इसका यह नतीजा होता है जो कि बातें परम्परा से चली आई हैं उनको बिना विचार या विवेचना के ही वह प्रामाण्य मान बैठता है। उस की तबीयत का झुकाव ही कुछ ऐसा हो जाता है कि इस तरह की बातों के सत्यासत्य-निर्णय की वह परवाही नहीं करता। पर विज्ञान-शिक्षा का फल इससे बिलकुल उलटा होता है। विज्ञान के अभ्यास से मन का झुकाव और ही तरह का हो जाता है। विज्ञान सीखने में बहुत सी बातों का विचार आदमी को ख़ुद ही करना पड़ता है—उसे अपनी ही बुद्धि से बहुत कुछ काम लेना पड़ता है। शास्त्रीय बातों की सत्यता किसी के वाक्य पर अवलम्बित नहीं रहती। किसी के कह देने ही से शास्त्रीय बातें सच नहीं मान

ली जातीं। उनकी परीक्षा—उनकी जाँच—का सबको अख़तियार है। सबको इस बात की स्वतंत्रता है कि वे उन बातों की यथेच्छ जाँच कर लें। यहाँ तक कि अनेक विषयो में विद्यार्थी को ख़ुद ही विचार करके सिद्धान्त निकालने पड़ते हैं। वैज्ञानिक विषयों के विचार में विद्यार्थी को हर घड़ी अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करना पड़ता है। उससे यह कभी कोई नहीं कहता कि बिना प्रत्यक्ष अनुभव के वह किसी बात को सच मान ले। अपने अनुभव से वह जो सिद्धान्त निकालता है उनकी सत्यता का प्रमाण जब उसे सृष्टिक्रम में मिल जाता है तब अपनी मानसिक विचार-शक्ति पर उसे और भी अधिक भरोसा हो जाता है। अपनी की हुई विवेचना के नतीजों पर तब उसका विश्वास और भी दृढ हो जाता है। ये सब बातें उस विचार-स्वातन्त्र्य का अंकुर हैं जो सदाचरण के लिए बहुतही लाभदायक हैं। इस तरह का विश्वास प्रति दिन बढ़ते रहने से मनुष्य की स्वतन्त्रता भी बढ़ जाती है। और यह विचार-स्वतन्त्रता बहुतही अच्छी चीज है। यह न समझना चाहिए कि विज्ञान के अभ्यास से सिर्फ़ इतनाही बुद्धि-विषयक लाभ होता है। अपनीही बुद्धि के भरोसे यदि विज्ञान की शिक्षा हमेशा प्राप्त की जाय, और सब बातों की असलियत की खोज में बुद्धि का प्रयोग किया जाय—और ऐसाही होना भी चाहिए—तो धैर्य्य, एकनिष्ठा और सत्य-प्रीति भी बढ़ जाय। अर्वाचीन विद्वान्, अध्यापक टिंडल, व्यक्ति-परीक्षापूर्वक खोज के विषय में कहते हैं:—' इसमें धैर्य्य से काम करना चाहिए। इस तरह की खोज में जल्दी करना उचित नहीं। बहुत धीरज के साथ मेहनत करनी चाहिए। सृष्टि मे जो कुछ देख पड़े उसे अधीनता और एकनिष्ठा से आदरपूर्वक मानना चाहिए। इस विषय में कामयाबी की पहली शर्त यह है कि जो बातें पहले से अपने दिमाग़ में भरी हुई हैं वे यदि सत्य की विरोधी हैं तो, फिर चाहे वे कितनीही प्रिय क्यों न हों, उन्हें छोडने और नई नई सच्ची बातों को स्वीकार करने के लिए जी जान से तैयार रहना चाहिए। जिसे किसी बात का आग्रह नहीं है—जो अपने पूर्व-स्वीकृत मत छोड़ने को तैयार है—उसके मन को बहुत उदार समझना चाहिए। विश्वास कीजिए, ऐसी उदारता दुनिया में बहुत कम पाई जाती है। पर विज्ञान के सच्चे सेवक के तजरिबों में इस तरह की उदारता बहुधा देखी जाती है"।

७३—वैज्ञानिक शिक्षा से धर्म्म पर अधिक श्रद्धा हो जाती है।

अख़ीर में हमें एक बात और कहनी है। इसे कह कर हम इस प्रकरण को पूरा करेंगे। यह ऐसी बात है कि इसे सुन कर सुननेवालों को अत्यन्त आश्चर्य्य होगा। साधारण विद्याभ्यास की अपेक्षा वैज्ञानिक शिक्षा को जो हम इतना महत्त्व देते हैं—उसे जो हम इतना उपयोगी समझते हैं—उसका एक कारण और भी है। वह यह कि वैज्ञानिक विषयों के अभ्यास से धार्म्मिक शिक्षा भी मिलती है। उससे लोगों की श्रद्धा धर्म्म पर अधिक हो जाती है। कहिए, यह आश्चर्य्य की बात है या नहीं? बेशक, हम, यहाँ पर, "वैज्ञानिक" और "धार्म्मिक" शब्दों का प्रयोग उस परिमित और संकुचित अर्थ में नहीं करते जिसमें कि सब लोग, मामूली तौर पर, प्रति दिन करते हैं। हम इन शब्दों का प्रयोग, यहाँ पर, बहुत उदात्त और व्यापक अर्थ में करते हैं। धर्म्म के नाम से जो अन्ध-परम्परायें फैली हुई हैं उनमें और विज्ञान में ज़रूर परस्पर विरोध है। विज्ञान-शास्त्र उनका जरूर दुश्मन है। परन्तु धर्म्म के जो सच्चे तत्त्व इन अन्ध-परम्पराओं में छिपे रहते हैं उनका वह विरोधी नहीं। उनसे तो विज्ञान का सर्वथा ऐक्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिसे लोग आज कल विज्ञान या शास्त्रीय अभ्यास कहते हैं उसमें नास्तिकता का कुछ अंश ज़रूर है। उसमें थोड़ी बहुत अधार्मिकता जरूर पाई जाती है। पर उस सच्चे विज्ञान-शास्त्र में यह बात नहीं जो बाहरी बातों का उल्लंघन करके भीतरी तत्त्वों तक पहुँच गया है। जो शास्त्र अगाध तत्त्वों के विचार में लीन है उसमें अधार्मिकता का लेश मात्र भी नहीं। अध्यापक हक्सले नाम के विज्ञान-वेत्ता ने, अभी थोड़ेही दिन हुए, कई व्याख्यान दिये थे। उनका उपसंहार करते समय विज्ञान और धर्म्म के विषय में उन्होने क्या कहा था सो सुनिए:—

"सच्चा विज्ञान और सच्चा धर्म्म, ये दोनों, यमज भाई हैं। अथवा यों कहिए कि ये एकही साथ जुडे हुए पैदा हुए हैं। इनमें से यदि एक दूसरे से अलग कर दिया जायगा तो दोनों की मौत हो जायगी, दो में से एक भी बचने का नहीं। विज्ञान में जितनीही अधिक धार्म्मिकता होगी उतनीही अधिक उसकी उन्नति होगी। विज्ञान का

अभ्यास करते समय मन की धार्म्मिक वृत्ति का परिमाण जितना होगा उसी परिमाण के अनुसार अभ्यास की तरक्की होगी। इसी तरह विज्ञान विषयक खोज जितनी अधिक गहरी होगी और उसका आधार जितना अधिक दृढ होगा, धर्म्म का विकाश भी उतनाही अधिक होगा। तत्ववेत्ताओं ने आज तक जो बडे बडे काम किये है उन्हें सिर्फ उनके बुद्धि वैभव का फल न समझिए। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति इसमें अधिक कारणीभूत है। यदि उनके मन मे धार्म्मिक उत्साह की मात्रा अधिक न होती तो उनके हाथ से कभी ऐसे बडे बडे काम न होते। विद्या-वधू ने सिर्फ उनकी कुशाग्र-बुद्धि और तर्कना-शक्ति पर मोहित होकर उनके कण्ठ मे जयमाल नहीं डाला, किन्तु उनकी धीरता, सत्यप्रीति, सहिष्णुता, एकनिष्ठा और आत्मनिग्रह पर मोहित होकर डाला है"।

७४—विज्ञान के अभ्यास से आदमी अधार्म्मिक नहीं हो जाता, उसके अनभ्यास से अधार्म्मिक हो जाता है।

बहुत लोगों का ख़याल है कि विज्ञान का अभ्यास करने से आदमी अधार्म्मिक हो जाता है; उसमें नास्तिकता आ जाती है। यह भ्रम है। विज्ञान पढ़ने से धर्म्म-हानि नहीं होती। उसके न पढ़नेही से होती है। जो प्राकृतिक पदार्थ—जो सृष्टिवैचित्र्य—हमें, अपने हर तरफ़, देख पड़ते हैं उनको अच्छी तरह न देखने और उनके विषय में अच्छी तरह विचार न करनेहीं से धर्म्म का नाश हो रहा है। एक सीधा सादा उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि किसी ग्रन्थकार की प्रति दिन प्रशंसा हो रही है; उसकी स्तुति से आकाश-पाताल एक किया जा रहा है। कल्पना कीजिए कि जो स्तुतिपाठ उसका हो रहा है उसमें सिर्फ़ उसकी बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता और रचना-सौरस्यही का वर्णन है। कल्पना कीजिए कि उसकी किताबों की तारीफो का पुल बाँधनेवालों ने सिर्फ़ उनके बाहरी रूप-रङ्ग को देखकरही यह आडम्बर रचा है; उन किताबो मे लिखी हुई बातों को समझने की कोशिश तो दूर रहो, कभी उनको खोलकर देखा भी नहीं। इस दशा में, आपही कहिए, ऐसे आदमियों की की हुई स्तुति का मोल कितना होगा? उनकी सचाई के विषय मे हमारा कैसा ख़याल होगा? तथापि यदि छोटी

छोटी चीज़ो का मुक़ाबला बड़ी बड़ी चीज़ों से किया जाय तो मालूम होगा कि इस विस्तृत विश्व और उसके आदि कारण (परमेश्वर) के विषय में, आदमियों की प्रवृत्ति, आम तौर पर, ठीक इसी तरह की है। इसी तरह की नहीं, किन्तु इससे भी बदतर है। यही नहीं कि आदमी, बिना देखे भाले, उन चीजो के पास से होकर निकल जाते हैं जिनको वे प्रति दिन अद्भुत अद्भुत चमत्कारों से भरी हुई बतलाते हैं, किन्तु जो लोग उन चीज़ों को ध्यान-पूर्वक देखते हैं उनका लोग उपहास करते है और यह तक कहने से नहीं चूकते कि उनके अवलोकन में इन लोगों का जो समय ख़र्च होता है वह व्यर्थ जाता है। और तो क्या, सृष्टि-सम्बन्धी चमत्कारिक बातों का दिल लगा कर अभ्यास करनेवालो का आदमी धिक्कार तक करते हैं—उनको भला बुरा तक कहते नहीं सकुचते। अतएव हम इस बात को दुबारा कहते हैं कि विज्ञान के अभ्यास से नहीं, किन्तु अनभ्यास से, धर्म्म-हानि होती है। विज्ञान-विद्या का आदर करना—शास्त्र का अभ्यास करना—मानो उस जगन्नायक परमेश्वर की चुपचाप पूजा करना है। सृष्ट पदार्थों के महत्त्व का ज्ञान होने से उन पदार्थों के आदि-कारण (जगदीश्वर) के विषय में विज्ञान-वेत्ताओ के मन मे पूज्यभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। इस तरह की पूजा सिर्फ़ मुख-पाठ नहीं—सिर्फ़ मुँह से किया गया स्तुति-घोष नहीं—किन्तु प्रत्यक्ष कार्यों के रूप मे परमेश्वर की उपासना है। यह सिर्फ़ मुँह से स्वीकार की गई दाम्भिक भक्ति नहीं, किन्तु वह सच्ची भक्ति-रूपी यज्ञ है जिसमें आदमी को समय, श्रम और विचारो की आहुति देनी पड़ती है। अर्थात् विश्वरूप परमात्मा को प्रसन्न करने का यह वह महायाग है जिसमें बहुमूल्य समय, श्रम और विचार की दक्षिणा लगती है।

७५—विज्ञान-विद्या से विश्वजात वस्तुओं की कार्य्य-कारण-सम्बन्धिनी एकरूपता में पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है और उन वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाले प्राकृतिक नियम समझ में आने लगते हैं।

सिर्फ़ इसी कारण से हम सच्चे विज्ञान को धर्मप्रवर्तक नहीं मानते। वह इस कारण से भी धार्म्मिक प्रवृत्ति को बढ़ाता है कि संसार के सारे

पदार्थों की स्थिति और कार्य्य-कारण-शक्ति मे जो एक प्रकार की एकरूपता देख पड़ती है उसके विषय मे वह पूज्य बुद्धि पैदा करता है, और उस पर आदमी के विश्वास के बढाता है। विज्ञान के अभ्यास से प्राप्त हुए तजरिबों की बदौलत सृष्टि की अपरिवर्तनीय बातों पर—सृष्टि के शाश्वत विषयों पर—आदमी का विश्वास दृढ हो जाता है, कार्य्य-कारण का नित्य-सम्बन्ध समझ में आने लगता है; और शुभाशुभ कर्म्मों के फल-भोग की आवश्यकता का ज्ञान भी हो जाता है। इस लोक में किये गये कर्म्मों के शुभाशुभ फलों के विषय में, परम्परा से प्राप्त हुई कल्पना के अनुसार, लोगों के ख़याल बहुतही बेढगे हैं। लोग इस बात की व्यर्थ आशा रखते हैं कि प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करके भी वे दण्ड से बच जायँगे। वे समझते हैं कि जिस बात का परिणाम दुःख होना चाहिए उसे करके भी वे दुःख न पावेंगे। अर्थात् दुःख का किसी न किसी तरह निवारण करके वे सुखही सुख भोगते रहेंगे। यह उनका भ्रम है। विज्ञान-वेत्ता इस तरह के भ्रम में नहीं पड़ते। वे जानते हैं कि सांसार मे जो कुछ है उसकी स्थिति ही ऐसी है कि उसके शुभाशुभ फलो से आदमी नहीं बच सकता। वस्तु-स्थिति के अनुसार जो जैसा कर्म्म करता है उसे वैसा फल भोगना पड़ता है। इन बातों को शास्त्रज्ञ मनुष्य ब्रह्मवाक्य समझता है। उसे इस बात पर पूरा विश्वास होता है कि सांसारिक नियम भंग करने से होनेवाले अशुभ फलो से आदमी हरगिज़ नहीं बच सकता। तत्त्वज्ञानी यह अच्छी तरह समझता है कि जिन प्राकृतिक नियमों का पालन करना मनुष्य का धर्म्म है वे कठोर भी हैं और सुखद भी हैं। उसको विश्वास है कि उन नियमों का पालन करने से—उनको प्रमाण मान कर तदनुसार व्यवहार करने से—सब बातें सुधरती चली जाती हैं और प्रति दिन अधिकाधिक सुख का कारण होती हैं। प्राकृतिक नियमों के परिपालन से हर वस्तु की स्थिति सुधर जाती है और सुख की वृद्धि होती है। इस मर्म्म को जितना विज्ञान-वेत्ता समझ सकता है उतना और कोई नहीं। इसी से वह इन नियमों का दृढता के साथ पालन करता है। और यदि उनके पालन में बेपरवाही देख पड़ती है तो उसे क्रोध आता है। वह हमेशा इस बात का प्रतिपादन करता है कि संसार में प्रत्येक वस्तु के नियामक ऐसे शाश्वत और अनुल्लंघनीय नियम हैं जिनका पालन बहुत ज़रूरी है। इस प्रकार वह अपने को सच्चा धार्म्मिक सिद्ध करता है।

७६—विज्ञान इस बात को साबित करता है कि जगत् के आदि-कारण (परमेश्वर) का ज्ञान होना मानवी बुद्धि के लिए असम्भव है।

विज्ञान में एक और भी धर्म्म-तत्त्व है। उसे भी हम, यहाँ पर, दिखलाते हैं। इस अन्तिम तत्त्व का ज़िक्र करके हम इस प्रकरण को पूरा करेंगे। विज्ञान ही की बदौलत हमको अपने आपका ज्ञान हो सकता है। अर्थात् आत्मज्ञान-प्राप्ति के लिए विज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। जीवन के अतर्क्य अस्तित्व से हम लोगों का जो सम्बन्ध है उसकी कल्पना भी हमें विज्ञान ही की बदौलत हो सकती है। जगत् में जो कुछ ज्ञेय है, उसमें जितनी बातें जानने योग्य हैं, उनका ज्ञान होना विज्ञान ही की सहायता से सम्भव है। विज्ञान ही की कृपा से आदमी यह जान सकता है कि उसके ज्ञान की मर्य्यादा कितनी है—उसके ज्ञान की पहुँच कहाँ तक है। विज्ञान सिर्फ़ अपने ही अधिकार के बल पर यह नहीं कहता कि जगत् के आदि-कारण का ज्ञान अप्राप्य है—वह समझ में नहीं आ सकता। नहीं, वह अनेक युक्तियों से हमें, अपने चारों तरफ़, उन सीमाओं तक पहुँचा देता है जिनके आगे मानवी ज्ञान का जाना असम्भव है। वह मानवी ज्ञान की मर्य्यादा तक पहुँचा कर इस बात को हमारे चित्त-पटल पर बड़ी सफ़ाई से लिख देता है कि हम अब इसके आगे नहीं जा सकते। वह उस मर्य्यादा के आगे जाने की असम्भवनीयता को ख़ुद हमसे ही खुल्लमखुल्ला क़बूल करा लेता है। इसमें वह ज़बरदस्ती नहीं करता, अपने अधिकार के बल पर वह हमें उस मर्य्यादा के आगे जाने को नहीं रोकता; जो ज्ञान, जो विषय, जो तत्त्व मानवी बुद्धि से नहीं ग्रहण किया जा सकता उसकी हद तक पहुँचा कर, मानवी बुद्धि की क्षुद्रता को विज्ञान-शास्त्र जितनी योग्यता से साबित कर देता है उतनी योग्यता से और कोई नहीं कर सकता। शास्त्राभ्यास में अज्ञेय, अपरिमेय और अपरिच्छेद्य तत्त्वों का सामना पड़ने के कारण, अपनी बुद्धि की तुच्छता आदमी को सहज ही में मालूम हो जाती है। परम्परा से प्राप्त हुई साम्प्रदायिक बातों और पण्डितंमन्य लौकिक जनों के प्रमाण-भूत वाक्यों की दृष्टि में विज्ञान-वेत्ताओं का बर्ताव उद्धत और अभिमानपूर्ण हो सकता

है, पर उस अभेद्य परदे की दृष्टि में नहीं जिसने कि परमात्मा की अनादि शक्ति को छिपा रखा है। उस परदे के सामने—उस आवरण के सामने—उनका बर्ताव बहुत ही नम्र और विनय-सम्पन्न होता है। यह सच्चा अभिमान है। यह सच्ची नम्रता है। अतएव इसमें कोई दोष नहीं; यह सर्वथा निर्दोष है। दूरी का हिसाब लगानेवाले, मिश्र पदार्थों का पृथक्करण करनेवाले, या चीज़ों को अपने अपने वर्ग के अनुसार बाँटनेवाले को हम विज्ञान वेत्ता या शास्त्रज्ञ नहीं समझते। वह सिर्फ़ नाम के लिए विज्ञानवेत्ता या शास्त्रज्ञ है। हम सच्चा विज्ञानवेत्ता उसे कहते हैं जो क्षुद्र सत्य से आरम्भ करके महान् सत्य तक पहुँचने का यत्न करता है—जो तत्त्व-सोपान की सबसे नीचे की सीढ़ी पर पैर रख कर क्रम क्रम से सबसे ऊँची सीढ़ी तक पहुँचने की कोशिश करता है। उसी को हम सच्चा विज्ञान-भक्त समझते हैं। वही इस बात को पूरे तौर पर जान सकता है कि परमात्मा की विश्वव्यापिनी शक्ति, जो इस विस्तृत विश्व में प्रकृति, प्राण और ज्ञान के रूप में विद्यमान है, मनुष्य की समझ से ही दूर नहीं, किन्तु उसकी कल्पना से भी दूर है। न तो मनुष्य उसे समझ ही सकता है और न उसकी कल्पना ही कर सकता है।

७७—हर तरह की शिक्षा के लिए विज्ञान से बढ़कर और कोई विषय नहीं।

इससे यह नतीजा निकलता है कि व्यवहार-ज्ञान और सब तरह की शिक्षाओं के लिए विज्ञान की कीमत सबसे अधिक है। उससे आदमी व्यवहार में भी प्रवीण हो जाता है और उसकी मानसिक शक्तियाँ भी सुधर जाती हैं। विज्ञान ही आदमी को सन्मार्ग में प्रवृत्त कर सकता है। शब्दों का अर्थ समझने की अपेक्षा चीज़ों का अर्थ समझना, सब तरह से, अच्छा है। मानसिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षा के लिए व्याकरण और कोश रटते बैठने की अपेक्षा जिन चीज़ों को हम अपने चारों तरफ देखते हैं उन्हें देखना और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बातों का मन लगा कर अभ्यास करना बहुत अधिक लाभदायक और कल्याणकारी है।

७८—इस प्रकरण के शुरू में पूछे गये प्रश्न का उत्तर यह है कि—"संसार में सबसे अधिक उपयोगी शिक्षा विज्ञान है"।

"संसार में कौनसी शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है"? इस प्रश्न का उत्थान करके हमने यह प्रकरण शुरू किया था। हर तरह से विचार करने पर इसका यहीं उत्तर मिलता है कि—"विज्ञान-शिक्षा"। सब बातों की विवेचना से जो सिद्धान्त निकलता है वह यही है। विज्ञान ही से सब बातों में यथेच्छ कामयाबी होसकती है। प्रत्यक्ष आत्म-रक्षा के लिए सबसे अधिक उपयोगी विद्या विज्ञान ही है; और शरीर और प्राण-रक्षा के लिए भी वही सबसे अधिक उपयोगी है। परोक्ष प्राण-रक्षा अर्थात् उदर-निर्वाह के लिए भी सबसे अधिक क़ीमती विद्या विज्ञान ही है। माता-पिता के कर्तव्यों का उचित रीति से पालन करने के लिए भी विज्ञान-शिक्षा की सबसे अधिक जरूरत है। जिस भूत और वर्तमान काल के जातीय-जीवन ज्ञान के बिना कोई नागरिक अपना काम अच्छी तरह नहीं कर सकता—अर्थात् जिसके बिना अपने देश और देशवासियों की प्राचीन और नवीन स्थिति की देख भाल करके राजकीय और सार्वजनिक कामों की व्यवस्था कोई नगर-निवासी मुनासिब तौर पर नहीं कर सकता—उस जातीय-जीवन ज्ञान की कुंजी भी विज्ञान ही है। यों ही, सब तरह की कारीगरी की उत्तमोत्तम चीज़ें पैदा करने और उनसे तथा ललित कलाओं से पूरा पूरा मनोरंजन होने की योग्यता भी विज्ञान-शिक्षा ही की बदौलत प्राप्त होती है; उसकी तैयारी के लिए भी विज्ञान ही की जरूरत पड़ती है। बुद्धि को बढ़ाने, नीति को सुधारने और धर्म्म की ओर झुकाने का सबसे बड़ा साधन भी विज्ञान ही है; यहाँ पर भी विज्ञान ही के अभ्यास की सबसे अधिक ज़रूरत है। जो बात पहले इतनी पेचीदा मालूम हुई थी वह, विचार की ख़राद पर चढ़ाने से, अब सहल हो गई। विवेचना से साबित हो गया कि वह उतनी पेचीदा नहीं जितनी कि मालूम हुई थी। इस बात का अन्दाज़ लगाने की कोई ज़रूरत नहीं कि आदमी को जुदा जुदा जितने व्यवसाय करने पड़ते हैं उन का महत्त्व कितना है और उन व्यवसायों को अच्छी तरह कर सकने के लिए

किन किन विषयों का कितना अभ्यास दरकार है, क्योंकि यह बात साबित हो चुकी है कि जिसे हम विशेष व्यापक अर्थ में विज्ञान या शास्त्र कहते हैं उसकी शिक्षा से सब व्यवसायों को करने के लिए आदमी अच्छी तरह तैयार हो जाता है। हमें अब इस बात का विचार करते बैठने की जरूरत नहीं कि किस प्रकार की शिक्षा का—किस प्रकार के ज्ञान का—कितना मोल है। कोई कोई ज्ञान बहुत सच्चा है, पर उसका मोल कम है; और कोई कोई ज्ञान सिर्फ़ लौकिक है, अर्थात् वह सच्चा नहीं है, पर उसका मोल बहुत है। परन्तु इस कमी-वेशी के विचार की जरूरत नहीं, क्योंकि यह बात साबित हो चुकी है कि और सब बातों के खयाल से जिस ज्ञान का मोल सबसे अधिक है उसीका असली मोल भी सबसे अधिक है। जो ज्ञान वास्तव में अधिक महत्त्व का है उसीका मोल भी सबसे अधिक है। ज्ञान का मोल लोगों की राय से घट-बढ़ नहीं सकता; उसका महत्त्व–उसका मोल—लोकमत पर अवलम्बित नहीं रहता है। उसे उसी तरह निश्चित समझना चाहिए जिस तरह मनुष्यमात्र का सम्बन्ध संसार से निश्चित है। विज्ञान के सारे सिद्धान्त सत्य, नित्य और अपरिहार्य्य हैं। अतएव विज्ञान की जितनी शाखायें हैं उन सब का सम्बन्ध, सब समय में, सब लोगों से, बराबर होनाही चाहिए। उनका सम्बन्ध सारी मनुष्य-जाति से है और हमेशा के लिए है, सिर्फ़ कुछ समय के लिए नहीं। मनुष्य के व्यवहारों की व्यवस्था के लिए विज्ञान की जैसे आज अत्यन्त ज़रूरत है, अनन्त काल बीत जाने पर, भविष्य में भी उसकी उसी तरह जरूरत बनी रहेगी। शारीरिक, मानसिक और सामाजिक बातों को सुव्यवस्थित रखने के लिए जीवन-शास्त्र की शिक्षा की, और इस बात के जानने की कि और सब शास्त्रों की शिक्षा जीवन-शास्त्र की शिक्षा की सिर्फ़ कुंजी है, आज जिस तरह जरूरत है उसी तरह आगे भी उसकी जरूरत पूर्ववत् बनी रहेगी। इसे सिद्ध समझिए। इसमें सन्देह नहीं।

७६—विज्ञान की शिक्षा सबसे अधिक लाभदायक है; तिस पर भी लोगों का ध्यान उस तरफ़ बहुत ही कम है।

यद्यपि विज्ञान-विद्या की शिक्षा का महत्त्व और सब तरह की शिक्षाओं के महत्त्व से अत्यन्त अधिक है तथापि, आज कल, जब लोगों को अपनी

वर्तमान शिक्षा-पद्धति पर इतना घमण्ड है, वैज्ञानिक शिक्षा की बहुत ही कम परवा की जाती है। यह बड़े आश्चर्य की बात है। यदि विज्ञान न होता—यदि शास्त्रीय ज्ञान न होता—तो जिसे हम सभ्यता या सुधार कहते हैं उसका चिह्न भी कहीं देखने को न मिलता। तथापि जिसे हम सभ्य शिक्षा-पद्धति कहते हैं उसमें विज्ञान-शिक्षा का अंश इतना कम है कि उस का होना न होने के बराबर है। जहाँ सिर्फ हजारों आदमियों का पेट पलता था वहाँ अब विज्ञान-शिक्षा ही के प्रचार की बदौलत लाखो आदमियों का पेट पलता है। परन्तु बड़े अफ़सोस की बात है कि जिस शिक्षा के प्रसाद से लाखों की प्राण-रक्षा होती है उसका आदर सिर्फ़ दसही पाँच हज़ार आदमी करते है। सांसारिक पदार्थों के गुण-धर्म्म और अन्योन्य-सम्बन्ध के बढ़ते हुए ज्ञान से सिर्फ़ इतनाही लाभ नहीं हुआ कि जहाँ पहले घर-द्वार-हीन जंगली जातियाँ इधर उधर भटका करती थीं वहाँ अब बड़ी बड़ी बस्तियाँ हो गईं हैं—बड़े बड़े देश बन गये हैं। नहीं, इस ज्ञान की बदौलत इन बस्तियों, नगरों और देशों में रहनेवालों में से असंख्य आदमियों को वे सुख और वे आराम भी प्राप्त हो गये हैं जिनकी कल्पना तक उनके वस्त्रहीन अल्पसंख्यक पूर्वजो को न थी—जिनको उन्होने न कभी देखा था, न कभी सुना था और जिन्हें पाने का न कभी उनको ख़याल ही था! तथापि ऐसी उपयोगी शिक्षा को, हमारे बड़े से भी बड़े विद्यालयों में, अब कहीं थोड़ा बहुत स्थान दिया जाने लगा है—सो भी ख़ुशी से नहीं, बड़ी ही वेदिली और मारामारी से! जितने पदार्थ हम इस दुनिया मे देखते हैं उनकी एकरूपता और उनके अपरिवर्तनीय पारस्परिक सम्बन्ध से परिचित होकर, और सृष्टि-विषयक अखण्डनीय नियमों का ज्ञान प्राप्त करके, अब हम धीरे धीरे धर्म्म के मिथ्या विश्वासों से छुटकारा पा रहे हैं। यदि विज्ञान का प्रचार न होता तो हम अब तक जड़ पदार्थों की पूजा में लगे रहते, या सैकड़ों जीवों का बलिदान देकर राक्षसी देवताओं की आराधना किया करते। तिस पर भी, जिस विज्ञान ने सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले अत्यन्त नीच और हेय ख़यालो को दूर करके सृष्टि के भव्य सौन्दर्य्य को हमारी आँखो के सामने खोल दिया है उसीका अपमान हमारी धर्म्म-पुस्तकों में किया जाता है और, उपदेश देने के चबूतरे पर खड़े होकर, हमारे धर्म्मोपदेशक उसी पर कटाक्षो की बौछार करते हैं।

८०—एक कहानी के द्वारा विज्ञान-विद्या की यथेष्टता और उसकी अवहेलना का वर्णन।

यहाँ पर, इस विषय में, हम पूर्व-देशों मे प्रचलित एक कहानी का अनु-वाद देते हैं:—

विद्या के कुटुम्ब में विज्ञान की अवस्था एक दासी की सी है। यद्यपि वह हमेशा काम काज में लगी रहती है, तथापि उसे घर के किसी कोने कानेही में जगह मिलती है और उसकी खूबियाँ किसी की नजर में नहीं आतीं। सारा काम उसी पर लाद दिया गया है। यद्यपि उसीकी निपुणता, बुद्धिमानी और एक-निष्ठ प्रीति की बदालत संसार के सारे सुख और आराम प्राप्त हुए हैं, और यद्यपि वह लगातार सबकी सेवा करती है, तथापि उसका कोई नाम तक नहीं लेता। उधर घमण्ड से भरी हुई उसकी बहनें सारे संसार को अपने पुराने धुराने कपड़े—अपनी टुच्ची पोशाक—दिखलाती फिरती हैं। जिसमे सब लोगों को यह घृणित तमाशा देखने को मिले, इसी लिए वह बेचारी गुमनामी के परदे में छिपा रक्खी गई है।

पर, इस कहानी में जो बात दिखलाई गई है वह, विज्ञान-शिक्षा के विषय में, कुछ दिनों में विपरीत रूप धारण करने वाली है। क्योंकि अब सभी बातों के उलट जाने का समय निकट आ पहुँचा है। कुछ ही दिनों में वर्तमान स्थिति के बिलकुल बदल जाने के चिह्न देख पड़ते हैं। वह समय अब शीघ्र आनेवाला है जब विज्ञान-विद्या की अभिमानिनी बहनें, अर्थात् और और विद्यायें, कहीं अँधेरे में जा छिपेंगी। उनको लोग भूल जायँगे, और, वे विस्मृति के गर्भ में लोप हो जाने ही लायक हैं। विज्ञान-विद्या के मोल और सौन्दर्य्य को अब शीघ्रही सबसे ऊँचा आसन मिलेगा और सब कहीं उसका जयजयकार होगा।

दूसरा प्रकरण।

—»»|««—

मानसिक शिक्षा।

शिक्षा-प्रणाली का सामाजिक, धार्म्मिक और राजनैतिक बातों से मिलान।

आज तक शिक्षा देने के जुदा जुदा जितने ढँग जारी हो चुके हैं सबका सम्बन्ध अपने अपने समय की सामाजिक व्यवस्था से ज़रूर रहा है। जिस समय की जो बात होती है—चाहे वह राजकीय हो, चाहे सामाजिक, चाहे धार्म्मिक—वह उस समय के जन-समुदाय के मन से ज़रूर सम्बन्ध रखती है। सब लोगों के मन की जैसी स्थिति होती है—सब लोगो के ख़यालात की जैसी हालत होती है—उसीके अनुसार सब बातें होती हैं। उन सबका बीज एकही होता है। इसलिए उसमें परस्पर कुछ ऐसी समता पाई जाती है जैसी एक कुटुम्ब के आदमियों में पाई जाती है। जिस समय धर्म्म की यह दशा थी कि धर्म्माध्यक्ष जो कह दें वही धर्म्म, पुरोहित महाराज जो व्यवस्था देदें वही कर्म्म, शास्त्रीजी जो अर्थ स्मृतियों का करदें वही वेद-वाक्य—फिर उसमें किसी को दख़ल देने या कुछ कहने सुनने का अधिकार नहीं—उस समय बच्चों को ठीक इसी तरह की शिक्षा का दिया जाना स्वाभाविक भी था। शिक्षाधिकारी जिस तरह की शिक्षा का हुकम देते थे वही क़ानून माना जाता था। उनके आदेश में हूँ या चूँ करने का किसी को अधिकार न था। जिस समय धर्म्म का यह सिद्धान्त था कि "विश्वास करो; 'क्यों' और 'कैसे' न पूछो"—उस समय स्कूल की शिक्षा-पद्धति का भी यही सिद्धान्त था। और इस तरह के सिद्धान्त का होना स्वाभाविक भी था।

पर अब वह समय नहीं है। अब तो जरमनी के प्रसिद्ध धर्म्मप्रवर्तक लूथर के चलाये हुए प्राटेस्टेंट पन्थ के उन सब अनुयायिओं को, जो बालिग़ हैं, धार्म्मिक बातों में अपनी निज की राय क़ायम करने—अपने निज के सिद्धान्त स्थिर करने—का अधिकार देदिया गया है। अब उनको धार्म्मिक विषयों में सारासार विचार करके अपनी बुद्धि से काम लेने की अनुमति मिल गई है। ऐसी दशा में शिक्षा की आदेशात्मक पुरानी रीति बन्द करके हर बात को समझा देने, और भले बुरे का विचार करके उपयोगी शिक्षा को जारी करने, की पद्धति का शुरू होना सर्वथा स्वाभाविक है। अब समय के अनुसार शिक्षा-प्रणाली ने भी पलटा खाया है; उसमें भी समयानुसार फेरफार हुआ है। जिस समय राजा लोग प्रजापीड़क थे—जिस समय की राज्य-प्रणाली में स्वेच्छाचारिता का ज़ोर अधिक था—उस समय के क़ायदे-क़ानून सख़्त थे; डर दिखाकर प्रजा पर हुकूमत की जाती थी; छोटे छोटे अपराधों के लिए भी लोग फाँसी पर लटका दिये जाते थे; और राजा के प्रतिकूल सिर उठानेवालों से बहुतही बेरहमी के साथ बदला लिया जाता था। ऐसे समय में मदरसों में भी सख़्ती का बर्ताव होना बिलकुल स्वाभाविक था। वह ज़मानाही ऐसा था। यह ज़मानेही के रंग ढंग का फल था जो विद्यार्थियों के लिए हजारों नियम बनाये गये थे और उन नियमों के तोड़े जाने पर हर दफ़ विद्यार्थियों की लात घूँसे से ख़बर ली जाती थी। यह उस उद्दण्ड राजसत्ता का ज़माना था जिसकी बेरोक टोक शक्ति की कोई हदही न थी। बेत, क़मचियों और अँधेरी कोठरियों में बन्द किये जाने की सज़ा, जो उस ज़माने में मिलती थी, इसी शक्ति की कृपा से मिलती थी। पर, अब वे दिन नहीं रहे। अब राजनैतिक विषयों में प्रजा को अधिक स्वतंत्रता मिल गई है। निज के काम काज से सम्बन्ध रखनेवाली स्वतंत्रता के अवरोधक क़ायदे क़ानून अब रद हो गये हैं और फ़ौजदारी के क़ानून में सुधार होजाने के कारण अब शिक्षा-पद्धति भी सौम्य हो गई है—विद्यार्थियों पर जो सख़्ती होती थी वह बहुत कम हो गई है। जो लड़के मदरसों में पढ़ते हैं उनकी अब बहुत कम रोक टोक होती है। उनकी शिक्षा का अब उतना प्रतिबन्ध नहीं होता और न अब उनको पहले की तरह सज़ाही दी जाती है। उनका आचरण सुधारने के लिए सज़ा की जगह अब और तरकीबें काम में लाई जाती हैं। पुराना ज़माना तपस्वियों का ज़माना था।

तब लोग यह समझते थे कि अपने शरीर और आत्मा के़ा ख़ूब पीड़ा पहुँ-
चनाही हमारा परम कर्तव्य है। उनका ख़याल था कि हम जितनाही अधिक
दुःख और क्लेश सहेंगे उतनाही अधिक हम पुण्यात्मा समझे जायँगे। इस
दशा में लड़कों के लिए वे सबसे अच्छी शिक्षा वही समझते थे जिसमें
उनकी इच्छाओं का सबसे अधिक विघात होता था। जहाँ तक हो सके
लड़कों को अपनी इच्छा पूरी न करने देनेही को वे सर्वोत्तम शिक्षा जानते
थे। "ख़बरदार, जो तुमने यह काम किया!" यह उस ज़माने की राम-
बाण ओषध थी। इसी ओषधि को देकर लोग लड़कों के सारे हैासले-उन
की सारी स्वाभाविक चपलता—जड़ से उखाड़ फेंकते थे। पर अब वह
ज़माना नहीं है। अब उन बातों का विपर्य्यय हो गया है। आज कल का
सिद्धान्त यह है कि अपने सुख के लिए यत्न करना कोई अनुचित बात
नहीं। अपने सुखैश्वर्य्य के लिए प्रयत्न करना हर आदमी का कर्त्तव्य है।
अब लोगो को कम काम करना पड़ता है। इससे उन्हें अधिक समय मिलता
है। और इस बचे हुए समय को बिताने के लिए अनेक प्रकार के मनोरञ्जक
खेल-कूदों की सृष्टि हुई है। अब माँ-बाप और शिक्षक लोगो की समझ मे
यह बात आ गई है कि बच्चो की छोटी से भी छोटी इच्छाओ को पूरा करना
मुनासिब है; उन्हें खेलने-कूदने मे उत्साहित करनेही मे उनकी भलाई है;
और बच्चों के उन्नतिशील मन की प्रवृत्तियों और अभिलाषों को पुराने
आदमियो की तरह निंद्य समझना भूल है। पहले ज़माने मे लोगों को यह
विश्वास था कि बाहर से आनेवाली व्यापार की चीज़ो पर कड़ा महसूल
लगाना और अपने देश में बनी हुई चीज़ो पर दयादृष्टि रखना सरकार का
कर्तव्य है; कला-कौशल की उन्नति के लिए कारीगरी की चीज़ों के नमूने,
गुण-धर्म्म और मोल आदि निश्चित कर देना ज़रूरी बात है; और रुपये का
मोल भी क़ानून से नियत कर देना मुनासिब है। यह वह ज़माना था जब
लोग समझते थे कि लड़कों की मानसिक शिक्षा भी कल में कस कर
किसी विशेष नमूने के ढँग की बनाई जा सकती है; अर्थात् लड़कों की तबी-
यत, माँ-बाप की इच्छा के अनुसार, ढाली जा सकती है; लड़कों की मान-
सिक शक्तियों को पैदा करना—उनकी बुद्धि को बढ़ाना—सर्वथा शिक्षकही
के हाथ मे है; और लड़कों का मन ज्ञान-सञ्चय करने की एक जगह है,
जिसमें शिक्षक, जैसा ज्ञान-मन्दिर चाहे, तैयार कर सकता है। इन बातों

को सुनकर आश्चर्य्य न करना चाहिए। वह ज़मानाही ऐसा था। लोगो की समझही ऐसी थी। पर अब व्यापार-स्वातंत्र्य का ज़माना है। यह वह युग है जिसमें अप्रतिबन्ध-व्यापार की अधिक महिमा है। अब लोग यह समझने लगे हैं कि स्वाभाविक रीति पर सब बातें होने से कोई विघ्न नहीं आता। हर चीज में एक ऐसी शक्ति है जिससे वह अपना उचित प्रबन्ध आपही कर लेती है। अब इस बात को लोग पहले से अधिक समझने लगे हैं कि सब बातों को उन्हींके भरोसे छोड़ देने से वे अधिक सुयन्त्रित रीति से होती हैं। श्रम-विभाग, व्यापार, खेती और जहाज चलाने आदि के जितने काम हैं उनका प्रबन्ध करने की अपेक्षा न करने से वे अधिक अच्छी तरह चलते हैं। जितनी राज-सत्तायें हैं आपही आप बढ़नी चाहिएँ। अपनी भीतरी शक्ति से उनकी उन्नति होनी चाहिए, बाहरी शक्ति से नहीं। राज-सत्ता के पौधे में बाहर से क़लम लाकर लगाने से काम नहीं चल सकता। जब वह अपनी उन्नति आपही करने के लिए छोड़ दी जायगी तभी वह सबल, सशक्त और लाभदायक होगी। यह बात अब लोगों के ध्यान में आने लगी है। इसके साथहीं वे इस बात को भी अब समझने लगे हैं कि मन में भी एक ऐसी स्वाभाविक शक्ति है जिसकी उत्तेजना से वह हमेशा अपना विकास आपही करने की फ़िक्र में रहता है। इस स्वाभाविक शक्ति में—इस स्वाभाविक प्रवृत्ति में—विघ्न डालने से लाभ तो होता नहीं, उलटा हानि होती है। जिस समय स्वाभाविक तौर पर मन की शक्ति उन्नत हो रही है उस समय उसे किसी कृत्रिम रीति से जबरदस्ती दूसरी तरफ़ लेजाने से उसका ह्रास हुए बिना नहीं रहता। सम्पत्तिशास्त्र की तरह मनोविज्ञान का भी यही नियम है कि जितना खप हो उतनीही आमदनी भी होनी चाहिए। यदि हमारी यह इच्छा हो कि हमारी हानि न हो, तो हमें चाहिए कि हम इस नियम का अच्छी तरह पालन करें। जैसा समय होता है वैसीही शिक्षा लोग पसन्द करते हैं। चाहे जिस काल को देखिए, उसमें और तत्कालीन सामाजिक, धार्म्मिक और राजनैतिक स्थिति और शिक्षा-पद्धति में ज़रूर मेल होगा—जरूर सादृश्य होगा। चाहे जो देश हो—चाहे जो काल हो—तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली का, उसके दृढ़ दुराग्रह में, उसके कठोर क़ायदे-कानून में, उसकी हज़ारो रोक-टोक में, उसकी पीडाजनक तापस वृत्ति में, और लोगों की "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं" शक्ति-विषयक

उसकी श्रद्धा में, ज़रूर साहृश्य देख पड़ेगा। जहाँ इन बातों की प्रबलता होती है वहाँ इनका प्रतिबिंब शिक्षा-पद्धति पर भी ज़रूर पड़ता है। इसी तरह जहाँ इन बातों की प्रतिकूलता होती है—जहाँ लोगों की स्थिति इसकी उलटी होती है—वहाँ शिक्षा भी और तरह की होती है। जिस तरह की भिन्नता लोक-स्थिति मे होती है उसी तरह की भिन्नता शिक्षा में भी होती है। जैसी लोक-स्थिति वैसीही शिक्षा। इस समय हमारे धार्म्मिक और राजनैतिक विचार विशेष उदार हैं—आज कल हम लोगों के ख़यालात अधिक आज़ादाना हैं—इसीसे हमारी शिक्षा-पद्धति भी वैसीही हो गई है। शिक्षा-सम्बन्धी नियमों में अब पहले की अपेक्षा अधिक उदारता देख पड़ती है।

२—वर्तमान समय में अनेक प्रकार की शिक्षा-पद्धतियों के पैदा होने का कारण।

लोक-स्थिति और शिक्षा-पद्धति मे हमने जो साहृश्य ऊपर दिखलाये उनके सिवा और भी साहृश्य दिखलाये जा सकते हैं। इन दोनो में, समय समय पर, जो फेर-फार होते है वे जिस रीति से होते हैं उस रीति में भी साहृश्य है। यही नहीं, किन्तु इस तरह के फेर-फार के कारण जो स्थिति-भेद हो जाता है—लोगो की रायों में जो अन्तर आ जाता है—उसमें भी साहृश्य है। कई शतक पहले सब लोगों के धार्म्मिक, राजनैतिक और शिक्षा-सम्बन्धी विश्वास एकसे थे; इन विषयों मे सबके मत सहृश थे। सब लोग रोमन कैथलिक थे और धर्म्म की बातों में प्रधान धर्म्माधिकारी पोप की आज्ञा मानते थे; राजकीय बातों में राजाही को सब लोग सर्व-श्रेष्ठ समझते थे और उसके हुक्म के सामने चुपचाप सिर झुकाते थे। विद्या-विषयक बातों में ग्रीस के विख्यात तत्त्ववेत्ता अरिस्टाटल को गुरु समझते थे और उसके अनुयायी होना अपना कर्तव्य जानते थे। पर "व्याकरण के मदरसे" की जिस शिक्षा-पद्धति के अनुसार सब लोगों ने शिक्षा पाई थी उस पद्धति के एक नियम की भी समालोचना करने का ख़याल किसी को न था। जिन लोगों की बदौलत पूर्वोक्त तीनों विषयों में इतना साहृश्य था उन्होंने, हर एक विषय में, वह विभिन्नता पैदा कर दी है जो बढ़ती ही जाती है। इन विषयों में आगे जो इतना विलक्षण फरक़ पड़ता गया उसका एक ही कारण

है, और वह कारण वही लोग हैं जिन्होंने पहले ज़माने में सदृशता स्थापित की थी। योरप में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का जो उदय हुआ वह, प्रति दिन बढ़ता ही गया। हर आदमी के दिल में जो यह ख़याल पैदा हुआ कि मुझे अपनी इच्छा के अनुसार अपना काम करने की स्वाधीनता होनी चाहिए उसका विकास बराबर होताही चला गया। इसका फल यह हुआ कि धीरे धीरे प्राटेस्टेंट मत की स्थापना हो गई। यह बात यहाँ तकही होकर नहीं रह गई, किन्तु जिस प्रवृत्ति ने इस नये मत की स्थापना की थी उसी के कारण, आज तक, धर्म्म-सम्बन्धी अनेक पन्थ निकलते चले आये हैं। मन की जिस प्रवृत्ति ने—स्वतन्त्रता प्राप्त करने की जिस इच्छा ने—राजनैतिक विषयों में वाद-विवाद शुरू करके राजकीय पुरुषों के, लिबरल और कांसरवेटिव, ये दो दल कर दिये, वही प्रवृत्ति—वही इच्छा—बढ़ते बढ़ते इतनी प्रबल हो गई कि उसने, इस समय, मूल के उन दो दलों में और भी अनेक भेद पैदा कर दिये हैं और हर साल नये नये भेद पैदा करती जाती है। जिस प्रवृत्ति ने बेकन नाम के विख्यात तत्त्वज्ञानी को उत्तेजित करके उससे अरिस्टाटल के अनुयायी विद्वानों के प्रतिकूल शस्त्र-धारण कराया और जिसके कारण इँगलैंडही में नहीं, और और देशों में भी, न्याय और तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी नई नई बातें पैदा हो गईं—नये नये विचार-स्वातन्त्र्य उत्पन्न हो गये—उसी ने शिक्षा-सम्बन्धी बातों में भी अनेक शाखायें और अनेक पद्धतियाँ पैदा करदीं। शिक्षा के इन भिन्न भिन्न तरीक़ों का कारण सिर्फ़ वही प्रवृत्ति है। मनुष्य की स्वातन्त्र्येच्छाही इन सबका बीज है। ये सब बातें एकही आन्तरिक कारण के कार्य हैं। मन में पैदा हुई प्रवृत्ति आन्तरिक है—भीतरी है—और जिन बातों का यहाँ पर वर्णन हुआ वे उसके बाहरी नतीजे हैं; वे उसके दृश्यमान फल हैं। अतएव भीतरी झुकावों और उनके बाहरी नतीजों को बहुत करके समकालीन समझना चाहिए। वे प्रायः एकही साथ पैदा हुए हैं। पोप, अरिस्टाटल, राजा या पाठशालाध्यक्ष के अधिकार या महत्त्व का ह्रास एकही कारण का कार्य है, एकही प्रवृत्ति का प्रभाव है, एकही प्राकृतिक नियम का विकास है। ये भेद किस तरह होते गये—ये फेर-फार क्यों कर पैदा हुए और उनके कारण कौन कौन नये मत, कौन कौन नये पन्थ, और कौन कौन नये सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये—इन बातों का विचार करने से यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि यह सब सिर्फ़ अधिक

स्वतन्त्रता पाने के लिए लोगों की स्वाभाविक इच्छा का फल है। सारांश यह कि आदमी के मन की प्रवृत्ति में जैसे जैसे फ़रक़ पड़ता जाता है वैसे ही वैसे धर्म, समाज, राजनीति और शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली बातों मे भी फ़रक़ पड़ता जाता है। यह सब मनोवृत्ति का खेल है। मनुष्य के मन की प्रवृत्ति जैसी हो जाती है उसके काम भी वैसेही होजाते हैं। मनोवृत्ति में फेर-फार होने से मन सेही प्रेरित होकर किये जानेवाले कामों मे भी फेरफार हुए बिना नहीं रहता।

३—शिक्षा-पद्धति के विषय में जुदा जुदा रायों का होना बुरा नहीं। उन्हीं की मदद से सच्ची शिक्षा-प्रणाली मालूम होगी।

लड़कों को शिक्षा देने की ये जो अनेक जुदा जुदा रीतियाँ निकल रही हैं उन्हें देख कर बहुत से लोगो को बुरा लगेगा। उन्हें इस बात पर अफ़सोस होगा। परन्तु विचारशील लोगों को यह बात कभी बुरी न लगेगी। क्योंकि शिक्षा-सम्बन्धी इन अनेक प्रकार की रीतियों को वे एक सच्ची और सर्वोपयोगी शिक्षा-प्रणाली ढूँढ़ निकालने का साधन समझेंगे। इन्हीं शिक्षा-प्रणालियों से एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली के निकलने की उन्हें आशा होगी जो सब प्रकार निर्दोष और सबसे अधिक उपयोगी है। धार्मिक बातों में मतभेद होना अच्छा हो या न हो, पर शिक्षा-सम्बन्धी विषयों में मतभेद होने से इन विषयों पर विचार करनेवालों की मेहनत बँट जाती है। इससे क्या होता है कि सच्ची और सबसे अधिक उपयोगी शिक्षा-प्रणाली ढूढ़ निकालने में बहुत मदद मिलती है। यदि शिक्षा की सच्ची रीति हमे मालूम होती, और उसके अनुसार काम न करके हम इधर उधर भटकते फिरते, तो उससे ज़रूर हानि होती। परन्तु, शिक्षा का मुनासिब तरीक़ा हमे अभी तक मालूम नहीं। इससे उसे ढूँढ़ निकालने के लिए अनेक आदमियों के अनेक प्रकार के जुदा जुदा प्रयत्न होना बहुत लाभदायक है। किसी और तरह से सच्ची शिक्षा-पद्धति को ढूँढ़ने की अपेक्षा इस तरह से ढूढ़ने में उसे पाने की अधिक आशा है। किसी बात का पता लगाने के लिए जब अनेक आदमी जुदा जुदा तरकीबें काम में लाते हैं तब

हर आदमी को एक न एक नई बात ज़रूर सूझती है। इस तरह सूझी हुई बात का उस असली बात से थोड़ा बहुत सम्बन्ध होना सम्भव है। हर आदमी अपनी तरकीब को सही समझ कर तदनुसार बड़े उत्साह से काम करता है, अनेक प्रकार से उसकी सत्यता को सिद्ध करने की कोशिश करता है, और उसकी सत्यता को सब लोगो पर प्रकट करने में कोई बात उठा नहीं रखता। हर आदमी और लोगो के काम की बडी ही निर्दयता से आलोचना करता है—औरों के मत का खण्डन करने मे वह ज़रा भी दया नहीं करता; .खूब बाल की खाल खींचता है। इस तरह एक ही उद्देश को ध्यान में रखकर जुदा जुदा तरीक़े से काम करनेवालों में, परस्पर एक दूसरे के काम की टीका-टिप्पणी और खण्डन-मण्डन होते होते धीरे धीरे, झूठ-सच का निर्णय होकर, किसी न किसी दिन, सत्य का पता लगे बिना नहीं रहता। अन्त में ज़रूर कामयाबी होती है और सच बात ज़रूर मालूम हो जाती है। सच्ची शिक्षा-प्रणाली के जितने अंश का कोई पता लगाता है, उसका लोगों को बार बार अनुभव होने से, लाचार होकर, उसे उन्हें माननाही पड़ता है। इसी तरह अपनी विवेचना में वह असत्य का जितना अंश शामिल कर देता है, अनुभव से उसके झूठ साबित होने पर, वह ज़रूर परित्यक्त हो जाता है और अन्त में ज़रूर उसकी दुर्दशा होती है। इस प्रकार सत्य का स्वीकार और असत्य का त्याग होते होते अख़ीर में सब तरह से सच्ची और सब तरह से परिपूर्ण सिद्धान्तमाला का ज़रूर प्रचार हो जाता है। अन्त में सच्ची बात बाहर निकल आती है और सर्वथा सत्य और सर्वथा पूर्ण नियम बन जाते है। मनुष्यो की सम्मतियों के तीन रूप होते हैं। जितनी रायें लोग देते हैं उनकी तीन सूरतें होती है। अथवा यों कहिए कि प्रत्येक सिद्धान्त को तीन स्थितियों से होकर निकलना पड़ता है:—(१) ज्ञानहीन आदमियों के कथन की एकवाक्यता अर्थात् उनकी सम्मतियों में ऐक्य (२) खोज करनेवालों का परस्पर मत-भेद (३) विद्वानों के कथन की एकवाक्यता। यह बिलकुल स्पष्ट है कि इन स्थितियों में दूसरी स्थिति तीसरी की जड़ है; वह तीसरी स्थिति की जननी है। इन स्थितियों में समय के अनुसार पूर्वापर-सम्बन्ध ही नहीं है, किन्तु कार्य्य-कारण-भाव भी है। अत-एव इस समय शिक्षा-प्रणाली के विषय में जो वाद-विवाद हो रहा है उसे देख कर हम चाहे जितने अधीर हो उठें, और उससे होनेवाली बुराइयाँ

हमें चाहे जितनी नागवार मालूम हों, तथापि हमें समझना चाहिए कि यह इस परिवर्तनशील समय का धर्म है। अतएव इस अवस्थान्तर के भीतर से निकल जाना अनिवार्य्य और आवश्यक है; और अन्त में इसका फल अच्छा ही होगा।

४—शिक्षा के नये और पुराने तरीक़ों में जो भेद है उसके विचार की ज़रूरत।

इस मौक़े पर क्या यह बात लाभदायक न होगी कि शिक्षा में हम लोगों ने जो उन्नति की है उसका हिसाब कर डालें? ज़रूर होगी। इस लिए इस बात के विचार करने की यहाँ पर बड़ी ज़रूरत है कि इस विषय में जो उद्योग हो रहे हैं उनका फल क्या हुआ है। क्या कोई कह सकता है कि आज पचास वर्ष से इस विषय की जो चर्चा हो रही है और शिक्षा के जुदा जुदा तरीक़ो का परस्पर मिलान करने से जो अनुभव प्राप्त हो रहा है उस से कुछ भी लाभ नहीं हुआ? क्या हम यह आशा नहीं कर सकते कि जिस फल-प्राप्ति के लिए ये कोशिशें हो रही हैं उनमें अब तक थोड़ी बहुत कामयाबी ज़रूर हो चुकी होगी? शिक्षा के कुछ पुराने तरीक़े ज़रूर रद हो गये होंगे, कुछ नये तरीक़े ज़रूर प्रचलित हो गये होंगे; और कितनेही दूसरे तरीक़े रद होने या प्रचार में आने चाहते होंगे। ये जो अनेकों फेरफार हो रहे हैं उन्हें पास पास रख कर मिलाने और उनकी परीक्षा करने से, बहुत सम्भव है, हमें उनमें एक प्रकार का सादृश्य देख पड़े और यह मालूम हो जाय कि उन सबका झुकाव किसी एकही दिशा की तरफ़ है। ऐसा करने से यह भी सम्भव है कि हम, अनुमान द्वारा, इस बात का पता लगालें कि हमारा तजरिबा हमें किस तरफ़ लिये जा रहा है। इससे यह भी हो सकता है कि हमें कुछ ऐसे इशारे मिल जायँ जिनसे मालूम हो जाय कि शिक्षा में किस तरह और अधिक उन्नति हो सकती है। तो अब हम इस बात का विचार करते हैं कि शिक्षा के नये और पुराने तरीक़ों में विशेष विशेष भेद कौन से हैं। इससे, आगे चलकर, इस विषय की अच्छी तरह विवेचना करने में बहुत सुभीता होगा।

५—एक भूल के सुधारने में दूसरी भूल हो जाती है। शारीरिक और मानसिक शिक्षा के सम्बन्ध में भी यही बात पाई जाती है।

हर एक भूल का सुधार होने पर बहुधा उसकी उलटी कोई और भूल, बहुत नहीं तो थोड़ी देर के लिए, ज़रूर ज़ोर पकड़ती है। और शिक्षा के सम्बन्ध में ठीक ऐसाही हुआ है। लोगो का सबसे अधिक ध्यान पहले सिर्फ़ शारीरिक सुधार की तरफ़ था। पर, उसके बाद एक ऐसा समय आया कि लोगों ने सिर्फ़ मानसिक सुधारही को सब कुछ समझा—बुद्धि-विषयक शिक्षा के सुधारही को उन्होंने अपना सबसे बड़ा कर्तव्य माना। वह ऐसा समय था कि बच्चे दो तीन वर्ष के भी न होने पाते थे और उनके हाथ में किताबें दे दी जाती थीं। विद्योपार्जन ही को लोग, उस समय, सबसे अधिक ज़रूरी समझते थे। जैसा कि बहुधा देखा जाता है, इस तरह की उलटी भूल होने पर लोगो की आँखें खुलती हैं और उन्हें इस बात के जानने की इच्छा होती है कि देखें इन दोनों को इकट्ठा कर के उनसे एकही साथ काम लेने से क्या फल होता है। ऐसा करने से उन्हें मालूम हो जाता है कि उन दोनों में से एक बात सचाई के एक छोर पर है, दूसरी दूसरे छोर पर। तब कहीं उन्हें ज्ञान होता है कि सच बात इन दोनों प्रकारों के बीच में पाई जायगी। यही कारण है जो हम लोगो को अब यह विश्वास हो रहा है कि शरीर और मन दोनों का सुधार एक ही साथ करना चाहिए—शिक्षा के द्वारा दोनो का विकास करने ही में भलाई है। ज़बरदस्ती शिक्षा देने की रीति अब बहुत लोगों ने बन्द कर दी है। असमय में ही लड़कों को ज़बरदस्ती शिक्षा देना अब नहीं पसन्द किया जाता। लोगों की समझ में अब यह बात आने लगी है कि सांसारिक कामों में कामयाबी के लिए सबसे अधिक ज़रूरी बात मनुष्य के शरीर का सबल और नीरोग होना है। सब तरह के सांसारिक सुखो की प्राप्ति का मुख्य साधन यही है। यदि शरीर में काफ़ी शक्ति और सजीवता नहीं है तो उत्तम से उत्तम बुद्धिमत्ता किस काम की? शरीर निर्बल हो जाने से अच्छा से अच्छा दिमाग़ व्यर्थ है। वह बहुत कम काम दे सकता है। इससे शारीरिक

शक्ति की अवहेलना करके—उसका बलिदान करके—बुद्धि तीव्र करते बैठना आज कल पागलपन समझा जाता है। इस पागलपन के उदाहरण प्रायः प्रति दिन उन बच्चों में पाये जाते हैं जो बाल्यावस्था में होनहार होते हैं, पर दिमाग़ से वेहद काम लेने के कारण, बड़े होने पर, किसी काम के नहीं रह जाते। अतएव "समय को किस तरह बुद्धिमानी से ख़र्च करना चाहिए"—यह जो शिक्षा का एक भेद है उसकी यथार्थता धीरे धीरे हमारी समझ मे आने लगी हैं।

६—तोतों की तरह रटने से हानियाँ और इस रीति का धीरे धीरे परित्यक्त होना।

किताबों को तोते की तरह रट लेने की रीति, जो किसी समय प्रचलित थी, अब उठती जाती है। उस पर लोगो का विश्वास कम होता जाता है। शिक्षा-सम्बन्धी विषयों मे आज कल जिन लोगो की बात का प्रमाण है वे वर्णमाला सिखलाने के पुराने तरीक़े को सदोष समझते हैं। अब लड़कों को पहाड़े कण्ठ नहीं कराये जाते। सिर्फ़ एक बार उनकी रीति अच्छी तरह समझा दी जाती है। फिर लड़के बहुधा अपने ही तजरिबे से उन्हें याद कर लेते हैं। भाषाओं के सिखलाने में पुरानी व्याकरणपाठशालाओं का तरीक़ा भी, जो अब तक काम में आता था, बन्द हो रहा है। उसकी जगह अब वह स्वाभाविक तरीक़ा जारी किया गया है जिसके अनुसार लड़के अपनी मातृभाषा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। लन्दन के पास एक जगह बैटरसी है। वहाँ एक ट्रेनिंग स्कूल है। जिन तरीक़ों से वहाँ शिक्षा दी-जाती है उनका वर्णन करते समय उस स्कूल की वार्षिक रिपोर्ट के लिखने-वाले ने एक जगह लिखा है—'यहाँ प्रायः सारी प्रारम्भिक शिक्षा मुँह से दी जाती है; किताबी मदद बिलकुल नही ली जाती, और जो विषय लड़कों को सिखलाया जाता है उसे अच्छी तरह समझ में आ जाने के लिए उस विषय से सम्बन्ध रखनेवाली सब चीज़ें यथासम्भव प्रत्यक्ष दिखला दी जाती हैं"। और, सब विषयों मे ऐसाही होना भी चाहिए। रटने की जो चाल थी उसमें प्रत्यक्ष चीज़ो को दिखलाने की कम परवा की जाती थी, उनके नाम, शकल-सूरत और लक्षण आदि सिखलाने की अधिक। उस समय की

सभी बातों की यही दशा थी। शब्दों का अर्थ न समझ पड़े तो कुछ परवा नहीं; पर उनका उच्चारण शुद्ध होना चाहिए। उच्चारण ही का अधिक महत्त्व था, शब्दार्थ का कम। इस तरह शब्दार्थ की जान सिर्फ़ उच्चारण की शुद्धता के लिए मारी जाती थी। अन्त मे यह बात अब लोगों के ध्यान में आई है कि, और रीति-रस्मों की तरह, यह रीति भी आकस्मिक नहीं है। अर्थ को कुछ न समझ कर उच्चारण ही को सब कुछ समझना काकतालीय-न्याय नहीं है। वस्तु-स्थिति के अनुसार इसे ऐसा होना ही चाहिए। यह अपने ही किये का ज़रूरी फल है। जैसा बीज बोया गया है वैसा ही फल भी हुआ है। वस्तुओ की संज्ञा की तरफ़ अधिक ध्यान जाने से प्रत्यक्ष वस्तुओं का ज़रूर ही अनादर होता है। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् मांटेन ने, बहुत दिन हुए, बहुत ठीक कहा था कि—"किसी बात को रट लेना उसका ज्ञान हो जाना नहीं कहलाता।"

७—नियमों को सामने रख कर शिक्षा देना हानि-कारी है। उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्त बतलानाही शिक्षा की सच्ची रीति है।

नियम निश्चित करके उनके अनुसार शिक्षा देना भी प्रायः वैसाही हानिकर है जैसा कि तोते की तरह किसी बात को रट लेना है। इस तरह रटने की चाल अब जैसे बन्द होती जाती है वैसेही नियम बनाकर तदनुसार शिक्षा देने की चाल भी बन्द होती जाती है। नियमों की पाबन्दी करके शिक्षा देने की चाल अच्छी नहीं। इस बात को भी लोग अब समझने लगे हैं। इसी से अब शिक्षा की नई रीति निकाली गई है। इस रीति के अनुसार बच्चों को पहले विशेष विशेष बातें सिखलाई जाती हैं। जब वे उन बातों को समझ जाते हैं तब उन्हें सामान्य सिद्धान्त बतलाये जाते हैं। इस नई रीति के विषय में पूर्वोक्त बैटरसी की पाठशाला की वार्षिक रिपोर्ट में यह लिखा हुआ है—"पुरानी रीति के अनुसार लड़को को नियम पहले बतलाये जाते हैं और इसी रीति का अधिक प्रचार भी है। पर जो नई रीति यहाँ प्रचलित की गई है वह यद्यपि पुरानी रीति के बिलकुल विरुद्ध

है तथापि तजरिबे से साबित हुआ है कि यह नई रीति ही सच्ची और उचित रीति है। नियमात्मक शिक्षा को अब कोई नहीं मानता। वह अशास्त्र है। उससे सिर्फ़ स्थूल ज्ञान होता है। उसे ज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञानाभास कहना चाहिए। इस तरह की शिक्षा से वस्तुओं का सिर्फ़ ऊपरी ज्ञान हो जाता है, भीतरी सच्चा ज्ञान नहीं होता। उपपत्ति न बतलाकर सिर्फ़ सिद्धान्त बतला देने से बुद्धि मन्द हो जाती है। इस तरह बतलाये गये सिद्धान्तों का असर भी कम होता है। किसी खोज का नतीजा बतलाने के पहले, जिस क्रम या रीति से वह नतीजा निकला हो उसे ज़रूर बतलाना चाहिए। साधारण सिद्धान्तो से पूरा पूरा और सदा एकसा लाभ उठाने के लिए यह बात बहुत ज़रूरी है कि उनका पता स्वयंही परिश्रम-पूर्वक लगाया जाय। जो सिद्धान्त उपपत्तिपूर्वक परिश्रम से सीखे जाते हैं वे कभी नहीं भूलते और लाभ भी उन्हीं से होता है। एक कहावत है कि—"जो चीज़ जल्दी आती है वह जल्दी जाती भी है"। यह बात जैसे रुपये-पैसे के लिए कही जा सकती है वैसे ही ज्ञानार्जन के लिए भी। जो धन बिना परिश्रम के प्राप्त हो जाता है वह जल्दी निकल भी जाता है। यही हाल शिक्षा का भी है। नियमों को पहले रटा देने और जिन बातों से उन नियमों की उत्पत्ति हुई है उन्हें पीछे बतलाने से, वे नियम और वे बातें परस्पर असम्बद्ध सी होकर अलग अलग मन में पड़ी रहती हैं। इस दशा में लड़के यह नहीं जानते कि उन बातों से किस तरह वे नियम निकले हैं। इसका फल यह होता है कि इस तरह सीखे हुए नियम बहुत जल्द भूल जाते हैं। पर जो सिद्धान्त, जो तत्त्व, या जो उसूल इन नियमों से निकलते हैं वे यदि एक दफ़े अच्छी तरह समझ में आ गये तो फिर कभी नहीं भूलते। नियमों की रीति से शिक्षा पाया हुआ लड़का यदि कहीं नियमों की हद के बाहर चला गया तो वह ऐसा घबरा जाता है मानों वह अगाध समुद्र मे डूब रहा है। पर जिस लड़के ने सिद्धान्तों की शिक्षा पाई है—जिसे शिक्षित विषयों के तत्त्व बतला दिये गये हैं—वह नये प्रश्नों का उसी तरह सहज में उत्तर दे सकता है जिस तरह कि पुराने प्रश्नों का। नई और पुरानी बातों का उत्तर देने में उसे कोई कठिनाई नहीं पड़ती। क्योंकि सिद्धान्त सबके एक हैं। मग़ज़ मे सिर्फ़ नियमो को भर रखना मानों सब तरह की किताबों का एक अस्त-व्यस्त ढेर लगा देना है। और

सिद्धान्तों का संग्रह करना मानों उस ढेर की किताबों को अपने अपने विषय के अनुसार यथारीति अलमारियों में रख देना है। इन दोनों प्रकारों मे पिछले प्रकार से सिर्फ़ इतनाही लाभ नहीं कि उसके सब भाग ठीक ठीक ध्यान में रहते हैं; किन्तु उससे किसी विषय की मीमांसा करने, नई नई बातें खोज निकालने और स्वतन्त्रतापूर्वक सब बातों का विचार करने में भी सुभीता होता है। यह बहुत बडा लाभ है। पहले प्रकार को क़बूल करने से आदमी इन सभी लाभों से वंचित रहता है। इसे मिसालही मिसाल न समझना चाहिए। इसे निरी उपमा समझना भूल है। यह बात अक्षरशः सच है। इसमें कोई बात बढ़ा कर नहीं कही गई। व्यक्ति-विषयक ज्ञान को एकत्र करके—सब बातों को एक जगह रखके—उनसे व्यापक सिद्धान्त निकालनेही का नाम ज्ञान-संस्था या ज्ञान का साङ्गोपाङ्ग विधान है। फिर, चाहे वह विधान अपनेही समझने के लिए किया गया हो चाहे दूसरो को समझाने के लिए। इस तरह का यथाक्रम और साङ्गोपाङ्ग विधान जितनाही परिपूर्ण होगा—जितनाही अच्छा होगा—उसके कर्ता के मन की ग्रहणशक्ति उतनीही अधिक समझनी चाहिए। किसी विषय से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें जानने लायक़ हों उन सबको इकट्ठा करके उनसे जो जितनेही अधिक व्यापक सिद्धान्त निकालेगा उसकी बुद्धि उतनीही अधिक तीव्र और ग्राहिका समझनी चाहिए।

८—बचपन में व्याकरण पढ़ाना हानिकारी है। इससे बच्चों के कुछ बड़े होने पर अब वह पढ़ाया जाता है।

सिद्धान्तों के बदले नियमों को बतला देने की रीति जैसे दूषित है वैसे ही एक और रीति भी दूषित है। वह रीति चीज़ों के गुण-दोष से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा है। किसी चीज़ का परिचय होने के पहलेही उसके गुण-दोषों पर पाठ पढ़ाते बैठना, और, सिद्धान्तो की अवज्ञा करके नियमों को रटाने का परिश्रम उठाना, ये दोनों रीतियाँ दूषित हैं। यह बात अब लोगों के ध्यान में आने लगी है। इससे कुछ विषय जो लड़कों को बहुतही बचपन में पढ़ाये जाते थे अब बड़े होने पर पढ़ाये जाते हैं। इसका एक उदाहरण यह है कि लड़कों को बचपनही में व्याकरण पढ़ाने की जो बहुतही

मूर्खतापूर्ण चाल थी वह अब बन्द होगई है। फ़रासीसी विद्वान् मार्स्यल लिखता है—"यह बात बिना सङ्कोच के विश्वासपूर्वक कही जा सकती है कि शिक्षा की पहली सीढ़ी व्याकरण नहीं है, वह उसकी पूर्णता का साधन मात्र है। व्याकरण की बदौलत भाषा नहीं आती; किन्तु भाषा का ज्ञान हो चुकने पर उसे परिमार्जित करने के लिए उसकी ज़रूरत होती है"। इस विषय में प्रसिद्ध विद्वान् बाइज़ क्या कहता है सो भी सुनिए। वह लिखता है—"व्याकरण और वाक्य-रचना-विधान नियमों और सिद्धान्तों के समूह को कहते हैं। जैसी भाषा व्यवहार में बोली जाती है उसी के अनुसार नियम बनते हैं। अर्थात् यों कहना चाहिए कि बोल-चाल का ख़याल रख कर नियम बनाये जाते हैं। लोगों की बोल-चाल की पर्य्यालोचना और उसका परस्पर मिलान करने से जो नतीजे निकलते हैं उन्हीं का नाम नियम है। यही भाषा-शास्त्र या भाषा-विज्ञान है। प्राकृतिक विषयों का अभ्यास करनेवाला चाहे एक आदमी हो, चाहे देश का देश हो, विज्ञान या शास्त्र की प्राप्ति उसे पहलेही नहीं हो जाती। विषय आरम्भ करतेही सिद्धान्तों का पता नहीं लग जाता। व्याकरण और छन्दःशास्त्र की कल्पना तक लोगों के मन में आने के सैकड़ों वर्ष पहलेही से वे भाषा बोलने और उसमें कविता करने लगते हैं। तर्कना करने के लिए लोग अरिस्टाटल (अरस्तू) की राह नहीं देखते बैठे, कि जब वह तर्क-शास्त्र पर पुस्तक लिखे तब वे तर्क करना सीखें। उसके पहले भी वे बहस करते थे और दलीलों से काम लेते थे"। सारांश यह कि भाषा के बाद व्याकरण पैदा हुआ है। इससे भाषा के बाद ही उसकी शिक्षा होनी चाहिए। जो लोग मनुष्य-जाति और व्यक्ति-विशेष के विकास या सुधार-विषयक पारस्परिक सम्बन्ध को मानते हैं उन्हें यह बात माननीही पड़ेगी।

६—सब चीज़ों को ध्यान से देखने का महत्त्व, और आलोचना-शक्ति के बढ़ाने की ज़रूरत।

अब ऐसा समय आया है कि शिक्षा के पुराने तरीक़े तो धीरे धीरे बन्द होते जाते हैं और उनकी जगह पर नये नये तरीक़े जारी होते जाते हैं। इन नये तरीक़ों में से सर्वोत्तम तरीक़ा, चीज़ों को अच्छी तरह दिखला कर

लड़कों को उनका यथारीति ज्ञान प्राप्त कराना है। सब चीजों की ध्यान-पूर्वक आलोचना करने की शक्ति को बढ़ाना शिक्षा का बहुतही अच्छा तरीक़ा है। अज्ञानान्धकार के कितनेही युग बीत जाने पर अब कहीं लोगों की समझ में यह बात आने लगी है कि बचपन में लडके जो कभी इस चीज़ को देखते हैं कभी उस चीज़ को, कभी कुछ पूछते हैं कभी कुछ, उसका भी कोई मतलब है। लड़कों में पूँछ-पाँछ करने और देखने-भालने की जो आदत होती है उससे कुछ फ़ायदा भी होता है, इस बात को लोग अब समझने लगे हैं। जिन बातों को लोग, किसी समय, अपने अपने मौक़े के अनुसार, व्यर्थ दौड़-धूप, खेल-कूद या शरारत समझते थे उसी को वे अब भविष्यत् में विद्योपार्जन का प्रधान साधन समझने लगे हैं। उनके ध्यान में अब यह बात आने लगी है कि लडकपन में ज्ञान प्राप्त करने की यही स्वाभाविक रीति है। इसीसे अब बच्चो को प्रत्यक्ष चीजें दिखलाकर उनके विषय में शिक्षा देने की रीति शुरू की गई है। यह रीति बहुत अच्छी है। यह कल्पना सचमुचही उत्तम है। पर उसका जिस तरह उपयोग होना चाहिए नहीं होता। इँगलेंड के प्रसिद्ध विद्वान् बेकन का मत है कि—"जितने विज्ञान-विषय हैं पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र उन सबका जनक है—उन सबका उत्पत्ति-स्थान है"। शिक्षा में इस कथन का भी कोई अर्थ है, यह बात लोगों के ख़याल में अब कहीं आई है। सांसारिक चीजों के दृश्य और उनके गुण-धर्मों का सच्चा सच्चा ज्ञान हुए बिना हमारी कल्पनायें ज़रूर भ्रान्तिपूर्ण होंगी, हमारे अनुमान ज़रूर दोषयुक्त होंगे और हमारे प्रयोग थोड़े बहुत ज़रूर निष्फल होंगे। चीजो को देखने और छूने से उनके विषय में जो बातें मालूम हो सकती हैं वे यदि न मालूम कर ली जायँगी तो शुद्ध कल्पना, निर्दोष अनुमान और फलदायक प्रयोग कभी न हो सकेंगे। "यदि ज्ञानेन्द्रियों को उचित शिक्षा नहीं मिलती तो सारी अगली शिक्षा शिथिल और अपूर्ण रह जाती है और एक भी बात साफ़ साफ़ समझ में नहीं आती। सब बातों पर एक तरह का अँधेरा सा छाया रहता है। आगे ये दोष दूर नहीं हो सकते। इनका इलाज फिर असम्भव हो जाता है"। यथार्थ बात यह है कि यदि हम अच्छी तरह सोचें तो हमें मालूम हो जायगा कि जितने बड़े बड़े काम हैं उनमें कामयाबी होने के लिए उन पर पूरे तौर पर विचार करने और उनके हर अंश का दिल लगाकर अवलोकन करने की बड़ी

ज़रूरत है। बिना इसके कभी कामयाबी नहीं हो सकती। अवलोकन और आलोचना करने का स्वभाव आदमी को ज़रूरही डालना चाहिए। सिर्फ़ कारीगर, पदार्थ-वेत्ता और विज्ञानशास्त्रीही के लिए इन गुणों की ज़रूरत नहीं। रोगों का निदान जानने के लिए वैद्य या डाकृर के लिए भी इनकी ज़रूरत है। यंजिनियर लोगों को तो इन गुणों की इतनी ज़रूरत पड़ती है कि उन्हें सीखने के लिए उनको कई वर्ष कारख़ानों में ख़र्च करने पड़ते हैं। इसी तरह, हमारी समझ में, तत्ववेत्ता भी वही हो सकता है जो सांसारिक पदार्थों के उन पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जो और लोगो के ध्यान में नहीं आते। कवि का भी यही हाल है। कवि भी वही हो सकता है जो जगत् मे ऐसी ऐसी बारीक बातें देखता है जो औरो को नहीं देख पड़तीं; पर कवि के द्वारा बतलाई जाने पर सब उन्हें स्वीकार करते हैं। अतएव इससे अधिक और किसी बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं है कि हर वस्तु के गुणधर्म्मों का चित्र ख़ूब सफ़ाई और पूर्णता के साथ हृदय-पटल के ऊपर खिंच जाना चाहिए। सड़े हुए कच्चे सूत से बुद्धिमानी का पायदार वस्त्र नहीं बन सकता। मिट्टी के कमज़ोर और कच्चे पायों के ऊपर कहीं पक्के ज्ञान-मन्दिर की इमारत खड़ी की जा सकती है?

१०—सब चीज़ों को प्रत्यक्ष दिखला कर शिक्षा देने की नई रीति का प्रचार और उसके उदाहरण।

पदार्थों के गुण-धर्म्मों पर पाठ पढ़ाकर शिक्षा देने की पुरानी रीति अब उठती जाती है। उसकी जगह पर प्रत्येक वस्तु को प्रत्यक्ष दिखलाकर शिक्षा देने की नई रीति अब प्रचार में आ रही है। जिस तरह कपड़ों की पोत, पदार्थों के स्वाद और सब तरह के रंग प्रत्यक्ष देखकर अपनेही अन्तर्ज्ञान द्वारा सीखे जाते हैं उसी तरह अब निश्चित विज्ञान-विद्याओं के प्रारम्भिक तत्त्व—शुरू के मोटे मोटे सिद्धान्त—सब चीज़ोंको प्रत्यक्ष देखकर सीखे जाते हैं। बाल-फ़्रेम नाम का एक चौखटा होता है। उसमें तार और गोलियाँ लगी रहती हैं। उसकी सहायता से अब बच्चों को अङ्कगणित की प्रारम्भिक बातें, अर्थात् गिनती, जोड़ और बाक़ी इत्यादि, सिखलाई

जाती है। नई रीति से शिक्षा देने का यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। दशमलव सिखलाने की जो रीति प्रसिद्ध गणित-शास्त्री अध्यापक डी० मार्गन ने निकाली है उसमें भी इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है। एम० मार्सेल साहब ने कोष्ठक कण्ठ करने की पुरानी रीति को बन्द करके, गज़, फ़ुट, पौंड, औंस, गैलन और कार्ट इत्यादि माप-तोल प्रत्यक्ष दिखाकर, तजरिबे से उनके पारस्परिक सम्बन्ध को ख़ुद ही जान लेने की जो रीति विद्यार्थियों के लिए निकाली है वह बहुत अच्छी है। भूगोल और रेखागणित पढ़ाने में जो गोले और लकड़ियों की आकृतियों का अब उपयोग होने लगा है वह भी पूर्वोक्त उद्देश सिद्ध होने ही के लिए है। इन सब तरीक़ों का मतलब सिर्फ़ यही है कि इनकी सहायता से शिक्षा देने में लड़कों के मन पर वही संस्कार हो जो मनुष्य-जाति के मन पर सहज ही होता गया है। जिन बातों को देखने, सुनने या जानने की इच्छा बच्चो में स्वभाव ही से होती है उनकी सहायता से शिक्षा देने मे बच्चो को कुछ भी कष्ट नहीं होता। वह उनके लिए खेल का खेल और शिक्षा की शिक्षा है। फिर, जो बातें जिस तरह जानी गई हैं उसी तरह बतलाने से जल्द आती भी हैं। संख्या, आकार और पारस्परिक भेद या अन्तर का सम्बन्ध लोगो ने पदार्थों को प्रत्यक्ष देख कर ही जाना है और प्रत्यक्ष देख कर ही तत्सम्बन्धी सिद्धान्त निकाले हैं। ये बातें बच्चो को प्रत्यक्ष पदार्थ दिखला कर सिखलाना मानों जिस तरह मनुष्य-जाति ने उन्हें सीखा था उसी तरह उनकी शिक्षा देना है। शायद धीरे धीरे कभी हम लोगों के ध्यान में यह आ जाय कि ये बातें और किसी तरह से बच्चो को सिखलाई ही नहीं जा सकतीं। क्योंकि, यदि ये बच्चो से कण्ठ कराई जाती हैं तो तब तक इनका मतलब ही उनकी समझ में नहीं आता जब तक उन्हें यह नहीं मालूम हो जाता कि जो कुछ उनसे रटाया जा रहा है वह उसी का वर्णन है जिसे उन्होंने प्रत्यक्ष अपनी हीं आँखों से देखा है।

११—बच्चों को शिक्षा मनोरंजक मालूम होनी चाहिए; कष्टदायक नहीं। यही प्राकृतिक नियम है। इस का अनुसरण भी अब हो रहा है।

पुरानी शिक्षा-प्रणाली में जितने फेरफार हो रहे हैं उनमें एक बात विशेष ध्यान में रखने लायक़ है। वह यह है कि अब लोगो की यह इच्छा

प्रति दिन अधिकाधिक बढ़ती जाती है कि विद्योपार्जन में बच्चों को आनन्द मिलना चाहिए, कष्ट नहीं। यदि शिक्षा प्राप्त करने में उनका मनोरंजन न हुआ तो कुछ भी न हुआ। इसका बीज इस बात का ज्ञान है कि जिस उम्र में जो काम बच्चा पसन्द करता है उसीकी शिक्षा से उसे लाभ पहुँचता है। अर्थात् उम्र के अनुसार जिन विषयों के सीखने में बच्चों का मन लगता है उन्हीं को सिखाने से बच्चों को लाभ पहुँचता है और उन्हीं से उनकी बुद्धि बढ़ती है। और, इसका उलटा बर्ताव करने से फल भी उलटा होता है। जो बातें बच्चों को नहीं अच्छी लगतीं उन्हें जबरदस्ती सिखलाने से कभी लाभ नहीं होता। अब यह राय लोगो मे फैलती जाती है कि किसी शिक्षा के पाने की अभिलाषा प्रकट करना इस बात का सबूत है कि बच्चे की बुद्धि उसे प्राप्त करने के योग्य हो गई है और बुद्धि की वृद्धि के लिए उस शिक्षा की उसे ज़रूरत है। इसके विपरीत यदि किसी शिक्षा-सम्पादन में बच्चे का मन नहीं लगता तो जानना चाहिए कि उसे प्राप्त करने की योग्यता उसमें नहीं आई, या जिस रीति से वह शिक्षा दी जाती है वह रीति ही ठीक नहीं है। इसीसे लोग इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि जो शिक्षा बचपन में दी जाय वह मनोरंजक होनी चाहिए, जिसमें ख़ुशी ख़ुशी बच्चे उसे सीख लें। यही नहीं, किन्तु जितनी शिक्षा है सब ऐसी होनी चाहिए कि उसमें मन लगे। यही कारण है जो खेल-कूद के लाभों पर व्याख्यान दिये जाते हैं। बचपन में लड़कों को जो तरह तरह के क़िस्से, कहानियाँ और पहेलियाँ इत्यादि सुनाई जाती हैं उनका भी मतलब यही है। इस तरह बच्चों की तबीयत का खयाल रखकर प्रति दिन नई नई शिक्षा की रीतियाँ निकाली जा रही हैं। हम बराबर इस बात की पूछ पाछ किया करते हैं कि बच्चा इस विषय की शिक्षा पसंद करता है या नहीं उस विषय की पसन्द करता है या नहीं। अमुक विषय के सीखने में उसका दिल लगता है या नहीं। एम० मार्सेल साहब की राय है कि—"बच्चों को जुदा जुदा तरह की चीजें अच्छी लगती हैं। उनकी इस आदत को रोकना न चाहिए। नाना प्रकार की बातें सीखने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति बच्चों में होती है उसे बढ़ाना चाहिए। यह इस तरह करना चाहिए कि उनकी इच्छा भी तृप्त हो जाय और उनकी बुद्धि भी विकसित होती जाय। अर्थात् खेल-कूद के साथ साथ उन्हें शिक्षा भी मिलती जाय"। उनकी यह भी राय

है कि—"पढ़ने से बच्चों का दिल उचटने के पहले ही पाठ याद कराना बन्द कर देना चाहिए"। बच्चों के बड़े होने पर इसी तरह शिक्षा देनी चाहिए। मदरसे में शिक्षा के लिए जितने घंटे नियत हों उनमे बीच बीच थोड़ी देर के लिए छुट्टी देना, बाहर गाँवों और खेतों इत्यादि में घुमाने ले जाना, मनोरंजक व्याख्यान सुनाना, और सब बच्चों से एकही साथ कविता गवाना—ये और ऐसी ही और भी बहुत सी बातें हैं जिनमें नई रीति से शिक्षा देने के उदाहरण अच्छी तरह देख पडते हैं। अब तापसवृत्ति मदरसों से उसी तरह लोप हो रही है जिस तरह कि वह मनुष्यो के व्यवहारो से लोप रही है। क़ायदे-क़ानून बनाते समय अब सिर्फ़ यह बात देखी जाती है कि प्रजा को उससे सुख होगा या नहीं। नये कानून बनाने की ज़रूरत अब इसी कसौटी पर कस कर मालूम की जाती है। सरकार की यह प्रवृत्ति अब प्रति दिन बढती जा रही है। इसी तरह अब घर मे और मदरसे में भी बच्चो के सुख का ही खयाल रखकर शिक्षा देने का क्रम निश्चित किया जाता है। किस बात को बच्चे पसन्द करेंगे? किस बात से उनको आनन्द मिलेगा? इसका विचार करके अब उन्हें शिक्षा दी जाने लगी है। ये जो फेरफार हो रहे हैं उनमे विशेषता क्या है? उनका झुकाव किस तरफ है? विचार करने से क्या यह बात साफ नहीं मालूम होती कि सृष्टिक्रम के अनुसार बर्ताव करने ही की तरफ़ अब लोगों की प्रवृत्ति बढ रही है? बचपन ही में बच्चो को जो जबरदस्ती शिक्षा देने की रीति थी वह सृष्टिक्रम के विरुद्ध थी। इसलिए लोग अब उस रीति को छोड़ रहे हैं। अब बचपन का समय अवयवों और ज्ञानेन्द्रियों से काम लेने के लिए छोड़ दिया जाता है। अब पाठ कण्ठ करने के लिए लड़के लाचार नहीं किये जाते। अब जो कुछ उन्हें सिखाना होता है वह मुँह से बतलाकर और चीज़ों को प्रत्यक्ष दिखलाकर सिखलाया जाता है। खेती के कारोबार और खेल-कूद से सम्बन्ध रखनेवाले पाठ, इस बात के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। नियमों के आधार पर शिक्षा देने का तरीक़ा उठ गया है। सब बातों के सिद्धान्त बतला कर उन की शिक्षा दी जाती है। जिन बातों से जो नतीजे निकलते हैं वे तब तक नहीं सिखलाये जाते जब तक वे बातें नहीं बतला दी जातीं। चीजें पहले दिखला कर फिर उनसे सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्त बतलाये जाते हैं। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थों की आकृतियाँ दिखला कर जो शिक्षा दी जाती है वह इस बात का उदाहरण है। विज्ञानशास्त्रो के मूल सिद्धान्त पहले ही

शब्द द्वारा न बतला कर उनसे सम्बन्ध रखनेवाली चीज़ें दिखला कर धीरे धीरे उन्हें बतलाने की जो रीति अब चल पड़ी है वह भी इस बात का उदाहरण है। और, इन सबसे बढ़ कर उदाहरण मनुष्यो के मन की वह प्रवृत्ति है जिसके वशीभूत होकर वे जुदा जुदा तरीक़ों से सब विषयों को इस तरह सिखलाते है जिसमे उनके सीखने में बच्चो का मन लगे और आराम से वे सब बातें सीख लें। इन सब बातों का विचार करने से हमारे निश्चित किये हुए सिद्धान्त की सत्यता के विषय मे किसी को भी सन्देह न होगा। प्रकृति का यह नियम है कि आवश्यक काम करने से प्राणियों को जो एक प्रकार का आनन्द होता है—एक प्रकार का समाधान मिलता है—उसीके ख़याल से सब प्राणी वह काम करने के लिए उत्साहित होते हैं। बच्चों का भी यही हाल है। उनके भी काम इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार होते हैं। बचपन मे लड़के जब प्राकृतिक नियमों से उत्साहित होकर सब बातें आपही आप सीखने की कोशिश करते हैं तब मनकों या मूँगो को दांत से काटने और खिलौनों को तोड़ कर टुकड़े टुकड़े करने में उन्हें मज़ा आता है। इसीसे वे ऐसा करते हैं और इसीसे पदार्थों के गुण-धर्म्म का ज्ञान उन्हें सहजही हो जाता है। प्रकृति उन्हें सिखलाती है कि खिलौनों और मनकों को तोड़ फोड़ कर तुम पदार्थों के गुण-धर्म्म का ज्ञान प्राप्त करो। इससे यह साफ़ मालूम होता है कि इस समय सब लोग जो बच्चो के सीखने के विषय और उनके सिखलाने की रीति को यथासम्भव मनोरञ्जक बनाने का प्रयत्न करते हैं वह प्रकृति या परमेश्वर के उद्देश और जीवनशास्त्र के नियमों का अनुसरण मात्र है। और कुछ नहीं।

१२—शिक्षा का क्रम और तरीक़ा मानसिक शक्तियों की वृद्धि के अनुसार होना चाहिए।

अब हम उस राजमार्ग पर आ गये है जिस पर चलकर हम पिस्टालोजी के निकाले हुए सिद्धान्त तक पहुँच सकते है। स्विटज़रलैंड में इस नाम का एक विद्वान् हो गया है। उसने शिक्षा का जो एक नया तरीक़ा निकाला है उसे निकले बहुत दिन हुए। उसका मत है कि शिक्षा का क्रम और तरीक़ा, दोनों बातें, उसी हिसाब से होनी चाहिए जिस हिसाब से मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ बढ़ती है। मन से सम्बन्ध रखनेवाली

शक्तियों की बढ़ती प्राकृतिक विषयों के अनुसार होती है । जो कुछ सुधार उनमें होता है सब नियमानुसार होता है। जिस समय उनकी बाढ़ के दिन होते हैं उस समय प्रत्येक शक्ति के लिए एक विशेष प्रकार के ज्ञान की—एक विशेष प्रकार की शिक्षा की—जरूरत होती है। अतएव जिन नियमों के अनुसार मानसिक शक्तियाँ सुधरती हैं और जिस तरह की शिक्षा उन्हें दरकार होती है उसका पता लगाना हमारा काम है । इसी सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा देने की तरफ़ आजकल लोगो के मन का झुकाव हो रहा है । शिक्षा-सम्बन्धी जिन सुधारो का वर्णन ऊपर किया गया वे इस व्यापक सिद्धान्त के कुछ अंश के अनुसार व्यवहार किये जानेही का फल है। अध्यापको को अब इस सिद्धान्त का ज्ञान हो चला है; और शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों में इस पर प्रति दिन अधिक जोर भी दिया जाने लगा है। एम० मार्सेल साहब का मत है कि—'सृष्टि का क्रम शिक्षा के क्रमों का बीज है। जितने तरीक़े हैं सबका असली नमूना सृष्टि, अर्थात् प्रकृति, का तरीका है"। वाइज साहब कहते हैं—"बच्चो को आपही आप ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बना देनाही शिक्षा का सबसे अच्छा तरीक़ा है। सर्वोत्तम रीति वही है जिससे बच्चे इस लायक हो जायँ कि वे खुदही अपने आप को ठीक ठीक शिक्षा दे सकें"। वैज्ञानिक विषयों के अभ्यास से जैसे जैसे हमें पदार्थों के गुण-धर्म्म और उनकी घटना और स्थिति आदि का ज्ञान होता जाता है वैसेही वैसे उनकी स्वायत्तता, प्राकृतिक सत्ता, अथवा ख़िलक़ी कमाल, आपही आप हमें दिखाई देता जाता है। वैज्ञानिक विषयों का विशेष अभ्यास करने से अब हम इस बात को समझने लगे हैं कि प्राणियों का जीवन-क्रम जैसा चल रहा है वैसाही चलने देना चाहिए। उसका प्रतिबन्ध करना, या उसमें किसी तरह का विघ्न डालना, अच्छा नहीं। आज कल जिस तरह बीमारों की चिकित्सा होती है उसीको देखिए। अब पहले की तरह आसुरी उपचार नहीं किये जाते। अब उनके बदले सौम्य रीति की चिकित्सा की जाती है। दवा-पानी में कठोरता का बर्ताव अब नहीं होता। यहाँ तक कि बहुधा दवा-पानी की जरूरतही नहीं समझी जाती। बीमार को पथ्यपूर्वक रखनाही लोग बस समझते हैं और खानेपीने का विचार रखने से बहुधा दवा देने की जरूरत पड़तीभी नहीं। यह जीवन-क्रम में विघ्न न डालनेही का फल है। अब हम लोगों को यह बात मालूम हो गई है कि जिस तरह उत्तरी अमेरिका के दुधपिये बच्चों के अंग पट्टियों

बाँध बाँध कर सुडौल किये जाते हैं उस तरह हमें अपने बच्चों को एक विशेष प्रकार के आकार का बनाने के लिए उनके बदन पर पट्टियाँ बाँधने या और किसी तरह साँचे में ढालने की ज़रूरत नहीं है। अब हमें यह बात भी मालूम हो गई है कि जेलख़ानो में क़ैदियों का सुधार करने के लिए बुद्धिमानी से भरी हुई चाहे जितनी तरकीबें निकाली जायँ, पर वे उतनी कारगर नहीं होतीं जितनी कि अपनी उदर-पूर्ति के लिए ख़ुद अपने हाथ से मेहनत करने की स्वाभाविक तरकीब कारगर होती है। शिक्षा का भी यही हाल है। उसके सम्बन्ध मे भी अब हमे इस बात का तजरिबा हो रहा है कि बुद्धि के विकास के साथ ही साथ यदि उसके अनुरूप शिक्षा दी जायगी तभी वह फलदायक होगी। मनुष्य मात्र की बुद्धि, उम्र के हिसाब से विकास पाया करती है—उसकी वृद्धि हुआ करती है। अतएव इस बुद्धि-विकास को ध्यान में रख कर जिस तरह की शिक्षा समयानुकूल हो उसी तरह की शिक्षा यदि दी जायगी तभी उससे यथेष्ट लाभ होगा। अन्यथा नहीं।

१३—इस सिद्धान्त के अनुसार मदरसों में थोड़ी बहुत शिक्षा दी भी जाती है। यह सिद्धान्त बिलकुल ही त्याज्य नहीं माना गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त निर्विवाद है। इस सिद्धान्त का सारांश यह है कि जैसे जैसे बच्चों की बुद्धि बढ़ती जाय और शिक्षा-ग्रहण करने में उनकी मानसिक शक्तियों का सामर्थ्य जैसे जैसे अधिक होता जाय वैसे ही वैसे उनकी ग्रहण-शक्ति और बुद्धि-विकास के अनुसार उन्हें यथाक्रम शिक्षणीय विषय सिखलाये जायँ। बच्चों की शिक्षा मे विषयों की योजना और उनके सिखाने की तरकीब, इन दोनो बातों का विचार रखना मुनासिब है। यह सिद्धान्त इतना स्पष्ट है कि इसके विषय में और कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं। एक बार बतला देने ही से यह स्वयंसिद्ध सा मालूम होता है। हम यह नहीं कह सकते कि इस सिद्धान्त की आज तक लोगो ने बराबर अवहेलना ही की है। नहीं, इसका समूल तिरस्कार कभी नहीं हुआ। इसके अनुसार शिक्षा दी भी जाती है। अध्यापक लोग तो विवश होकर इस सिद्धान्त के अनुसार थोड़ी बहुत शिक्षा मदरसों में

देते ही आये हैं। क्योंकि बिना ऐसा किये उनका काम ही न चल सकता। यदि वे इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा न देते तो उन्हें शायद शिक्षा ही बन्द कर देनी पड़ती। ऐसा कभी नहीं हुआ कि जोड़ सीखे बिना लड़कों को त्रैराशिक सिखलाया गया हो। ऐसा भी कभी नहीं हुआ कि कापियों पर बड़े अक्षर लिखने की मश्क़ हुए बिना बच्चों से छोटे अक्षर लिखने का अभ्यास कराया गया हो। शंकुच्छेदविद्या सिखलाने से पहले हमेशा रेखा-गणित की शिक्षा दी गई है। परन्तु पुरानी शिक्षा-पद्धति में एक दोष यह था कि जिन तत्त्वों को लोग सामान्य रीति पर मानते थे उनको वे छोटे मोटे सब विषयों में न मानते थे। अर्थात् वे उन्हें सामान्य रीति पर तो मानते थे; पर विशेष विशेष बातों में न मानते थे। परन्तु यथार्थ बात यह है कि शिक्षा के ये पूर्वोक्त तत्त्व सब कहीं बराबर नियामक हैं। सब कहीं उनकी एकसी सत्ता है। जबसे बच्चा दो चीजो के स्थिति विषयक परस्पर सम्बन्ध को जानने लगता है, अर्थात् उनके पास या दूर होने आदि के सम्बन्ध का ज्ञान उसे हो जाता है, तबसे यदि इस बात को अच्छी तरह समझने में कि पृथ्वी जल और थल के मेल से बना हुआ एक गोला है, उस पर अनेक पहाड़, जंगल, नदियाँ और शहर हैं, और वह अपनी धुरी पर घूमती हुई सूर्य्य की भी प्रदक्षिणा करती है, कई वर्ष लग जाते हैं, यदि वह एक कल्पना के बाद दूसरी कल्पना तक क्रम क्रम से धीरे धीरे पहुँचता है, और यदि बीच की कल्पनायें, जिनका ज्ञान वह प्राप्त करता है, उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और अधिक पेचीदा होती हैं, तो क्या इससे यह बात साफ़ जाहिर नहीं होती कि बच्चे को जो विषय सीखने हैं उन्हें उसे यथाक्रम सीखना चाहिए? अर्थात् जिस विषय को जिस क्रम से उसे सीखना मुनासिब हो उसी क्रम से उसे सीखना चाहिए। हर एक बड़ी बात—हर एक व्यापक बात—बहुत ही छोटी छोटी बातों के मेल से बनती है। अतएव क्या किसी को इसके बतलाने की जरूरत है कि इन बहुत सी विशेष विशेष बातों को समझे बिना कोई भी व्यापक बात समझ में नहीं आ सकती? व्यापक बातों के अन्तर्गत जो विशेष विशेष बातें होती हैं उनका ज्ञान हुए बिना बच्चे को बड़ी बड़ी बातें सिखलाना क्या एक बहुतही बेहूदा रीति नहीं है? इस रीति के अनुसार बच्चो को शिक्षा देना मानों ज़ीने की पहली सीढ़ी पर पैर न रखकर एक दम उन्हें ऊपर की सीढ़ी पर चढ़ा देने की कोशिश करना है; अथवा विचारशृङ्खला के पहले विचार को

न सिखलाकर एक दम अन्त के विचार को सिखलाना है। हर विषय का अभ्यास करने में यथाक्रम अधिक अधिक पेचीदा बातों का सामना करना पड़ता है। जैसे जैसे किसी विषय में प्रवेश होता जाता है वैसेही वैसे उसकी कठिनता भी बढ़ती जाती है। अर्थात् उसके सरल अंश से पहले काम पड़ता है और कठिन से पीछे। यह कठिनता क्रम क्रम से विशेष होती जाती है। इन सब अंशो को सीखने के लिए जिन मानसिक शक्तियों की जरूरत होती हैं उनकी तरक़्क़ी तभी हो सकती है जब ये सब अंश अच्छी तरह समझ मे आ जायँ—जब ये सब बातें पूरे तौर पर ध्यान में चढ़ जायँ। इस बात का होना तभी सम्भव है जब ये बातें अपने मूल-क्रम से सिखलाई जायँगी। प्राकृतिक रीति से जो बात जिस नियम से और जिस क्रम से होती है शिक्षा मे उसीका अनुसरण करने से कामयाबी होगी, अन्यथा नहीं। यदि इस क्रम की परवा न की जायगी तो फल यह होगा कि शिक्षणीय विषय के सीखने मे मन न लगेगा और उससे घृणा हो जायगी। इस तरह की क्रमहीन शिक्षा से जो हानि होती है उसे भविष्यत् में ख़ुदही पूरा करने के लिए यदि विद्यार्थी मे यथेच्छ बुद्धि और सामर्थ्य नहीं है तो बेमन सीखी हुई बातें निर्जीव की तरह उसके दिमाग़ में भरी रह जायँगी और उनका शायदही कभी कोई उपयोग होगा। अर्थात् इस तरह शिक्षा प्राप्त करना न करने के बराबर है।

१४—जिन नियमों के अनुसार वनस्पतियों और प्राणियों का शरीर-पोषण होता है उन्हीं के अनुसार मनुष्यों का मानसिक पोषण भी होना चाहिए।

परन्तु यहाँ पर यह बात पूछी जा सकती है कि—"किसी विशेष प्रकार की शिक्षा-पद्धति निश्चित करने के लिए इतना कष्ट उठाने की ज़रूरतही क्या है? यदि यह बात सच है कि शरीर की तरह मन की भी उन्नति ऐसे नियमों के अनुसार होती है जो पहलेही से निश्चित हो चुके हैं; यदि वह आपही आप परिपक्व अवस्था को पहुँच जाता है; जिन विशेष विशेष बातों के सीखने से मन का पोषण होता है उन्हें यथासमय सीखने

के लिए यदि उसे आपही आप इच्छा होती है, और यदि मन में ही एक ऐसी शक्ति विद्यमान है जो आपहीं आप यह बतला देती है कि किस समय कौनसी शिक्षा दरकार है—तो फिर लड़कों की शिक्षा में हस्तक्षेप करने की जरूरत ही क्या है? बच्चो को शिक्षा देने के विषय में दस्तंदाज़ी करने की आवश्यकता ही क्या है? क्यो न बच्चे बिलकुलही प्रकृति के भरोसे छोड़ दिये जायँ? क्यों न उनका विद्याभ्यास सृष्टिक्रमही के अनुसार हो? क्यो न हम लोग इस विषय में चुपचाप रहें और जिस तरह शिक्षा प्राप्त करना लड़कों को अच्छा लगे उसी तरह ख़ुदही उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें अनुमति दे दें? क्यो न सब बातों में हम एकसा बर्ताव करें"? यह प्रश्न बहुतही बेढंगा है। इसमें सत्य की अपेक्षा सत्याभासही की मात्रा अधिक है। हमने यहाँ तक इस विषय का जो प्रतिपादन किया उसका मतलब प्रश्नकर्ता ने, जान पड़ता है, यही समझ रक्खा है कि बच्चों की शिक्षा का क्रम बिलकुलही खुला हुआ छोड दिया जाय; उसमें किसी तरह का प्रतिबन्धही न रहे। यदि यह बात ऐसीही हो तो मानो यह सिद्ध होगया कि हमने स्वयं अपनीही तर्कना-प्रणाली से हार खाई। परन्तु सच तो यह है जो कुछ हमने लिखा है वह यदि अच्छी तरह समझ लिया जाय तो ऐसी निर्मूल शङ्काओ का उत्थान करने की जगहही न रह जाय। हमारे प्रतिपादन मे इस तरह की गड़बड़ होने की ज़रा भी सम्भावना नहीं। प्राकृतिक पदार्थों पर एक दृष्टि डालनेही से हमारे कहने की सचाई साफ़ मालूम हो जायगी। प्राणियों और वनस्पतियों से सम्बन्ध रखनेवाला साधारण नियम यह है कि उनकी भीतरी शारीरिक रचना जितनीही अधिक पेचीदा होती है उतनीही अधिक अवधि तक उन्हें अपने पोषण और रक्षण के लिए अपने जन्मस्थान, अर्थात् माँ-बाप, पर अवलम्बित रहना पड़ता है। जिन वनस्पतियों में फूल नहीं होते उनमें एक प्रकार के छोटे छोटे दाने होते है। वे स्पोर कहलाते हैं। महीन रेशेदार ऐसे वनस्पतियों के छोटे छोटे दाने बीज का काम देते हैं। ये बीज बहुत जल्द तैयार होते हैं और आपही आप नीचे गिर कर अपनी जाति के दूसरे वनस्पतियों को पैदा करते हैं। इनको आपही आप गति प्राप्त हो जाती है। अब जिन पेड़ों में फूल होते हैं उनको देखिए और इस बात का विचार कीजिए कि उनके फूलो से पैदा होनेवाले बीजों की क्या दशा होती है। उनके बीज धीरे धीरे बढ़ते हैं। वे फूलो के अनेक आच्छादनों के भीतर बन्द रहते हैं। अंकुर

निकलने के बाद उनकी वर्द्धमान अवस्था में उनके पोषण के लिए अनेक प्रकार की सामग्री दरकार होती है। इन दोनों प्रकार के बीजों मे जो अन्तर होता है उसका विचार करने से यह बात साबित होती है कि हमारे बतलाये हुए नियम का उदाहरण वनस्पतियों मे बहुतही अच्छी तरह से पाया जाता है। प्राणियों में तो इस बात के न्यूनाधिक उदाहरण अत्यन्त सूक्ष्म जीव-जन्तुओं से लगाकर मनुष्यों तक मे पाये जाते हैं। मॉनेर नाम के अत्यन्त सूक्ष्म कीड़ों को देखिए। उनके आपही आप दो टुकड़े हो जाते हैं। पर अलग हो जाने पर भी उनके प्रत्येक टुकड़े में वही सब बातें होती हैं जो पूरे कीड़े में होती हैं। पूरे और आधे कीड़े के सामर्थ्य में कुछ भी अन्तर नहीं होता। प्राणियों मे जो सामर्थ्य होना चाहिए वही इन कीडों के अकेले एक टुकड़े में भी होता है। अब मनुष्य को देखिए। उसके शिशु को ९ महीने तक गर्भवास करना पड़ता है और पैदा होने पर पोषण के लिए बहुत दिन तक माँ के दूध पर निर्वाह करना पड़ता है। इसके बाद उसे धीरे धीरे अन्न खिला कर उसकी जीवनरक्षा की जाती है। जब वह कुछ बड़ा होता है और ख़ुद खाने-पीने लगता है तब भी उसके लिए भोजन, वस्त्र और रक्षा का प्रबन्ध करना पड़ता है। पैदा होने के बाद पन्द्रह बीस वर्ष तक पूरे तौर पर अपना निर्वाह आप कर लेने का सामर्थ्य उसमें नहीं आता। तब तक उसके वस्त्राच्छादन आदि का प्रबन्ध औरों को करना पड़ता है। यह नियम मन के लिए भी वैसाही कारगर होना चाहिए जैसा कि शरीर के लिए है। जितने ऊँचे दरजे के प्राणी हैं—विशेष करके मनुष्य—उनको, मानसिक पोषण के लिए, लड़कपन में अपने से बड़ों की मदद जरूर दरकार होती है। शुरू शुरू में उन्हें अपनी मदद के लिए दूसरोंही का मुँह ताकना पड़ता है। बच्चे के शरीर में इधर उधर घूमने फिरने की शक्ति न होने के कारण, अपना पेट पालने के लिए, भोजन की सामग्री प्राप्त करने की शक्ति जिस तरह उसमें नहीं होती प्रायः उसी तरह अपनी मानसिक शक्तियों की सञ्चालना के लिए उचित साधन प्राप्त करने की शक्ति भी उसमें नहीं होती। जिस तरह वह अपनी जीवन-रक्षा के लिए भोजन नहीं तैयार कर सकता ठीक उसी तरह जानने लायक़ बहुत से विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें वह उचित आकार में नहीं ला सकता। अर्थात् सैकड़ों तरह की जुदा जुदा बातों के जानने की रीति नहीं मालूम कर सकता। जिस भाषा की सहायता से सारी बड़ी बड़ी बातों का ज्ञान प्राप्त

किया जाता है उसका सर्वांश वह अपने पास के आदमियों से सीखता है। माँ-बाप और दाई इत्यादि से मदद न मिलने से बच्चो की बुद्धि जरूर कुण्ठित होती है—ज़रूर उसकी बाढ़ मारी जाती है। फ़्रांस के आवेरन प्रान्त के जंगली लड़कों मे इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण मैाजूद है। (हिन्दुस्तान में कोल, भील, गोंड और सांताल आदि जंगली आदमियों के लड़कों की बुद्धि का भी यही हाल है) अतएव जो बातें प्रति दिन बच्चो को सिखलाई जायँ वे उनके योग्य होनी चाहिए और योग्य रीति से ही सिखलाई जानी चाहिए। और यह भी जरूरी है कि बहुत सी बातें एकदमही न सिखला कर थोड़ी थोड़ी सिखलाई जायँ। जो समय जैसी बातों के सिखलाने के लिए मुनासिब हो उसी समय उनकी शिक्षा हो और योग्य समय, योग्य रीति और योग्य अवकाश का हमेशा ख़याल रहे। उचित उपायों की योजना से जिस तरह बच्चो के शरीर का सुधार किया जाता है उसी तरह यथेष्ट उद्योग करने से उनके मन का भी सुधार हो सकता है। शरीर और मन दोनो के सम्बन्ध में यह देखना माँ-बाप का कर्त्तव्य है कि उनकी बाढ के लिए जो बातें दरकार हैं वे हैं या नहीं। जिस तरह भोजन, वस्त्र और रहने के लिए घर देने में माँ-बाप अपने कर्तव्य को इस तरह पूरा कर सकते हैं कि शरीर के अवयवो और अंतड़ियों की यथाक्रम और यथारीति आपही आप बाढ़ होने में कोई विघ्न न आवे, उसी तरह नक़ल के लिए ध्वनि, देख-भाल के लिए पदार्थ, पढ़ने के लिए किताबें, और हल करने के लिए प्रश्न या हिसाब भी देकर वे अपना कर्तव्य-पालन कर सकते हैं। मन की शक्तियों का जिस स्वाभाविक रीति से उत्कर्ष होता है उसमें इस तरह के व्यवहार से कोई भी बाधा नहीं आ सकती, उलटा उससे यह काम और अधिक सुलभ हो जाता है। हाँ, एक बात यह जरूर है कि इस विषय में माँ-बाप को बच्चों पर किसी तरह की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सख़्ती न करना चाहिए। किसी किसी का ख़याल है कि हमारे मत के अनुसार काम करना मानो बच्चो को शिक्षा देने से हाथ धो बैठना है। परन्तु यह उनकी भूल है। जो कुछ यहाँ तक लिखा गया है उससे सिद्ध है कि हमारे मत के अनुसार शिक्षा-पद्धति जारी करने से विशेष विस्तृत और उपयोगी शिक्षा के लिए काफ़ी जगह बाक़ी रहेगी।

१५—पेस्टलोज़ी की शिक्षा-पद्धति में सफलता न होने का कारण योग्य शिक्षकों का अभाव है।

यहाँ तक हमने केवल व्यापक बातों ही का विचार किया। अब हम थोड़ी सी विशेष विशेष बातों का भी विचार करना चाहते हैं। पेस्टलोज़ी की निकाली हुई शिक्षा-पद्धति से जितना लाभ सोचा गया था उतना नहीं हुआ। उसके ख़याली मनसूबे के हिसाब से बहुत कुछ लाभ होना चाहिए था। पर व्यवहार दृष्टि से उसका होना हम नहीं स्वीकार कर सकते। हम सुनते हैं कि उसकी शिक्षा-पद्धति के अनुसार लड़कों को पढ़ाने से पाठ याद करने में उनका मन बिलकुल ही नहीं लगता; उलटा उससे उनकी तबीयत हट जाती है। अथवा यों कहिए कि पढ़ने से उन्हें घृणा हो जाती है। और, जहाँ तक पता लगा है हम कह सकते हैं कि पेस्टलोज़ी की पद्धति के अनुसार जिन मदरसों मे शिक्षा दी जाती है उनमें तैयार हुए नामी विद्वानों की संख्या और मदरसों में तैयार हुए विद्वानों की संख्या से कुछ अधिक भी नहीं है। हमें तो सन्देह है कि इस बात में ये मदरसे दूसरे मदरसों की बराबरी भी शायद न कर सके हों। पर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। हर एक युक्ति की कामयाबी, उसे सुविचार-पूर्वक बुद्धिमानी से प्रयोग करने ही पर बहुत करके अवलम्बित रहती है। एक पुरानी कहावत है कि अनाड़ी कारीगर अच्छे से अच्छे औज़ारो से भी काम ख़राब कर डालता है। इसी तरह अनाड़ी अध्यापक उत्तम से भी उत्तम शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षा देकर कामयाब नहीं होता। उसकी दी हुई शिक्षा में दोष रहही जाते हैं। सच बात तो यह है कि ऐसी दशा मे शिक्षा-पद्धति का उत्तम होना ही अध्यापकों की नाकामयाबी का कारण होता है। जिस तरह पूर्वोक्त दृष्टान्त मे औज़ारों की उत्तमताही काम बिगड़ने का कारण होती है, उसी तरह शिक्षा-पद्धति की उत्तमता भी, अनाड़ी अध्यापकों के योग से, शिक्षा के बिगड़ने का कारण होती है। शिक्षा-पद्धति सीधी सादी, अपरिवर्तनीय और प्रायः कल की तरह बराबर एकसी चलनेवाली होने से बहुत ही साधारण विद्या-बुद्धि का आदमी भी उसका उपयोग कर सकेगा और उससे थोड़ा-बहुत लाभ जो

हो सकता होगा वह भी होगा। परन्तु जो शिक्षा-पद्धति सब तरह से परि-पूर्ण है, जिसमें कोई कमी नहीं है, जिसमें जुदा जुदा तरह की मानसिक शक्तियों के ख़याल से जुदा जुदा तरह के शिक्षण की योजना की गई है; और जिसमें हर एक उद्देश की सिद्धि के लिए नई नई तरकीबें निकाली गई हैं—उसका उचित रीति से उपयोग करने के लिए जैसी योग्यता दरकार होती है वैसी बहुत कम अध्यापकों में पाई जाती है। लड़कियों के मदरसों की अध्यापिका हिज्जो के पाठ (या शब्दों के शुद्ध उच्चारण) सुन सकती है और कोई भी देहाती मुदर्रिस या मानीटर पहाड़े पढ़ाने की क़वा-यद लड़कों से करा सकता है। परन्तु अक्षरों के नाम न बतलाकर उनके उच्चारण से उन्हें शुद्ध शुद्ध लिखना सिखलाना और अंकों का जोड़ इत्यादि तख़्ती पर न लिखा कर उनके योग-वियोग आदि का फल प्रत्यक्ष तजरिबे से बतलाना बुद्धिमानी का काम है। यह काम सब अध्यापकों से नहीं हो सकता। अतएव सब विषयों को, आदि से लेकर अन्त तक, इसी तरकीब से सिखलाने के लिए अध्यापक में सारासार-विचार-शक्ति, नई नई बातों की कल्पना-शक्ति, विद्यार्थियों के मनोभाव जानने की शक्ति, उनके मानसिक विचारों के साथ सहानुभूति और सब बातों को अच्छी तरह हृदयङ्गम करा देने की योग्यता का होना बहुत ज़रूरी है। परन्तु जब तक अध्यापकी काम का आदर न होगा—जब तक मुदर्रिसी पेशे की, आज कल की अपेक्षा, अधिक क़दर न होगी—तब तक अध्यापकों में इन गुणों के आने की आशा रखना व्यर्थ है। सच्ची शिक्षा का मिलना सच्चे विद्वान् ही से सम्भव है। जो सच्चा शास्त्रवेत्ता है—जो सच्चा विज्ञान-विशारद है—वही सच्ची शिक्षा दे सकेगा। अब आपही इस का फ़ैसला कीजिए कि कार्य्य-कारण भाव को ध्यान में रख कर निकाली गई इस नई शास्त्र-सम्मत शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षा देने में इस समय कहाँ तक कामयाबी हो सकती है। मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान का इस समय तक लोगों को बहुत कम ज्ञान है और अध्यापक लोग तो उस बहुत कम ज्ञान से भी सर्वथा अनभिज्ञ हैं। उनको तो इस शास्त्र का गन्ध तक नहीं है। फिर भला जिस शिक्षा-पद्धति का आधार यह शास्त्र है उसके अनुसार शिक्षा देने में कामयाबी की कैसे उम्मीद हो सकती है।

१६——पेस्टलोज़ी के सिद्धान्तों में भूल नहीं; भूल है उन सिद्धान्तों के व्यवहार की रीति में।

इस शिक्षा-पद्धति के प्रचार मे जो प्रतिबन्धकता और निराशा हुई है उसका एक कारण यह भी है कि लोगों ने पेस्टलोज़ी के असल सिद्धान्तों को उसके नाम से बिकनेवाली सारी शिक्षा-पद्धतियों के साथ गड्डमड्ड कर दिया है। उन्होने यह समझ लिया है कि जो शिक्षा-पद्धतियाँ पेस्टलोजी के नाम से प्रसिद्ध हैं वे ठीक उसी के सिद्धान्तों के अनुसार हैं। इस नये तरीक़े से शिक्षा देने की जो दो चार कोशिशें हुईं हैं—जो दो चार विशेष विशेष तदबीरें की गई हैं—उनसे आशानुरूप फल न हुआ देख लोगो ने यह समझ लिया कि जिस शिक्षा-पद्धति के नाम से यह तरीका प्रचलित किया गया था वह पद्धति ही दोषपूर्ण है। किसी ने इस बात की खोज न की कि मूल शिक्षा-पद्धति से यह तरीक़ा मिलता भी है या नहीं। लोगों की आदत ही प्रायः ऐसी होती है कि वे मूल सिद्धान्त का विचार न करके उसकी एक आध शाखा ही को देख कर राय क़ायम कर डालते हैं। यही उन्होने यहाँ भी किया। बाहरी व्यावहारिक बातों मे दोष देखते ही उन्होने मूल सिद्धान्तोहीं को दोषी ठहरा डाला। भाफ़ से चलनेवाला यञ्जिन बनाने में प्रयत्न निष्फल होने पर यदि यह अनुमान किया जाता कि भाफ़ के ज़ोर से यञ्जिन चलेहीगा नहीं, या यांत्रिक कामों में भाफ़ की शक्ति का उपयोग होवेहीगा नहीं, तो यह अनुमान कहाँ तक सयौक्तिक माना जाता? इस नवीन शिक्षा-पद्धति से सम्बन्ध रखनेवाला लोगो का अनुमान भी ठीक वैसाही है। यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि पेस्टलोज़ी के मूल सिद्धान्त निर्भ्रान्त हैं; उनमें कोई भूल नहीं है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि उनकी योजना भी निर्भ्रान्त है। सिद्धान्तो का सही होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उन सबके व्यावहारिक प्रयोग का तरीक़ा भी सही है। पेस्टलोजी के चाटुकार और प्रशंसक मित्रो ने भी यह बात स्वीकार की है कि वह एकपक्षीय विद्वान् था—कभी कभी प्रसंगविशेष उपस्थित होने पर उसे आन्तरिक स्फूर्ति होती थी और उस स्फूर्ति से उत्तेजित होने पर उसे वैज्ञानिक कल्पनायें सूझती थीं। उसकी विचार-परम्परा नियमानुसारिणी न होती थी। सब बातों का अच्छी तरह मनन करके वह अपने विचार यथा-

नियम न प्रकट कर सकता था। स्तान्ज़ नामक नगर मे उसे पहले पहल नाम लेने योग्य कामयाबी हुई। यही उसकी पहली बड़ी कामयाबी है। उस समय उसके पास न तो कोई किताबें थीं और न साधारण रीति से शिक्षा देने का और ही कोई सामान था। कहते है कि—"उस समय उसका ध्यान सिर्फ़ इस बात के जानने की ओर था कि बच्चो को हर घड़ी किस तरह की शिक्षा मिलनी चाहिए, और जिस शिक्षा को बच्चों ने पहले ही प्राप्त कर लिया है उसका नई शिक्षा से मेल मिलाने की सबसे अच्छी तरकीब कौन सी है"। बच्चो से वह बहुत अधिक सहानुभूति रखता था। उनके साथ उसकी बहुत गहरी हमदर्दी थी। उनके कल्याण की उसे इतनी चिन्ता रहती थी कि, किस बात की उन्हें ज़रूरत है और किस बात की कठिनता उन्हें खलती है, यह उसे तत्काल ही मालूम हो जाता था। शिक्षा-पद्धति से सम्बन्ध रखनेवाली उसकी शक्ति विशेष करके इसी सहानुभूति से उत्पन्न हुई थी। शान्तिपूर्वक विचार करके शिक्षा देने की कोई नई रीति उसने नहीं निकाली। समय समय पर तजरिबे से जो बाते उसे मालूम हो जाती थी उनका उचित रीति से मेल मिला कर उनकी उन्नति करने की योग्यता उसमे न थी। इससे यह काम उसे अपने सहायक क्रुयेज़ी, टाब्लर, बस, नीडरर और स्मिड को सौंपना पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी और उसके शिष्यों की निकाली हुई युक्तियो का ठीक ठीक मेल न मिलने से उनमें बहुत तरह की कमी रह गई। यही नहीं, किन्तु परस्पर बहुत कुछ असङ्गति भी रह गई। उसने "मदर्स मैन्युअल" नाम की एक किताब बनाई है। माँ के द्वारा छोटे छोटे बच्चों को शिक्षा देने की विधि उसमें है। उसके आरम्भ में शरीर के जुदा जुदा अङ्गो के नाम हैं। उसके बाद यह बतलाया गया है कि कौन अवयव किसके पास है। फिर उनके परस्पर सम्बन्ध का वर्णन है। यह क्रम उस क्रम के अनुसार नहीं है जिसके अनुसार बचपन में लड़कों की मानसिक शक्तियाँ वृद्धि पाती हैं। यह बात अच्छी तरह साबित की जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं। वाक्यो में आये हुए शब्दो का अर्थ यथा-नियम याद कराकर मातृभाषा सिखलाने का जो तरीका उसने निकाला है उसकी कोई ज़रूरत न थी। ऐसा करने से विद्यार्थियों का समय और श्रम व्यर्थ जाते हैं और उनका उत्साह भी भङ्ग हो जाता है। इस तरह मातृ-भाषा सीखने में उन्हें कुछ भी मज़ा नहीं आता। भूगोल-विद्या से सम्बन्ध

रखनेवाले जिस तरह के पाठ पढ़ाने की वह सिफ़ारिश करता है वे उसके सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल हैं। दोनों में ज़रा भी मेल नहीं। और, बहुधा यह बात भी देखी जाती है कि जहाँ कहीं उसके मनसूवे ठीक भी हैं—उसकी युक्तियाँ निर्भ्रान्त भी हैं—वहाँ या तो उनमे किसी न किसी तरह की कमी है या वे इसलिए सदोष हैं कि उनमें पुरानी शिक्षा-पद्धति का थोड़ा बहुत अंश मिल गया है। अतएव पेस्टलोजी के द्वारा निश्चित किये गये शिक्षा के मूल सिद्धान्तो को यद्यपि हम निर्दोष समझते हैं, और यद्यपि हम सर्वथा उनके पक्ष में हैं, तथापि हम यह भी कहते हैं कि विशेष विशेष बातें के सम्बन्ध मे उसके विशेष विशेष तरीक़ो के अनुसार, बिना उन पर अच्छी तरह विचार किये, शिक्षा देने मे बहुत बड़े अनर्थ की सम्भावना है। मनुष्यो की स्वाभाविक प्रवृत्ति कुछ ऐसी है कि यदि बहुत बड़े महत्त्व की कोई बात परम्परा से उन्हें प्राप्त होती है तो उससे सम्बन्ध रखनेवाली सारी रीति-रस्में वे बहुत करके शिरसा वद्य समझते हैं। वे बहुधा अपनी समझ-बूझ और विद्या-बुद्धि को एक आध सिद्ध, साधु या महात्मा के चरणों पर फूल की तरह चढ़ा देते है और जो कुछ उसके मुँह से निकलता है उसके एक एक शब्द को वेदवाक्य समझ लेते हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि तत्त्व बात की तो वे परवा नहीं करते, पर उसके बाहरी आडम्बरही को सब कुछ समझ कर उसी के पीछे पागल हो जाते हैं। इस कारण इस बात पर ज़ोर देकर बार बार कहने की ज़रूरत है कि पेस्टलोजी के शिक्षा-सम्बन्धी मूल सिद्धान्तो और व्यवहार में उनका प्रयोग करने के लिए निकाली गई तरकीबें मे बहुत बड़ा अन्तर है। उसके सिद्धान्तो को हम अपने मन मे निर्भ्रान्त और निश्चित समझ सकते हैं। परन्तु साथही उसके हमें यह भी समझना चाहिए कि उनको काम में लाने की तरकीबों में उन सिद्धान्तों की थोड़ी सी झलक के सिवा बहुत करके और कुछ भी नहीं है। अपने ज्ञान, अपनी शिक्षा, अपनी विद्या की वर्तमान दशा को देखने से हमें इस बात का पक्का विश्वास हो जायगा कि हमारी शिक्षा की दशा सचमुचही ऐसी है। यदि हमारी यह इच्छा हो कि जिस क्रम और जिस रीति से मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं उसी क्रम और उसी रीति के अनुसार शिक्षा-प्रणाली का रूप और उसकी व्यवस्था हो तो इस बात के अच्छी तरह जानने की सबसे पहले जरूरत है कि मानसिक शक्तियाँ किस तरह बढ़ती हैं, अर्थात् उनका विकास किस तरह होता है—उनकी उन्नति

किस तरह होती है। इस समय तक हम इस विषय में, साधारण तौर पर, केवल कुछही बातें जान सके हैं। अभी तक हम केवल थोड़ीसी अटकल भर लगासके हैं। परन्तु इतने से कुछ भी नहीं हो सकता। अटकल से जानी गई इन साधारण बातों से—इन मामूली ख़यालो से - सम्बन्ध रखनेवाली जितनी विशेष विशेष बातें हैं उन सबका खोज करके उनकी उन्नति करना चाहिए। इनसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी कच्ची बातें हैं उन्हें जान कर तत्सम्बन्धी ज्ञान ख़ूब बढ़ाना चाहिए। इतनाही नहीं, किन्तु प्रसंग पड़ने पर सब विषयों में उपयोगी होने के लिए इन साधारण सिद्धांतो को अनेक प्रकार के जुदा जुदा सिद्धान्तों मे विशेष रूप से बाँटना चाहिए। ऐसा करनेही से यह कहा जा सकेगा कि हम उस विज्ञान को जानते हैं—हम उस शास्त्र का ज्ञान रखते हैं—जिसके आधार पर शिक्षा-मन्दिर की इमारत खड़ी की जानी चाहिए। जब यह बात अच्छी तरह हमारी समझ मे आ जायगी कि किस तरह और किस क्रम से हमारी मानसिक शक्तियाँ विकसित होकर अपना काम ख़ूब उत्साह से करती हैं, तब प्रत्येक शक्ति को काम में लाने की जितनी रीतें मालूम होंगी उनमें से जिस रीति की तरफ़ मन का स्वाभाविक झुकाव सबसे अधिक होगा, उसीके अनुसार शिक्षा में प्रवृत्त होना भर बाक़ी रह जायगा। इससे यह बात स्पष्ट है कि शिक्षा देने की तरकीबो में से जिनको हम सबसे अधिक उन्नत और अच्छी समझते हैं वे भी निर्दोष या प्रायः निर्दोष नहीं हैं।

१७—पेस्टलोज़ी के सिद्धान्तों और उनको आधार मान कर प्रचलित की गई शिक्षा-प्रणाली में अन्तर है।

पेस्टलोज़ी के सिद्धान्तों और उनको आधार मान कर प्रचार में लाई गई शिक्षा की तरकीबों में जो अन्तर है उसे याद रखने, और ऊपर दिये गये कारणों से उन तरकीबो को सर्वथा दोषपूर्ण मान लेने, से पाठकों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह आ जायगी कि पेस्टलोज़ी की शिक्षा-पद्धति के विषय में लोगों ने जो अप्रसन्नता प्रकट की है उसकी क़ीमत कितनी है। इससे यह बात भी उनकी समझ में आ जायगी कि शिक्षा के सम्बन्ध में पेस्टलोज़ी के जो सिद्धान्त हैं उनकी यथार्थ रीति के अनुसार शिक्षा देने

का कहीं प्रयत्न नहीं हुआ। जो कुछ हमने इस विषय मे कहा उस पर शायद कोई यह दलील करे कि पेस्टलोजी की शिक्षा-प्रणाली के अनुसार इस समय शिक्षा देना प्रायः असम्भव सा है। इसलिए इस शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध की सारी कोशिशें शुरू से ही करनी चाहिए। अर्थात् नये सिरे से फिर इन बातों का विचार होना चाहिए। इस पर हमारा यह उत्तर है कि जब तक मनोविज्ञान या मानस-शास्त्र एक नया शास्त्र नहीं बन जाता तब तक किसी ऐसी शिक्षा-प्रणाली को पूर्णता को पहुँचाना यद्यपि असम्भव है—चाहे उसके सिद्धान्तो की पूर्णता के ख़याल से कहिए, चाहे उनकी व्यावहारिक योजना के ख़याल से—तथापि बहुत सम्भव है कि थोड़े से पथ-प्रदर्शक सिद्धांतों की मदद से, या यों कहिए कि अटकल से जाने गये कुछ नियमों को आधार मानने से, तजरिबे के बल पर हम किसी पूर्णता-प्राप्त शिक्षा-पद्धति के पास तक पहुँच जायँ। ऐसा करने से सम्भव है कि हमे कोई ऐसी निर्दोष शिक्षा-पद्धति मालूम हो जाय जिसके सिद्धान्त भी प्रायः निर्दोष हों और काम में लाने के तरीके भी। भविष्यत् में खोज का रास्ता साफ़ रखने के इरादे से हम इस विषय के कुछ नियम यहाँ पर देते हैं। उनमें से कुछ नियमों का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन, इस किताब में, हम पहलेही कर चुके हैं। तथापि यहाँ पर न्यायशास्त्र के अनुसार उनका यथाक्रम उल्लेख अच्छा होगा।

१८—(१) सरल बातें पहले सिखलाकर तब कठिन बातें सिखलाना चाहिए।

शिक्षा के इस नियम के अनुसार कि "सरल विषयों को पहले सिखला कर तब कठिन विषयों को सिखलाना चाहिए," लोग थोड़ा बहुत हमेशा व्यवहार करते आये हैं—इस नियम का थोड़ा बहुत अनुसरण लोग हमेशा से करते आये हैं। हाँ हम यह नहीं कहते कि उन्होने जान बूझ कर इसका अनुसरण किया है। और न हम यही कहते हैं कि जान बूझ कर वे इस नियम के बाहरही गये हैं। मन का विकास होता रहता है; उसे पक्वता प्राप्त होती जाती है। इसमें सन्देह नहीं। अतएव जिन वस्तुओं को जगत् में धीरे धीरे परिपक्वता प्राप्त होती है—जिनकी यथाक्रम वृद्धि होती है—

उन्हीं की तरह मन भी अपनी एकरूपता छोड़ कर बढ़ते बढ़ते भिन्नरूपता को प्राप्त होता है । प्रकृत सच्ची शिक्षा-पद्धति, यथाक्रम होनेवाली इस मानसिक उन्नति की बाहरी प्रतिमा है । इससे उसमें उन्नति का स्वाभाविक क्रम होनाही चाहिए । सच्ची और स्वाभाविक शिक्षा-प्रणाली के सिद्धान्तों का जो तात्पर्य्य हमने बताया उसे वैसा मान लेने से यह बात भी ध्यान में आ जाती है कि पूर्वोक्त नियम बहुत अधिक व्यापक है । उस नियम का आशय यह है कि सरल बातें पहले सिखलाई जायँ, कठिन पीछे । शिक्षा की प्रत्येक शाखा के विषय में ही इस क्रम के अनुसार काररवाई न होनी चाहिए, किन्तु जितना शिक्षा-समूह है—जितना ज्ञान-भाण्डार है—सबके विषय में यही क्रम रखना चाहिए । जितनी शिक्षा दी जाय सब इसी क्रम से दी जाय । जितना विद्योपार्जन किया जाय इसी क्रम से किया जाय । पहले पहल मन की बहुतही कम शक्तियाँ काम में आती हैं । जैसे जैसे वे बढ़ती जाती हैं वैसेही वैसे उनका काम भी बढ़ता जाता है । अर्थात् मानसिक शक्तियाँ, एक के बाद एक, जैसे जैसे उन्नत होकर काम के लायक़ होती हैं वैसेही वैसे मानसिक व्यापार भी बढ़ता जाता है । अन्त में सारी शक्तियाँ उन्नत होकर एकही साथ सब अपना अपना काम करने लगती हैं । इससे यह नतीजा निकलता है कि बच्चो को पहले पहल एकही दो विषयों की शिक्षा देनी चाहिए । उनकी संख्या धीरे धीरे बढ़ा कर अन्त में सब विषयों की शिक्षा का एकही साथ प्रबन्ध करना चाहिए । सिर्फ़ जुदा जुदा विषयों की शिक्षा देनेही में सहल से शुरू करके कठिन तक न पहुँचना चाहिए, किन्तु समग्र शिक्षा-पद्धति में इसी क्रम से काम लेना चाहिए ।

१९—(२) बच्चों को पहले मोटी मोटी अनिश्चित बातें सिखलाकर तब निश्चित और बारीक बातें सिखलानी चाहिएं ।

दूसरे सांसारिक पदार्थों की तरह मानसिक शक्तियाँ भी अव्यक्त से व्यक्त की तरफ़ बढ़ती हैं । अर्थात् अनिश्चित बातों के बाद मनुष्य को निश्चित बातों का ज्ञान होता है । शरीर के दूसरे अवयवों की तरह, वयस्क, अर्थात् बालिग़, होने पर ही मस्तिष्क को परिपक्वता प्राप्त होती है ।

मस्तिष्क की रचना जितनीही अपूर्ण होगी—दिमाग़ की बनावट जितनीही अधूरी होगी—उसके व्यापारों में भी उतनीही अपूर्णता रहेगी। उसी परिमाण में वे अनिश्चित, अव्यक्त या अधूरे रहेंगे। यही कारण है कि बोलने के लिए किया गया बच्चों का पहला यत्न और चलना फिरना जैसे अनिश्चित होता है वैसेही उनके पहले पहल के विचार और ज्ञानाङ्कुर अनिश्चित और अस्पष्ट होते हैं। अनाड़ी आदमी की नज़र में पहले पहल सिर्फ़ अँधेरे और प्रकाश का भेद मालूम होता है। पर अभ्यास करते करते वही नजर ऐसी हो जाती है कि वह जुदा जुदा रंग, उसकी कमी बेशी और सब चीज़ों के आकार भी वह बहुत ठीक ठीक बतला सकता है। बुद्धि का और उसकी भिन्न भिन्न जितनी शाखायें हैं उनका भी, यही हाल है। पहले पहल उन्हें पदार्थों और क्रियाओं के बहुतही मोटे मोटे भेद समझ पड़ते हैं। धीरे धीरे उनकी यहाँ तक उन्नति हो जाती है कि बहुत बारीक भेद तक उन्हें पूरे तौर पर और साफ़ साफ़ समझ पड़ने लगते हैं। हमारी शिक्षा-पद्धति और उसे व्यवहार में लाने के तरीक़े इसी साधारण नियम के अनुसार ज़रूर होने चाहिए। अपरिपक्व मन में पक्व या तुले हुए विचारों का प्रवेश होना सम्भव नहीं, और यदि कदाचित् सम्भव भी हो तोभी उनका प्रवेश होना मुनासिब नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुले हुए परिपक्व विचार, शब्दों के भीतर रखकर, बचपन में लड़कों को सिखलाये जा सकते हैं; और जिन अध्यापकों की आदत इस तरह सिखलाने की पड़ गई है वे समझते हैं कि शब्द ठीक ठीक याद हो जानेही से उनमें भरा हुआ ज्ञान याद करनेवाले को हो जाता है। परन्तु विद्यार्थी से दो चार उलटे पलटे प्रश्न करतेही सच्ची बात बाहर निकल आती है और यह मालूम हो जाता है कि यथार्थ बात बिलकुलही उलटी है। इस तरह के प्रश्नों से या तो यह साबित होता है कि अर्थ का बहुतही थोड़ा ज्ञान अथवा कुछ भी न प्राप्त करके केवल शब्द कण्ठ कर लिये गये हैं, या यदि अर्थ का ज्ञान प्राप्त भी किया गया है तो वह बहुतही कच्चा है। सिर्फ़ उस समय जब अनेक तजरिबों से प्राप्त हुई सामग्री की सहायता से मनुष्य के विचार नियत, निश्चित, तुले हुए हो जाते हैं—सिर्फ़ उस समय जब वर्ष प्रति वर्ष देखभाल करते रहने से उन चीज़ों और उन क्रियाओं के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भेद मालूम होने लगते हैं जो पहले एक दूसरे से मिले हुए

मालूम होते थे—सिर्फ़ उस समय जब हर तरह के उदाहरण बारबार देखने से यह मालूम हो जाता है कि कौन कौन बातें एकही साथ होती हैं, कौन बात होने से कौन बात होती है, और वे सब किस किस दरजे की हैं—सिर्फ़ उस समय जब सब बातों के जुदा जुदा सम्बन्ध की परस्पर मर्यादा या हद को ध्यान में रख कर उनके ठीक ठीक भेद ध्यान में आ जाते हैं—तभी समझना चाहिए कि हमें ऊँचे दरजे के ज्ञान की यथार्थ कल्पना हो गई। इससे हमें उचित है कि प्रारम्भ की शिक्षा में हम अपूर्ण बातों से ही सन्तोष करें। प्राथमिक शिक्षा में जिन बातों से काम पड़ता है वे अपूर्ण ही होती हैं। हाँ, हमें इस बात पर ज़रूर ध्यान रखना चाहिए कि हम ऐसा प्रबन्ध करें जिसमें भविष्यत् में अनुभव द्वारा वे अपूर्ण बातें पूर्णता को पहुँच जायँ। शिक्षा की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें बड़ी बड़ी भूलों का संशोधन पहले होकर पीछे से छोटी छोटी भूलों का भी संशोधन धीरे धीरे हो जाय। इस तरह लड़कों के विचार परिपक्क और परिपूर्ण होते ही, लगे हाथ, वैज्ञानिक नियमों की शिक्षा शुरू करनी चाहिए।

२०—(३) प्राथमिक शिक्षा में विशेष बातें सीख चुकने पर साधारण बातें विद्यार्थियों को सिखलाई जायँ।

यह कहना कि हमारी शिक्षा-प्रणाली में मूर्त या दृश्य बातों की शिक्षा पहले और अमूर्त या अदृश्य बातों की शिक्षा पीछे होनी चाहिए, पूर्वोक्त नियमों में से पहले नियम की थोड़ी बहुत पुनरुक्ति करना है। यदि कोई चाहे तो वह इस तरह का आक्षेप कर सकता है। तथापि यह ऐसा नियम है कि इसे बतलाना ही चाहिए। यदि इसका और कोई उद्देश न होकर सिर्फ़ इतना ही उद्देश हो कि कुछ विषयों में हमे यह मालूम हो जाय कि कौनसी बात सचमुच ही सरल और कौनसी सचमुच ही कठिन है, तो भी चिन्ता नहीं। क्योंकि अभाग्यवश इस विषय में लोगों को बहुत कुछ भ्रम हो रहा है। विशेष विशेष बातों के समुदायों को प्रकट करने के लिए लोगों ने कुछ साधारण नियम निकाले हैं। उनमें से प्रत्येक नियम

ऐसा है कि उसके कारण बहुतसी बातें एक ही बात के अन्तर्गत आ जाने से उन बातों को समझने और उन्हें ध्यान में रखने में सुभीता होता है। अतएव लोग समझते हैं कि वही नियम यदि लड़कों के ध्यान में आजायँगे तो उनको भी उन सब बातों के समझने में सुभीता होगा। वे इस बात को भूलते हैं कि साधारण नियम सिर्फ़ उन विशेष विशेष बातों के मुक़ाबिले में सीधा और सहज मे समझने योग्य हुआ करता है जो उसमें शामिल होती हैं। विशेष रूप मे जितनी बातें किसी साधारण नियम में शामिल रहती हैं उनमें से अलग अलग हर बात के मुक़ाबिले में वह नियम सहल नहीं, किन्तु कठिन हुआ करता है। सारी विशेष बातों मे से बहुतसी बातों का ज्ञान हो जाने ही पर साधारण नियम के योग से स्मरण-शक्ति का बोझ कम हो कर विचार-शक्ति को सहायता मिलती है। अर्थात् प्रत्येक साधारण नियम के द्वारा विशेष प्रकार की अनेक बातों का नियमन होता है। इससे यदि सब न सही तो उन विशेष बातों में से जब तक बहुत सी बातें समझ में नहीं आ जातीं तब तक उस साधारण नियम से कुछ भी फ़ायदा नहीं होता। बिना ऐसा हुए, साधारण रीति से निश्चित हुए व्यापक नियम ठीक ठीक समझ ही में नहीं आते। जिनकी समझ में ये विशेष बातें नहीं आ जाती हैं उनके लिए इस तरह के व्यापक नियम एक पेचीदा पहेली से मालूम होते हैं। उनका आशय समझने में उनकी बुद्धि काम ही नहीं करती। विषयों को सुलभ करनेवाले इन दोनों तरीक़ों को एक ही में गड़ मड़ कर देने के कारण, शिक्षा के प्राथमिक सिद्धान्तो में हस्तक्षेप करके, अध्यापकों से हमेशा भूल होती आई है। इस तरह की काररवाई का, ऊपर से देखने में, यद्यपि मूल नियमों से विरोध न भी मालूम हो, तथापि वास्तव में उसका विरोध मूल नियमों से ज़रूर ही होता है। मूल नियमों का यह मतलब है कि मुख्य सिद्धान्तो के प्रत्यक्ष उदाहरण देकर उन उदाहरणों के द्वारा मुख्य सिद्धान्तो में मन का प्रवेश कराया जाय। अर्थात् विशेष बातों से पहचान करा कर तब साधारण बातें बतलाई जायँ—मूर्त बातें सीख चुकने पर अमूर्त बातें सीखी जायँ।

२१—(४) जिस क्रम और जिस रीति से मनुष्य-जाति ने शिक्षा पाई है उसी क्रम और उसी रीति से बच्चों को शिक्षा मिलनी चाहिए।

इतिहास पर विचार करके यह देखना चाहिए कि किस क्रम और किस रीति से संसार में मनुष्य-जाति ने शिक्षा पाई है—किस क्रम और किस रीति से मनुष्य-जाति मे ज्ञान का प्रसार हुआ है। यह जान कर उसी क्रम और उसी रीति के अनुसार बच्चों को शिक्षा देनी चाहिए। अथवा यों कहिए कि जिस तरीके से मनुष्य-जाति में ज्ञान की उत्पत्ति हुई है उसी तरीक़े से जुदा जुदा हर आदमी मे उसकी उत्पत्ति होनी चाहिए। व्यक्ति और जाति में ज्ञान-प्राप्ति की एक ही रीति का होना मुनासब है। सच पूछिए तो इस नियम का गर्भित भावार्थ पहले ही बतलाया जा चुका है। परिणतिवाद के तत्त्व इन दोनों तरीको में एक से पाये जाते हैं। अतएव परिणतिवाद के जिन साधारण सिद्धान्तो का प्रतिपादन इतनी दृढ़ता के साथ ऊपर किया गया है वे इन दोनों विषयों में बराबर घटित होते हैं। इसी कारण से इन दोनों को जरूर एक दूसरे के अनुकूल होना चाहिए। तथापि परस्पर की यह समता इसलिए भी आदर-योग्य है कि इसकी मदद से हमें इस बात के जानने में सुभीता होता है कि हमारा मार्ग कौन सा है—किस मार्ग से हमें जाना चाहिए। यह हमारे लिए पथदर्शक का काम करती है। इस सिद्धान्त का प्रवर्तक फ्रांस का प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता एम० कोण्ट है। उसी की कृपा से हमें इसका लाभ हुआ है। उसके दार्शनिक सिद्धान्तो में से इस सिद्धान्त को हम स्वीकार कर सकते हैं। इससे यह आवश्यक नहीं कि उसके बाकी के सिद्धान्त भी हम स्वीकार करलें। बिना कोई स्वतंत्र कोटि लड़ायें—बिना कोई स्वतंत्र दलील पेश किये—इस सिद्धान्त की सचाई के समर्थक दो कारण बतलाये जा सकते है। उन कारणों में से प्रत्येक कारण स्वतंत्रतापूर्वक इस सिद्धान्त की सचाई को साबित कर सकता है। वंशपरम्परा से जो सादृश्य हम लोगों में नियमा-

नुसार देखा जाता है उसका कुछ दूर तक विचार करने से एक कारण तो सहजही ध्यान में आ जाता है। हम हमेशा देखते हैं कि रूप-रङ्ग और स्वभाव दोनों मे हम लोग अपने पूर्वजों की समता रखते हैं। यह भी हम हमेशा देखते हैं कि कोई कोई मानसिक विकार, जैसे पागलपन, एक ही कुटुम्ब के आदमियों में क्रम से एक ही उम्र में होते हैं। इन व्यक्ति-विषयक उदाहरणों में एक बात यह होती है कि मृत पूर्वजो के लक्षण, वर्तमान समय में, उनके जीवित वंशजो के लक्षणों से मिल जाने के कारण पूर्वोक्त समता जैसी चाहिए नहीं देख पड़ती। इससे ऐसे उदाहरणों को छोड़ कर यदि हम जुदा जुदा देशों के आदमियों में देख पड़नेवाली विशेष विशेष बातों का ध्यान से विचार करते हैं तो हमें यह साफ़ मालूम हो जाता है कि उनके रूप-रङ्ग और स्वभाव आदि मे परस्पर जो अन्तर है वह पीढ़ी दर पीढ़ी बराबर एक सा चला जाता है। ये जो जुदा जुदा तरह के रूप-रङ्ग और आकार देख पड़ते हैं सबकी उत्पत्ति एक ही स्थान से है। सबका मूल जन्म-स्थान एक ही है। विशेष विशेष कारणों से उनकी स्थिति में जो फेरफार होते गये हैं उनका परिणाम उनके वंशजों में परम्परा से धीरे धीरे दिखाई दिया है। ये भेद उसीके फल हैं। जुदा जुदा देशों के आदमियों में जो भेद देख पड़ता है वह अब उनके हाड़-चाम में यहाँ तक बिंध गया है कि यदि फ़्राँस का कोई बच्चा किसी अपरिचित देश में पहुँचा दिया जाय और वहाँ, उसी देश की प्रथा के अनुसार, उसका पालन-पोषण हो तो भी उसमें वे गुण आये बिना न रहेंगे जो फ़्राँस के रहनेवालों में होते हैं। यदि यह सच है कि जिस साधारण नियम का हमने यहाँ पर प्रतिपादन किया वह स्वभाव और बुद्धि दोनों के सम्बन्ध में घटित होता है, और यदि यह भी सच है कि मनुष्य-जाति ने जुदा जुदा विषयों को किसी विशेष क्रम से ही सीखा है, तो यह निर्विवाद है कि प्रत्येक बच्चे में उन विषयों के अभ्यास की योग्यता भी उसी क्रम से पैदा होगी। यदि यह भी मान लिया जाय कि वास्तव में इस विशेष प्रकार के क्रम से कोई लाभ नहीं, तो भी जिस मार्ग से समग्र मनुष्य-जाति ने गमन किया है उसीसे बच्चों को भी ले जाने में विद्या-दान के काम में सुभीता ज़रूर होगा। परन्तु वास्तव मे यह विशेष प्रकार का क्रम व्यर्थ नहीं। यह समझना ठीक नहीं है कि उससे कोई लाभ नहीं। अतएव यह इस सिद्धान्त का सबल कारण है कि

सारी मनुष्य-जाति और अलग अलग हर आदमी की शिक्षा का एकही क्रम होना चाहिए । प्रत्येक आदमी को उसी मार्ग से जाना चाहिए जिससे कि समग्र मनुष्य-जाति ने गमन किया है। ये दोनों बातें साबित की जा सकती हैं कि इतिहास की मुख्य मुख्य घटनायें जिस क्रम से हुई हैं उन्हें उसी क्रम से होना चाहिए था; और उस क्रम के जो कारण हैं वही मनुष्य-जाति और अलग अलग हर बच्चे के सम्बन्ध में भी एक से घटित होते हैं। इन कारणों के विस्तार-पूर्वक वर्णन की आवश्यकता नहीं—कोई जरूरत नहीं कि वे तफ़सीलवार बयान किये जायें। यहाँ पर इस विषय में इतनाही कहना बस होगा कि मनुष्य-जाति के मन ने हर विषय की जितनी शिक्षा आज तक प्राप्त की है सब, प्रकृति के सृष्टिरूपी खेतों के बीच में रह कर और उनको समझने की कोशिश करके, अनन्त वस्तुओं के मिलान, मनन, अनुभव और कल्पना के द्वारा, एक निश्चित रीति से प्राप्त की है। एक नियमित मार्ग से गमन करके उसे उसकी प्राप्ति हुई है। तो क्या इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि मन और सृष्टि में ऐसा सम्बन्ध है कि सृष्टि-विषयक ज्ञान मन को और किसी तरह होही नहीं सकता? इस दशा में, अर्थात् जब बच्चे के मन और सृष्टि में एकसा सम्बन्ध है तब, उसे भी उस ज्ञान की प्राप्ति उसी तरह क्यों न होनी चाहिए—उसी मार्ग से उसे क्यों न जाना चाहिए? ज़रूर उसी मार्ग से जाना चाहिए। क्योंकि सृष्टि-सम्बन्धी बातें जानने के लिए उससे अच्छा और कोई मार्गही नहीं। इसीसे हमारी राय है कि शिक्षा के सबसे अच्छे तरीके का निश्चय करने में इस बात के विचार की बड़ी ज़रूरत है कि मनुष्य-जाति को शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति किस तरह होती गई। इससे हमें अपने इष्ट-साधन में बहुत मदद मिलेगी। सबसे अच्छी शिक्षा-पद्धति ढूँढ़ निकालने में इससे बहुत सुभीता होगा।

२२—(५) प्रत्येक विषय की शिक्षा में मोटी व्यावहारिक बातें पहले सिखलाई जायँ, बारीक शास्त्रीय बातें पीछे।

इस तरह की खोज से हमें जिन सिद्धान्तों का पता लगता है उनमें से एक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय में—विद्या की प्रत्येक शाखा में—

हमें स्थूल बातों के ज्ञान से प्रारम्भ करके सूक्ष्म बातों के ज्ञान की तरफ़ जाना चाहिए। व्यावहारिक बातों का ज्ञान प्राप्त करके धीरे धीरे शास्त्रीय बातों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अर्थात् पहले अमली बातें सीखनी चाहिए, फिर अक़ली। मनुष्य-जाति की उन्नति जिस तरह हुई है उसका विचार करने से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक शास्त्र—प्रत्येक ज्ञान—अपनी अपनी कला से पैदा हुआ है। जो शास्त्र जिस कला से सम्बन्ध रखता है उस शास्त्र की उत्पत्ति उसी कला से हुई है। चाहे एक आदमी हो, चाहे सारी मनुष्य-जाति हो, किसी भी विषय का गूढ़ तत्त्व समझने के लिए सबको प्रत्यक्ष उस विषय के अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है। बिना उस विषय का प्रत्यक्ष अभ्यास किये उसकी गूढ़ बातें समझ में नहीं आतीं। यही कारण है जो किसी विशेष प्रकार के विज्ञान की उत्पत्ति के पहले उसके व्यवहार और तजरिबे की ज़रूरत होती है। किसी विज्ञान की उत्पत्ति के पहले उसके सम्बन्ध की बहुत सी बातें प्रचार में आनी चाहिए; उनका अनुभव होना चाहिए, और थोड़े बहुत मोटे मोटे नियमों की कल्पना भी होनी चाहिए। बिना इन बातों के किसी विज्ञान की एकदम उत्पत्ति नहीं हो जाती। शास्त्रीय ज्ञान का नाम विज्ञान है। शास्त्र और विज्ञान प्रायः एकार्थवाची है। व्यवस्थित ज्ञान, शास्त्र कहलाता है। अतएव ज्ञान की व्यवस्था होने के पहले—उसे सुव्यवस्थित बनाने के पहले—उसका कुछ अंश ज़रूरही हमारे पास होना चाहिए। यदि थोड़ा बहुत ज्ञान पहले से होही गा नहीं तो उसकी व्यवस्थाही कैसे होगी? अतएव प्रत्येक विषय का आरम्भ अनुभव से होना चाहिए। तजरिबे से मोटी मोटी बातें सीख कर हर एक विषय की शिक्षा शुरू होनी चाहिए। अपेक्षित चीज़ों की देख-भाल के द्वारा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बातों की बहुत सी पूँजी पास हो जाने पर तर्क-वितर्क करना और बुद्धि से काम लेना चाहिए। दृष्टान्त के तौर पर हम इस नियम का एक उदाहरण देते हैं। देखिए, इस समय व्याकरण की शिक्षा जो भाषा-शिक्षा के पहले नहीं, किन्तु पीछे दी जाती है, या चित्र बनाना सिखलाने के पीछे पदार्थों की दूरी के अनुसार चित्र के दृश्य में होनेवाले फेर फार की बातें सिखलाने की जो रीति है, वह इसी नियम का फल है। आगे चल कर, क्रम क्रम से, हम इसके और भी उदाहरण देंगे और यह दिखलावेंगे कि कहाँ कहाँ इस नियम के अनुसार काम होता है।

२३—(६) जहाँ तक सम्भव हो बच्चों को अपनी बुद्धि की उन्नति आपही करने के लिए उत्साहित करना चाहिए।

जिस प्रधान सिद्धान्त का वर्णन ऊपर हुआ उससे जो एक और बात भी ध्यान में आती है वह इतने महत्त्व की है कि उसकी आवश्यकता चाहे जितनी दृढ़ता से दिखलाई जाय, कम है। यदि कोई यह आग्रह करे कि वह बात अवश्य करना ही चाहिए तो भी अनुचित नहीं। वह बात यह है कि विद्याभ्यास करते समय, जहाँ तक हो सके, अपनी बुद्धि को ख़ुदही बढ़ाने के लिए बच्चे उत्साहित किये जायँ। बच्चो से ख़ुदही अनुसन्धान कराया जाय—ख़ुदही खोज कराई जाय—और तर्क-वितर्क-द्वारा ख़ुदही नतीजे निकलवाये जायँ। जहाँ तक सम्भव हो उनको बहुत कम बातें बताई जायँ। जहाँ तक हो सके उनकी आदत सब बातें आपही आप जानने की डाली जाय। मनुष्य-जाति का सुधार सिर्फ़ अपनी ही शिक्षा से हुआ है। मनुष्यो ने अपनी शिक्षा की आपही उन्नति की है। अपनी ही बुद्धि के बल से प्रसिद्धि पानेवाले—अपनेही प्रयत्न से नामवर होनेवाले—आदमियों के जो उदाहरण हम प्रति दिन देखते हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि यदि किसी की इच्छा सबसे उत्तम फल-प्राप्ति की हो तो उसे इन्हीं लोगों की तरह अपने मन को शिक्षित करना चाहिए। जिन लोगों ने मदरसे की मामूली कवायद के अनुसार शिक्षा पाई है, और जो मदरसे ही से यह ख़याल अपने साथ लेते गये हैं कि यदि किसी को शिक्षा मिल सकती है तो उसी पुराने ढर्रे पर चलने से मिल सकती है, उन्हें बच्चों को अपना अध्यापक आपही बनने में ज़रूर निराशा देख पड़ेगी। परन्तु यदि वे इस बात का विचार करेंगे कि बचपन में अपने आस पास की सारी चीजो का जो सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण ज्ञान बच्चे प्राप्त करते है उसे वे आपही आप, बिना किसी की मदद के, प्राप्त करते है; यदि वे इस बात का स्मरण रक्खेंगे कि बच्चे अपनी मातृ-भाषा आपही आप सीख लेते हैं, यदि वे इस बात को सोचेंगे कि व्यावहारिक बातों के जिस ज्ञान और जिस तजरिबे का मदरसे से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है उसे हर एक बच्चा अपनेही आप कितना प्राप्त करता

है; जिसकी पूछ पांछ करनेवाला कोई नहीं है ऐसे लंदन के किसी आवारह लड़के के विषय में यदि वे यह विचार करेंगे कि जिस बात पर वह उतारू हो जाता है उसमें उसकी बुद्धि कितनी उत्तमता से काम देती है; और यदि वे, इसी तरह, इस बात पर भी विचार करेंगे कि कितने आदमियों ने हम लोगों की इस बुरी शिक्षा-पद्धति के बखेड़ों ही से नहीं, किन्तु और भी सैकड़ों विघ्न-बाधाओं से बिना किसी की मदद के, सिर्फ़ अपने बाहु-बल से, छुटकारा पाया है; तो वे समझ जायँगे कि किसी साधारण बुद्धि के विद्यार्थी को भी एक दफ़े यह बतला देने से कि अमुक विषय अमुक क्रम और अमुक रीति से सीखना चाहिए, वह उसे बहुत ही थोड़ी मदद से, सारी कठिनाइयों को पार करके, सीख लेगा। ऐसा करने से उनके ध्यान में यह बात जरूर आ जायगी कि इस तरह की आशा रखना—इस तरह का अनुमान करना—कोई ऐसी बात नहीं जिसे बुद्धि न स्वीकार करे। भला ऐसा कौन आदमी होगा जो बच्चो को अनेक बातों की देखभाल, खोज, अनुसन्धान और अनुमान करते अच्छी तरह देखे, या जो बातें उनके समझने लायक़ हैं उनके विषय में उन्हें बड़ी चतुरता से वार्तालाप करते अच्छी तरह सुने, और उसे इस बात का विश्वास न हो जाय कि बच्चों की इन शक्तियों का उपयोग यदि उनसे उनके समझने लायक विषय सिखलाने मे अच्छी तरह कराया जाय तो बिना किसी की मदद के वही विषय बच्चे जल्द सीख लेंगे? बच्चे को हर एक बात बतलाने की प्रति दिन जो बार बार ज़रूरत पड़ती है उस का कारण बच्चे की मूर्खता नहीं, किन्तु हमारी मूर्खता है—हमारी नादानी है। जिन बातों में बच्चे का दिल लगता है और जिनको वह ख़ुदही उत्साहपूर्वक सीखता है उनसे हम उसे हटा देते हैं—उन्हें हम उसे नहीं सीखने देते! हम उसे ऐसी बातें सिखलाते हैं जिन्हें, कठिन होने के कारण, वह सीखही नहीं सकता। इसीसे वे बातें उसे अच्छी नहीं लगतीं। वे उसे नीरस, अतएव बुरी, जान पडती हैं। जब हम देखते हैं कि इस तरह की कठिन और नीरस बातें बच्चा ख़ुशी से नहीं सीखता तब हम धमकी और मार-पीट के ज़ोर से उन्हें ज़बरदस्ती उसके मग़ज़ में ठूंसने लगते हैं। इस तरह जो बातें बच्चे को अच्छी लगती हैं उनसे उसे वञ्चित रख कर और जिनको वह हज़म नहीं कर सकता—जिन को वह सीख नहीं सकता—उन्हें ज़बरदस्ती उसके मग़ज में भर कर हम उसकी मानसिक

शक्ति को क्षीण कर देते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि बच्चे के मन में विद्याभ्यास से घृणा हो जाती है। कुछ तो हमारी ही मूर्खता से पैदा हुई जड़ता और आलसीपन के कारण, और कुछ विद्याभ्यास में अपनी अयोग्यता के कारण, बच्चे की मानसिक शक्तियाँ ऐसी बिगड़ जाती हैं कि बिना समझाये वह कोई बात समझ ही नहीं सकता। उस समय वह एक महा आलसी की तरह चुपचाप शिक्षक की बातें सुना करता है। उसका काम सुनना और शिक्षक का सुनाना हो जाता है। तब इससे हम यह नतीजा निकालते हैं कि बच्चों को इसी तरह शिक्षा देनी चाहिए। तब हम यह समझते हैं कि उनकी शिक्षा का यही एक मुनासिब तरीक़ा है। अपनीही अनुचित शिक्षा-पद्धति से, इस तरह, बच्चो को कुन्दजेहन और विवश बना कर उनकी कुन्दजेहनी और लाचारी को हम अपनी शिक्षा-पद्धति का कारण मानते हैं। "हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी क्यों है"? इसलिए कि हमारे बच्चे आलसी, कुन्दजेहन और क्षीण-बुद्धि हैं। तब हम इस तरह का कार्य्य-कारण-भाव बतलाते हैं। अतएव यह सिद्ध है कि जिस शिक्षा-प्रणाली के प्रचार की हम सिफारिश करते हैं उसके प्रतिकूल अनाड़ी अध्यापकों के तजरिबे सामने रखना मुनासिब नहीं। जो यह बात समझता है वह यह भी समझ लेगा कि आदि से लेकर अन्त तक हम अपनी शिक्षा-पद्धति सृष्टि के क्रमानुसार बेखटके निश्चित कर सकते हैं; जिस तरह बचपन में मानसिक शक्तियाँ आपही आप अपनी उन्नति कर लेती हैं उसी तरह, यदि समझ बूझ कर प्रबन्ध किया जाय तो, आगे भी वे अपने आपही अपनी उन्नति कर सकती हैं; और यही एक तरीका ऐसा है जिसे स्वीकार करने से बच्चों की बुद्धि की सबसे अधिक बाढ़ होकर उनमें सर्वोत्तम कार्य्यशक्ति और प्रवीणता आ सकती है।

२४—(७) अच्छी शिक्षा-पद्धति की कसौटी यह है कि उससे बच्चों को आनन्द और मनोरञ्जन हो।

यदि किसी शिक्षा-पद्धति की परीक्षा दरकार हो तो इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि—"क्या वह बच्चो के मन में आनन्दवर्द्धक उत्साह पैदा करती है"? बस, इस प्रश्न के विचारही को परीक्षा की अन्तिम कसौटी

समझना चाहिए। यदि किसी को यह सन्देह हो कि अमुक रीति या अमुक क्रम, अमुक रीति या अमुक क्रम की अपेक्षा, ऊपर बतलाये गये नियमों के अधिक अनुकूल है या नहीं, तो इस कसौटी से हम बेखटके काम ले सकते हैं। व्यवहार में लाने के लिए चुनी गई कोई शिक्षा-पद्धति यदि शास्त्र-दृष्टि से उत्तम भी हो, तथापि यदि उसके प्रयोग से विद्यार्थियों का मनोरञ्जन न होता हो, या किसी दूसरी पद्धति की अपेक्षा कम होता हो, तो भी हमें मुनासिब है कि हम उसे छोड़ दें, क्योंकि उसके स्वीकार से सम्बन्ध रखनेवाले कारणों की अपेक्षा—उसे ग्राह्य समझने के विषय की हमारी दलीलों की अपेक्षा—बच्चे की मानसिक प्रवृत्ति अधिक विश्वसनीय है। दलीलों की अपेक्षा विद्यार्थियों के स्वाभाविक झुकाव पर भरोसा करना अधिक युक्तिसङ्गत है। यह एक साधारण नियम है कि, स्वाभाविक स्थिति में, जो काम अपनी शरीर-प्रकृति के अनुकूल होता है उसे करने से सुख मिलता है, पर जो काम शरीर-सम्पत्ति के लिए अच्छा नहीं होता उसे करने से कष्ट मिलता है। यही नियम ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में भी घटित होता है। अतएव विश्वासपूर्वक हम उस पर भरोसा रख सकते हैं। हमारी सारी मनोवृत्तियों के विषय में यद्यपि यह नियम बहुत कम घटित होता है तथापि इसमें सन्देह नहीं कि बुद्धि के या बुद्धि के उन अंशों के विषय में जो बच्चों में देखे जाते हैं यह प्रायः पूरे तौर पर घटित होता है। बहुधा बच्चे साधारण अध्यापकों को यह कह कर दिक़ किया करते हैं कि अमुक अमुक विषय की शिक्षा से हमारा जी घबराता है, या अमुक अमुक विषय की शिक्षा से हमें घृणा है; परन्तु इस घबराहट को—इस घृणा को—स्वाभाविक न समझना चाहिए। यह अध्यापकों की मूर्खतापूर्ण शिक्षा-पद्धति का फल है। जिन विषयों से बच्चों को घृणा हो जाती है उनको अध्यापक अच्छी तरह सिखलाही नहीं सकते। इसीसे बच्चे घबरा जाते हैं और उन विषयों से उनको घृणा हो जाती है। फेलनवर्ग नामक विद्वान् कहता है—"तजरिबे से मैंने जाना है कि बच्चे स्वभावही से चञ्चल होते हैं। उनसे और आलस से स्वाभाविक वैर होता है; क्योंकि ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। अतएव बच्चे यदि आलसी हो जायँ तो समझना चाहिए कि उनके आलस का कारण बुरी शिक्षा है। अथवा, यदि बुरी शिक्षा नहीं है तो उनके शरीरही में कोई ऐसा व्यङ्ग है जिसके कारण वे आलसी हो गये हैं"।

मानसिक शक्तियों का उचित उपयोग करने से हमेशा सुख होता है । उसी सुख को प्राप्त करने के लिए स्वभावही से बच्चे चञ्चलता दिखाते हैं । उनके चञ्चल होने का यही कारण है, और कोई नहीं । मानसिक शक्तियाँ उन्हें चञ्चल होने के लिए आपही आप प्रेरणा करती हैं । उसी प्रेरणा से उत्साहित होकर वे चपलता करते हैं; और उस चपलता से उन्हें सुख मिलता है। क्योंकि जितनी स्वाभाविक बातें हैं कोई ऐसी नहीं जिससे सुख न मिले । यह सच है कि ऊँचे दरजे की कुछ ऐसी मानसिक शक्तियाँ हैं जिनका आज तक मनुष्य-जाति में बहुत कम विकास हुआ है । ये शक्तियाँ केवल चुने हुए बड़े बड़े विद्वानों में जन्म के साथही कुछ अधिकता से पैदा हुई देखी जाती हैं । ये ज़रूर ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका उतना उपयोग नहीं हुआ जितना होना चाहिए था । परन्तु ये शक्तियाँ अनेक शक्तियों के मेल से पैदा होने के कारण बहुत पेचीदा होती है । इसीसे प्रतिदिन की नियमित शिक्षा में इनका उपयोग सबसे पीछे होता है—इनके अमल की जरूरत सबके बाद होती है । जब तक विद्यार्थी की उमर इतनी नहीं हो जाती कि दूर तक दृष्टि रखकर भावी सुख-प्राप्ति के ख़याल से तात्कालिक दुख सहने की योग्यता उसमें आजाय, तब तक इन शक्तियों का उपयोग करने की उसे ज़रूरतही नहीं पड़ती । परन्तु जो शक्तियाँ इन शक्तियों की अपेक्षा कम योग्यता की हैं उनकी बात दूसरी है । उनका उपयोग शुरू करतेही—उनको काम में लातेही—जो आनन्द होता है वही उनको उत्तेजित कर देता है । सुख की प्राप्ति होने से विद्यार्थी स्वभावही से, बिना और किसी उत्तेजना के, उन मानसिक शक्तियों का उपयोग करने लगते हैं । यदि प्रबन्ध अच्छा हो—यदि सब बातें सुव्यवस्थित हो—तो उनके लिए इतनीही उत्तेजना काफ़ी होती है । यदि इन शक्तियों को उत्तेजित करने के लिए किसी और उत्तेजना या साधन की जरूरत पड़े तो यह निर्भ्रान्त समझना चाहिए कि कहीं भूल हो गई है—जिस मार्ग से जाना चाहिए था उससे जरूर हम भटक गये हैं । तजरिबा प्रति दिन अधिकाधिक स्पष्टता से इस बात को साबित कर रहा है कि शिक्षा की हमेशा कोई ऐसी रीति निकालनी चाहिए जिससे बच्चों को मनोरञ्जनही नहीं, किन्तु आनन्द भी प्राप्त हो सके । दूसरे प्रमाणों से भी यह बात साबित है कि शिक्षा की यही रीति सर्वोत्तम है ।

२५—शिक्षा-सम्बन्धी नियमों का व्यावहारिक विचार।

ये शिक्षा-सम्बन्धी नियम यदि इसी तत्त्व-रूप में छोड़ दिये जायँ तो बहुत आदमियों के मन में उनका यथार्थ महत्त्व न प्रतिबिम्बित होगा। ऐसा करने से उनका बहुतही कम वज़न उन पर पड़ेगा। अतएव कुछ तो उदाहरण द्वारा उनके उपयोग को समझाने और कुछ उनके सम्बन्ध में और भी थोड़ी सी विशेष विशेष सूचनायें करने के लिए हम इस विषय का तात्त्विक दृष्टि से विचार करना छोड़ इसके व्यावहारिक विचार में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् ख़याली मनसूबे की बातें न कह कर अब हम उन नियमों के अमल की बातें कहते हैं।

२६—बच्चों की शिक्षा गोद से ही शुरू होनी चाहिए।

पेस्टलोज़ी का मत यह था कि किसी न किसी तरह की शिक्षा गोदही से आरम्भ होनी चाहिए। जबसे उसने यह मत प्रकाशित किया तबसे आज तक इसकी सत्यता के विषय मे लोगों की श्रद्धा अधिकाधिक बढ़ती जाती है। जिसने इस बात को ध्यान से देखा है कि छोटे छोटे दुधपिये बच्चे अपने आस पास की चीज़ों को किस तरह टकटकी लगा कर देखा करते हैं वह अच्छी तरह जानता है कि शिक्षा का आरम्भ ज़रूर इतनी छोटी उमर में होता है। फिर चाहे उसे हम जान-बूझ कर आरम्भ करावें या नहीं। जो चीज़ हाथ लग जाती है उसे हिलाना, झुलाना, पटकना और मुँह में रखना और हर तरह की आवाज़ को मुँह खोल कर सुनना उस शिक्षा का आरम्भ है जिसकी बदौलत किसी दिन आदमी अज्ञात तारों का पता लगाता है, हिसाब लगानेवाला यत्र और यंजिन बना डालता है, उत्तमोत्तम चित्र खींचता है, परम मनोहर गीत, पद और नाटक आदि की रचना करके उनके अभिनय से दर्शकों को प्रसन्न करता है, और तरह तरह के वाद्य-यंत्र—सितार, सारंगी और वीणा आदि का आविष्कार करता है। मानसिक शक्तियों का व्यापार, इस तरह, पहलेही से आपही आप शुरू होता है और ऐसा होनाही चाहिए। अतएव यहाँ पर इस बात के विचार की ज़रूरत है कि मानसिक शक्तियों का यथेष्ट व्यापार शुरू करने के लिए बच्चो को जुदा

जुदा तरह की जो सामग्री दरकार होती है उसे हमें पूरी पूरी पहुँचानी चाहिए या नहीं। इस प्रश्न का "हाँ" के सिवा और कोई उत्तरही नहीं हो सकता। बच्चो को सब तरह की सामग्री पाने का सुभीता हमें ज़रूरही कर देना चाहिए। परन्तु जैसा पहले बतलाया जा चुका है, पेस्टलोज़ी के सिद्धान्तो और प्रयोग-विधि में मेल नहीं है। उसके सिद्धान्त हमें मंज़ूर हैं, पर उन सिद्धान्तो की योजना हमे मंज़ूर नहीं। 'क्योंकि वह योजना उसके सिद्धान्तो के अनुकूल नहीं। इस बात का एक उदाहरण लीजिए। "स्पेलिंग" अर्थात् हिज्जे करने की शिक्षा के सम्बन्ध में पेस्टलोज़ी कहता है:—"इसलिए हिज्जो की किताब में अपनी भाषा की सब प्रकार की ध्वनियाँ होनी चाहिए और हर एक कुटुम्ब में बच्चो को उन ध्वनियों की शिक्षा बहुतही थोड़ी उमर में देना चाहिए। जो बच्चा हिज्जो की किताब सीख ले उससे उनका उच्चारण पालने में पड़े हुए दुधपिये बच्चे के सामने कराना चाहिए। इसकी परवा न करना चाहिए कि पालने में बड़ा हुआ गोद का बच्चा उन ध्वनियों में से एक ध्वनि का भी उच्चारण कर सकता है या नहीं। ध्वनियों को बार बार बच्चे के सामने दोहराने से वे उसके मन पर बहुत अच्छी तरह प्रतिबिम्बित हो जाती हैं"। उसने अपनी "मदर्स मैन्युअल" (माँ की किताब) नामक पुस्तक में इस विषय की सूचनायें की हैं कि बहुत छोटी उम्र में बच्चो को किस तरह की शिक्षा देनी चाहिए। वहाँ पर, इस विषय में लिखते समय, एक जगह वह कहता है कि बच्चों को पहले शरीर के अवयवों के नाम, उनकी संख्या, उनके गुण-धर्म, उनके सम्बन्ध, उनके स्थान और उनके काम सिखलाने चाहिए। इस बात को ऊपर कही गई बात से मिलाकर देखने से साफ़ सूचित होता है कि बचपन में बच्चों के मन की उन्नति किस तरह होती है, इसे वह अच्छी तरह न जानता था। इस विषय में उसका ज्ञान बहुत ही अपरिपक्व था। इसीसे वह शिक्षा-सम्बन्धी उचित उपायों की योजना नहीं कर सकता था। आइए, अब देखें कि मनोविज्ञान किन उपायों की योजना करने की सिफ़ारिश करता है।

२७—मिश्रित बातों का ज्ञान अमिश्रित बातों के ज्ञान के पीछे होता है।

जो बातें बहुत छोटी उम्र में बच्चों के चित्त पर अङ्कित होती हैं वे रुकावट, प्रकाश और ध्वनि आदि के कारण मालूम होने वाले अविभाज्य इन्द्रिय-ज्ञान से पैदा होती हैं। यह स्पष्ट है कि मिश्र-मनोवृत्तियाँ जिन मनोवृत्तियों से पैदा होती हैं उनके पहले वे नहीं हो सकतीं। ज्ञान की जिन स्थितियों से मिश्र-मनोवृत्तियाँ पैदा होती हैं उन स्थितियों का मिश्र-मनोवृत्तियों से पहले पैदा होना ज़रूरी है—जन्य से पहले ही जनक की उत्पति होती है। प्रकाश के गुण-धर्म्मों का और पदार्थों की कठिनता या कोमलता आदि का जब तक थोड़ा बहुत ज्ञान न होगा तब तक पदार्थों की आकृति की—उनके डील-डौल की—कल्पना कभी न होगी। क्योंकि, प्रकाश के भेदो के अनुसार ही हमें दृश्य पदार्थों का आकार मालूम होता है और पदार्थों की कोमलता या कठिनता का ज्ञान होने ही पर हमें उनके आकार का ज्ञान होता है। इसी तरह मिश्र ध्वनि को हम तब तक अच्छी तरह नहीं समझ सकते जब तक कि हम अलग अलग उन ध्वनियों को न समझलें जिनसे कि वह बनी है। अर्थात् जुदा जुदा तरह की ध्वनियों को समझे बिना, उनकी सन्धि या उनके मेल से उत्पन्न होनेवाले स्पष्ट वर्णोच्चारण का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। ये बातें ऐसी नहीं कि आजही इनको लोगों ने जाना हो। इनकी प्रसिद्धि हुए बहुत दिन हुए। चिरकाल से लोग इन पर विश्वास करते आते हैं। और ये बातें हैं भी ऐसीही। यही उदाहरण और सब बातों मे भी घटित होता है। ज्ञानोन्नति का यह नियम है—मनोवृत्तियों की वृद्धि का यह क़ायदा है—कि सादी चीज़ों से आरम्भ हो कर पेचीदा चीज़ों तक पहुँच होती है। अर्थात् शुद्ध ज्ञान से मिश्र ज्ञान होता है। अतएव, इस नियम के अनुसार, हमारा काम है कि हम छोटे छोटे बच्चों को ऐसी चीज़ें हमेशा सुलभ करते रहें जिनकी सहायता से वे पदार्थों की सब तरह की कोमलता और कठिनता, ध्वनियों का सब तरह का उतार-चढ़ाव, और प्रकाश की न्यूनाधिकता और उसके भेद सहज ही में जान सकें। इस बात को अनुमान न समझिए। अनुमान होकर भी यह सिद्धान्त की कोटि

के भीतर है। इस सिद्धान्त की सचाई गोद के बच्चों के व्यापारों से साबित है। देखिए, छोटे बच्चे को अपने खिलौने मुँह में रख कर काटने से, अपने भाई के कोट या वास्कट के चमकीले बटनों पर हाथ लगाने से, अथवा अपने बाप के मूछों को पकड़ कर खींचने से कितनी ख़ुशी होती है। किसी भड़कदार, चित्र-विचित्र और रंगीन चीज़ को टकटकी लगा कर देखने में वह कैसा मग्न हो जाता है, और यदि वह बोल सकता है तो सिर्फ़ उसके रंग को देख कर किस तरह "अच्छी" "अच्छी" कहने लगता है। इसी तरह खेलानेवाली दाई या मज़दूरनी की प्यार भरी बातों से, या घर आये हुए किसी मुलाक़ाती के अपने सामने चुटकी या ताली बजाने से, या किसी नई आवाज़ को सुनने से हँसी के मारे उसका चेहरा कैसा खिल जाता है। क्या इन बातों की याद दिलाई जाने पर कोई कह सकता है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त सच नहीं है? ख़ुशी की बात है कि छोटे छोटे बच्चों के पालने पोसने की साधारण रीतियाँ कुछ ऐसी हैं जिनके कारण बच्चों के विद्याभ्यास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुतसी ज़रूरी बातें हम लोगों के हाथ से सहज ही हो जाती हैं। पर, बहुतसी बातें होने को रह भी जाती हैं; और उनका होना पहले पहल जैसा ज़रूरी जान पड़ता है उससे अधिक ज़रूरी है। अर्थात् पहले उनका महत्त्व यद्यपि ध्यान में नहीं आता, तथापि वे महत्त्व की बातें ज़रूर हैं। अतएव उनको ज़रूर करना चाहिए। जिस समय मानसिक शक्तियाँ विकसित होने लगती हैं—जिस समय वे बाढ़ पर होती हैं—उस समय उनका व्यापार स्वाभाविक होता है। उस समय प्रत्येक शक्ति आपही आप अपना अपना काम करने में लगी रहती है। अतएव ऐसे समय में जो संस्कार मन पर होता है वह और समय की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और चिरस्थायी होता है। फिर एक बात यह भी है कि इस तरह की सीधी सादी प्रारम्भिक बातों को कभी न कभी अच्छी तरह ज़रूर ही जानना पड़ता है; और जब कभी उनका ज्ञान प्राप्त किया जाता है तब समय ज़रूर लगता है। अतएव बचपन में, जब बुद्धि के और किसी व्यापार का होना सम्भव नहीं, इन बातों का, उनके सब रूपों में, पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेने से समय की बचत होती है। इस बात को भी याद रखना चाहिए कि जिन बातों के ज्ञान को बच्चे बड़े उत्साह से सम्पादन करते हैं वह यदि उन्हें नियमानुसार सुलभ कर दिया जाय तो उससे बच्चों

को लगातार इतना आनन्द मिलता है कि उससे उनके स्वभाव और शरीर दोनों को लाभ पहुँचता है। जो बातें बच्चे ख़ुदही चाहते हैं वे यदि उनको मिलती जायँगी तो उससे उन्हे ज़रूर समाधान होगा और समाधान होने से उनके स्वभाव और शरीर की उन्नति भी ज़रूर होगी। यदि जगह होती तो यहाँ पर यह बतला देना बहुत अच्छा होता कि इस तरह की सीधी सादी बातें किस प्रकार बच्चों को सिखलानी चाहिए—किस प्रकार की योजनाओं की सहायता से बतलानी चाहिए। पर इस काम के लिए यहाँ पर जगह नहीं। अतएव यहाँ पर इतनाही कह देना काफ़ी होगा कि पूर्वोक्त योजना-सम्बन्धी उद्योग शुरू करते समय परिणतिवाद का यह मुख्य तत्त्व ज़रूर ध्यान में रखना चाहिए कि अव्यक्त स्थिति के अनन्तर व्यक्त स्थिति प्राप्त होती है। अतएव प्रत्येक मानसिक शक्ति के विकास या बाढ़ के समय जिन बातों में विशेष अन्तर देख पड़े उन्हें बच्चों को पहले समझा देना चाहिए। परिणतिवाद के पूर्वोक्त तत्त्व के आधार पर किये गये इसी अनुमान को आदर्श मान कर बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के सब काम होने चाहिए। इससे, जिन ध्वनियों के उतार-चढ़ाव में—उच्चनीचत्त्व में—विशेष अन्तर हो, जो रंग परस्पर एक दूसरे से बहुत अधिक अन्तर रखते हों, और जो चीज़ें परस्पर एक दूसरे से विशेष कठोर या कोमल अथवा खुरखुरी या चिकनी हो उन्हीं को सबसे पहले बच्चो को देना चाहिए—उन्हीं की पहचान सबसे पहले कराना चाहिए। इस प्रकार होते होते धीरे धीरे बच्चो की पहचान उन चीज़ो से कराना चाहिए जिनमे परस्पर कुछ अधिक सादृश्य है।

२८—प्रत्यक्ष चीज़ों को दिखला कर शिक्षा देनाही प्राकृतिक क्रम है। उसके वर्तमान तरीके की आलोचना।

अब हम "पदार्थ-पाठ" के विषय की तरफ बढ़ते हैं। "पदार्थ-पाठ" से हमारा मतलब उन पाठों से है जो प्रत्यक्ष चीज़ें दिखला कर उनके विषय में दिये जाते हैं। छोटे छोटे बच्चों की ज्ञानेन्द्रियों को जो शिक्षा मिलनी चाहिए वह मिल चुकने पर, चीज़ों को प्रत्यक्ष दिखला कर और

उनके गुण-धर्म्म समझा कर लोग शिक्षा देने का क्रम शुरू करते हैं। यह क्रम प्राकृतिक है—स्वाभाविक है। यह होना भी ऐसा ही चाहिए। परन्तु इस विषय में मेरी राय यह है कि जिस तरीक़े से यह शिक्षा दी जाती है वह तरीक़ा ठीक नहीं है। वह प्रकृति के बिलकुल ही प्रतिकूल है। स्वाभाविक रीति पर उसे जैसा होना चाहिए वैसा नहीं है। गोद के बच्चों और जवान आदमियों ही को नहीं, किन्तु सारा मनुष्य-जाति को ज्ञान प्राप्त होने में सृष्टि का जो क्रम देख पड़ता है वह क्रम इस तरीक़े का विरोधी है। अर्थात् जिस क्रम के अनुसार प्रकृति, मनुष्य-जाति में ज्ञान का प्रसार करती है उस क्रम और इस तरीक़े में मेल नहीं। दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। एम॰ मार्सेल साहब कहते हैं कि "बच्चों को यह प्रत्यक्ष दिखला देना चाहिए कि हर चीज़ के जुदा जुदा हिस्से किस प्रकार परस्पर मिले हुए हैं, इत्यादि"। "पदार्थ-पाठ" की जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनमें पढ़ाई जानेवाली बातों की सिर्फ़ एक ऐसी सूची है जो बच्चों के सामने देखने के लिए रक्खी जानेवाली प्रत्येक चीज़ से सम्बन्ध रखती है। इस तरह की सभी पुस्तकों का यह हाल है। जिन चीज़ों का ज्ञान बच्चों को कराना होता है उन चीज़ों के विषय में जो जो बातें उनको बतलानी चाहिए उन्हीं की सूची इन पुस्तकों में रहती हैं। बोलना आने के पहले चीज़—वस्तु के विषय में जो कुछ ज्ञान बच्चों को होता है वह ख़ुद उन्हीं का प्राप्त किया होता है। इस बात को समझने के लिए, गोद के बच्चे की दिन-चर्य्या पर हमें सिर्फ़ एक नज़र डालने की ज़रूरत है। अमुक आकार की चीज़ कठोर है, अमुक आकार की नरम है; अमुक चीज वज़नी है, अमुक हलकी है; अमुक आदमी का रंग और आकार अमुक तरह का है; अमुक तरह के जानवर अमुक तरह के शब्द करते हैं—ये बातें ऐसी हैं जिन्हें बच्चे आपही आप सीख जाते हैं। बड़े होने पर भी, जब अध्यापक पास नहीं होते, हर एक बात का फ़ैसिला आदमी को ख़ुदही करना पड़ता है; सब बातों की देख-भाल करके विचार द्वारा हर घड़ी उसे ख़ुदही अनुमान निकालने पड़ते हैं; और किस तरह का व्यवहार करना चाहिए, किस तरह का नहीं—इस विषय में उसे ख़ुदही, बिना किसी की मदद के, सिद्धान्त स्थिर करने पड़ते हैं। इन बातों को वह जितनी ही अधिक पूर्णता और विशुद्धता से कर सकता है सांसारिक कामों में उसे उतनीही अधिक सफलता भी होती है।

अतएव जिस क्रम से—जिस तरीक़े से—मनुष्य-जाति की उन्नति होती हुई संसार में देख पड़ती है उसी क्रम—उसी तरीक़े—का अनुसरण यदि बच्चे और जवान आदमी, दोनों में भी, पाया जाता है तो क्या यह कहीं हो सकता है कि बचपन और जवानी के बीच की उमर में उसके किसी विरोधी क्रम या तरीक़े से उन्नति की जाय? कभी नहीं। इस तरह के उलटे क्रम को बुद्धि स्वीकारही नहीं कर सकती। और, यदि, कोई उलटा क्रम स्वीकारही किया जाय तो क्या पदार्थों के गुण-धर्म आदि सीखने में? ऐसे सीधे सादे काम में प्राकृतिक क्रम का उलटा क्रम क्यों? इसके विरुद्ध क्या यह बात साफ़ ज़ाहिर नहीं है कि प्रत्येक अवस्था में एकही क्रम से शिक्षा देना मुनासिब है? यदि हममें प्राकृतिक नियमों के समझने की काफ़ी बुद्धि और उनके अनुसार काम करने की काफ़ी नम्रता हो तो क्या हम यह न जान लें कि इसी क्रम को स्वीकार करने के लिए प्रकृति हमें बार बार बल-पूर्वक आज्ञा देती है? इसके लिए बुद्धि और नम्रभाव का होना बहुत ज़रूरी है। इससे अधिक स्पष्ट और कौन बात होगी कि बच्चे हमेशा बुद्धि-विषयक हमदर्दी चाहते हैं—हमेशा मानसिक सहानुभूति की इच्छा रखते हैं? उनकी हमेशा यह इच्छा रहती है कि जिस बात में उनका मन लगता है उसी में और आदमियों का भी मन लगे। अर्थात् जिस चीज़ को बच्चे चाहे उसी को और लोग भी चाहें। गोदी में बैठे हुए बच्चे की तरफ़ ध्यान से देखने पर तुम्हें मालूम होगा कि अपने हाथ में लिये हुए खिलौने को वह किस तरह तुम्हारे मुँह में घुसाये देता है। यह वह इसलिए करता है जिसमें तुम भी उसकी तरह उस खिलौने को देखो। जब वह अपनी गीली उँगली को मेज़ पर रगड़ कर एक विशेष प्रकार की आवाज़ पैदा करता है तब वह किस तरह मुँह मोड़ कर तुम्हारी तरफ़ देखता है। बार बार वह तुम्हारी तरफ़ मुड़ मुड़ कर देखता हुआ मानो तुमसे यथासम्भव साफ़ साफ़ यह कहता है कि—"ज़रा इस नई आवाज़ को तो सुनो"। इसके बाद तुम कुछ बड़े लड़कों को देखो। किस तरह दौड़ कर वे कमरे में आते हैं और कहते हैं—"अम्मा, देख यह कैसी अजूबा चीज़ है"। "अम्मा, इसे देख"। "अम्मा, उसे देख"। और यदि मूर्ख अम्मा उनसे यह न कहदे कि मुझे तंग न करो तो वे बराबर ऐसाही किया करें। यह बच्चों की आदत होती है। यदि वे रोके न जायँ तो इस आदत को वे

छोड़ना नहीं चाहते। देखिए, छोटे छोटे बच्चे जब दाई के साथ बाहर घूमने जाते हैं तब प्रत्येक बच्चा, यदि उसे कोई नया फूल मिल जाता है, तो उसे लेकर वह दाई के पास दौड़ता है और उससे कहता है, देखो यह कैसा अच्छा फूल है। इतनाही करके वह चुप नहीं रहता; किन्तु वह दाई से भी कहला लेता है कि वह अच्छा है। देखिए, जब कोई लड़का कोई नई चीज देखता है तब कितने प्रेम और कितने उत्साह से वह उसका हाल बयान करता है। उसके बयान को सुनने के लिए दिल लगा कर सुनने-वाला भर कोई मिलना चाहिए। इन बातों से जो नतीजा निकलता है क्या वह बिलकुलही साफ नहीं है? क्या उसे ढूँढने की भी कोई जरूरत है? क्या इससे यह साफ़ नहीं मालूम होता कि मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसारही शिक्षा पद्धति होनी चाहिए। अर्थात् बुद्धि का स्वाभाविक झुकाव जिस तरह जैसी शिक्षा माँगे उसी तरह वैसी शिक्षा देना चाहिए। सृष्टि-क्रम की रक्षा करके जो व्यवस्था ज़रूरी हो कर देनी चाहिए। प्राकृतिक क्रम में किसी प्रकार का उलट फेर न करना चाहिए। हाँ, उसकी सुव्यवस्था मात्र कर देना चाहिए। हर एक चीज के विषय में जो कुछ बच्चे कहें हमें सुनना चाहिए, किसी चीज के विषय में जो कुछ बच्चे कह सकते हों उसे कहने के लिए हमें उनको प्रेरणा करना चाहिए; कभी कभी उनका ध्यान ऐसी बातों की तरफ़ खींचना चाहिए जो तब तक उनकी समझ में न आई हो, जिसमें यदि फिर कभी उन्हें उन बातों से वास्ता पड़े तो वे आपही आप उन पर ध्यान दें; और, इसी तरह, धीरे धीरे, नये नये विषय उनके सामने रख कर और नई नई बातें बतला कर उन्हें इस लायक कर देना चाहिए जिसमें वे ख़ुदही इस तरह की जाँच-पड़ताल पूरे तौर पर कर सकें। यदि माँ समझदार होती है तो वह, इस तरीके के अनुसार, देखिए, किस तरह अपने लड़के को पाठ देती है—किस तरह वह उसे पाठ पढ़ाती है। वह धीरे धीरे बच्चे को चीजों की सख़्ती, नरमी, रङ्ग, रुचि (स्वाद या जायका) और आकार आदि सीधे सीधे गुण-धर्म्मों का ज्ञान करा देती है। इस काम में उसे बच्चे से भी मदद मिलती है; क्योंकि जहाँ उसने एक दफ़े बच्चे को बतला दिया कि यह चीज लाल है, या यह चीज सख़्त है, तहाँ वह उसके पास वही चीजें ला ला कर कहता है—"देखो यह लाल है; देखो यह सख़्त है"। जितना जल्द माँ इन गुणों के सूचक शब्द बच्चे

को बताती है उतनाही जल्द वह इन गुणोंवाली चीजें उसके सामने ला ला कर रखता है। जो जो नई चीज़ें वह उसके पास लाता है उनमे यदि कोई नये गुण-धर्म्म उसे बताने हुए तो जो बातें बच्चे को पहलेही से मालूम हैं उनसे नये गुण-धर्म्मों का मेट मिलाकर वह बताती है। ऐसा करने से बच्चे की स्वाभाविक अनुकरण-शक्ति की वृद्धि होती है और वह सारे गुण-धर्म्मों को यथा क्रम, एक के बाद एक, याद करता चला जाता है। जो गुण-धर्म्म बच्चे को मालूम हो जाते हैं उन्हें दोहराते समय यदि बच्चा एक आध बात भूलने लगता है तो माँ उससे पूछती है कि जो चीज़ तुम्हारे हाथ में है उसके विषय मे तुम्हें और कोई बात मालूम है या नहीं। इस पूँछ पाँछ की रीति को वह बराबर जारी रखती है। इस तरह के प्रश्न बहुत करके बच्चा पहले नहीं समझता। ऐसा होने पर थोड़ी देर तक उसे उलझन में डालकर और उसके न बतला सकने पर थोड़ी सी उसकी हँसी उड़ाकर वह भूली हुई बातें उसे बतला देती है। दो चार दफ़े ऐसा होने पर बच्चे को ख़ुदही मालूम हो जाता है कि क्या करना चाहिए। जब दूसरी दफ़े माँ लडके से यह कहती है कि इस चीज़ के विषय में जो कुछ तुमने कहा उससे मैं अधिक जानती हूँ तब बच्चा घमण्ड मे आजाता है। उस समय वह उस चीज की तरफ़ बड़े ध्यान से देखता है; जो कुछ उसने माँ से सुना होता है उसका मनही मन विचार करने लगता है; और प्रश्न सीधा होने के कारण उसे तुरन्त बता देता है। ऐसा होने से अपनी कामयाबी पर बच्चे को बड़ी ख़ुशी होती है और उसकी माँ भी उसकी ख़ुशी में शामिल हो जाती है। वह भी बच्चे के साथ सहानुभूति (हमदर्दी) दिखलाती है। जैसा कि हर एक बच्चा करता है वह भी यह जान कर कि मै बड़ा बुद्धिमान् हूँ ख़ुशी के मारे फूले अङ्ग नहीं समाता। तब उसे यह इच्छा होती है कि इसी तरह के और भी प्रश्नो का उत्तर देकर मैं विजय की बड़ाई लूटूँ। इससे नई नई चीज़ो के गुण-धर्म्म जानने की परीक्षा माँ के सामने देने के लिए वह उन चीज़ों की खोज करता है। जैसे जैसे बच्चे की मानसिक शक्तियाँ विकसित होती जाती हैं तैसे तैसे वह उसे एक के बाद एक नये नये गुण-धर्म्म बतलाती है और बच्चे की ज्ञान-सीमा की वृद्धि करती जाती है। सख़्ती और नरमी का भेद बच्चे की समझ में आ जाने पर वह उसे खुरखुरे और चिकने का भेद बताती है।

रंग समझ जाने पर वह जिला का ज्ञान कराती है और सीधी सादी बातों से शुरू करके कठिन बातो के ज्ञान तक वह उसे ले जाती है। इस तरह जैसे जैसे बच्चे की बुद्धि बढ़ती जाती है तैसे तैसे वह अपने प्रश्न हमेशा कठिन करती जाती है; उसके ध्यान और स्मरणशक्ति के तार को हमेशा अधिकाधिक तानती जाती है; उसकी मनोरञ्जकता में बाधा न आने देने के लिए वह उसके समझने लायक हमेशा नई बातें बतलाती है, और ऐसे प्रश्न पूछ कर जिनका उत्तर बच्चा सहज में ही दे सके वह उसे हमेशा उत्तेजन दिया करती है। अर्थात् छोटी छोटी कठिनाइयों को हल करने के कारण मिली हुई जीत की बड़ाई करके वह उसे ख़ुश किया करती है। ऐसा करने मे वह सिर्फ़ उस प्राकृतिक क्रम के अनुसार काम करती है जो क्रम इसके पहले बच्चे में आपही आप विद्यमान था। सीखना शुरू करने के पहले ही जो शक्ति बच्च मे आपही आप विद्यमान थी, और जिसकी प्रेरणा से बच्चा नई नई बातें आपही आप सीखा करता था, उसी शक्ति के क्रम का माँ सिर्फ़ अनुकरण भर करती है। अथवा यों कहिए कि बच्चे की बुद्धि जो आपही आप बढ़ रही थी उसकी बाढ़ की वह सिर्फ़ मदद करती है। या यह कहिए कि आपही आप सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने में बच्चे के मानसिक झुकाव के अनुसार वह उसकी मदद करती है। अर्थात् जो बर्ताव माँ के साथ बच्चा करता है उसके ढग को देखकर उसी ढँग से वह भी बच्चे की मदद करती है। पूरे तौर पर सब चीजो की देख-भाल और परीक्षा की आदत डालने के लिए बच्चे के साथ माँ का इस तरह व्यवहार करना सचमुचही बहुत उत्तम बात है। इस मतलब की सिद्धि के लिए यह तरीक़ा सचमुचही सबसे अच्छा है। इस तरह की शिक्षा का अभिप्राय ही यही है। पदार्थ पाठ का उद्देश ही यही है। बच्चे को बतलाना एक चीज और दिखाना दूसरी चीज़, उसे जाँच-पड़ताल और देखभाल करने की आदत डालना नहीं कहलाता। इस तरह की शिक्षा देना—अर्थात् बतलाना एक चीज, पर दिखाना दूसरी चीज—मानों दूसरों के तजरिबो को बच्चे के दिमाग़ में ठूसना है। ऐसा करने से आपही आप शिक्षा प्राप्त करने की बच्चे की शक्ति प्रबल न हो कर उलटा निर्बल हो जाती है। अपने आप किये गये उद्योग मे कामयाबी होने से जो ख़ुशी होती है उससे वह बच्चे को वञ्चित रखती है। वह इस अत्यन्त रमणीय और

हृदयहारी ज्ञान के एक नियमानुसारिणी निर्जीव रूढ़ि के रूप में लाकर बच्चे के सामने खड़ा कर देती है। अतएव उसे देख कर बच्चों की बहुधा यह समझ हे। जाती है कि सब चीज़ो के प्रत्यक्ष देखने से कोई लाभ नहीं। इसका फल यह होता है कि बच्चे बहुधा पदार्थ-परिचय की शिक्षा से उदासीन ही नही हे। जाते, किन्तु उससे घृणा तक करने लगते हैं। इसके विपरीत, जिस रीति का उल्लेख ऊपर हुआ है उसके अनुसार शिक्षा देना मानों बुद्धि का खाद्य बुद्धि के पास तक पहुँचाना है; ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाली बुद्धि के लिए ज्ञान-मार्ग के सुलभ करके उसे एक सहानुभूतिकर्त्ता साथी या सहाध्यायी देना है; इन सब बातों के मेल से, हर एक चीज के .खूब ध्यान-पूर्वक देखने-भालने की आदत डाल कर, यथार्थ और परिपूर्ण ज्ञान—प्राप्ति के प्रबन्ध के दृढ करना है; और जिस स्वतःसाहाय्य पर (अपनी मदद आपही करने पर) मन के भविष्यत् में अवलम्बन करना पड़ता है उस पर पहले ही से अवलम्बन करने का स्वभाव डालना है।

२९—पदार्थ-पाठ में और अधिक चीज़ें शामिल कर लेना चाहिए और अधिक समय तक उन्हें प्रत्यक्ष दिखाकर शिक्षा जारी रखना चाहिए।

पदार्थ-पाठ, अर्थात् चीज़ो के प्रत्यक्ष दिखाकर उनके विषय में पाठ देने की चाल, जो इस समय साधारण तौर पर जारी है, सिर्फ़ बिलकुल बदल ही न डालना चाहिए, किन्तु उसमे और अधिक चीज़ें भी शामिल कर लेना चाहिए और उसे और भी कुछ अधिक समय तक जारी रखना चाहिए। सिर्फ़ घर ही की चीज़ लड़कों के दिखला कर और उनके ही विषय में पाठ देकर सन्तोष न करना चाहिए। उन्हें खेतों की, बाग़ों की, झाड़ियों की, खानों की और नदी या समुद्र के किनारे की भी चीजें दिखलाकर उन के विषय की बातें बतलानी चाहिए। पदार्थ-पाठ की शिक्षा बचपन के आरम्भ ही मे न बन्द कर देना चाहिए। उसे युवावस्था तक इस तरह जारी रखना चाहिए जिसमें प्राकृतिक-इतिहास-वेत्ता और विज्ञान-विशारद विद्वानों की तरह विद्यार्थी धीरे धीरे, पदार्थों की खोज और जाँच-पड़ताल कर सकें, पर उन्हें यह न मालूम हो कि वे इतना बड़ा काम कर रहे हैं।

इस काम में भी हमें प्राकृतिक क्रम का ही अवलम्बन करना चाहिए। नये नये फूलो को इकट्ठा करने से, नये नये कीड़ों को देखने से और नये नये कंकडों और सीपियों को जमा करने से जो .खुशी लडकों को होती है उससे अधिक .खुशी और कहाँ हो सकती है? इन बतों मे मन लगा कर यदि हम लड़कों के साथ सहानुभूति प्रकट करें और उन्हे उत्तेजन दें तो इन चीजो के गुण-धर्म्म और बनावट आदि की परीक्षा जहाँ तक हम चाहें उनसे करा सकते है। यह एक ऐसी बात है जिसे सभी समझ सकते हैं। एक भी आदमी ऐसा न होगा जिसे इसमें कोई-शङ्का हो। हर एक वनस्पति-शास्त्रवेत्ता ने, जङ्गलो और बागो मे घूमते समय, यदि उसके साथ लड़के रहे होंगे, देखा होगा कि किस उत्साह से वे उसके काम में मदद देते हैं; किस प्रेम से नये नये पौधों को वे उसके लिए ढूँढ़ ढूँढ़ कर लाते हैं; जब वह उन पौधों की जाँच करता है तब किस तरह ध्यान से वे देखते हैं; और प्रश्न पर प्रश्न पूछ कर किस तरह वे उसे तंग करते हैं। प्रकृति के दास और उसका सच्चा मर्म्म समझने वाले बेकन के पन्थ का जो पक्का अनुयायी होगा वह जान लेगा कि प्रकृति के बतलाये हुए शिक्षा-पथ पर हमे नम्रता-पूर्वक गमन करना चाहिए। इस तरह इन्द्रियहीन पदार्थों के सीधे सादे गुण-धर्म्मों का ज्ञान हो चुकने पर, लड़कों से, इसी क्रम और इसी रीति से, उन सब पदार्थों की पूरे तौर पर परीक्षा करानी चाहिए जिन्हें वे घूमते फिरते प्रति दिन इकट्ठा करते है। उनमें जो बातें कम पेचीदा हो पहले उन्हीं पर विचार होना चाहिए। पौधों में पहले पँखुड़ियों के रंग, संख्या और आकार पर, और डंडियों और पत्तियों की बनावट पर ध्यान देना चाहिए। कीड़ों मकोड़ों के विषय में पाठ देते समय पहले उनके पंखो, टाँगो और स्पर्श-ज्ञान करानेवाले मूछों की संख्या और उनके रंग का ज्ञान करा देना चाहिए। ये सब बातें जब अच्छी तरह उनकी समझ में आ जाय और ऐसा मालूम हो कि वे अब उन्हें कभी न भूलेंगे—हमेशा उनको ध्यान में रक्खेंगे—तब धीरे धीरे उन्हें आगे की बातें बतानी चाहिए। फूलो की परीक्षा करते समय उनके केसर और गर्भतन्तुओ की संख्या, उन के आकार गोल हैं या दो भागो मे बँटे हुए है, पत्तियों का क्रम और उनकी रचना—वे आमने सामने है या एक के बाद एक, डंडी से निकली है या तने से, चिकनी हैं या बालदार, उनके किनारे आरे की तरह है या उनमें

सादे दाँत हैं या वे लहरियादार हैं— इत्यादि बातें बतलानी चाहिए। कीड़ों की देखभाल करते समय शरीर के भाग, पेट के परदे, पंखों के चिह्न, टाँगों के जोड़ों की संख्या, और छोटे छोटे अवयवों के आकार आदि का परिचय लड़कों को करा देना चाहिए। सारांश यह कि हमें बच्चों को हमेशा इस तरह शिक्षा देनी चाहिए जिसमे प्रत्येक बात को देख कर उसके विषय में ज्ञान-सम्पादन करने की इच्छा उनके मन में जागृत हो जाय। अर्थात् उनके मन में कुछ ऐसा उत्साह आ जाय कि प्रत्येक वस्तु को देख कर उन्हें यह इच्छा हो कि उसके विषय में जो कुछ कहा जा सकता हो वह सब हम कह सकें। लड़कों के बड़े होने पर, जिन पौधों के विषय मे उन्होंने इतना ज्ञान प्राप्त किया है और इसलिए जो उनके इतने प्यारे और मनोरञ्जनकर्त्ता हो गये हैं, उनकी रक्षा के उपाय यदि उन्हें सिखलाये जायँ तो मानों उन पर बहुत बड़ी कृपा हो। इसी तरह रूपान्तर होने की अवस्था में तितलियों और कीड़ों आदि के बच्चों को रखने के लिए जो यंत्र या सामान ज़रूरी होते हैं वे यदि लड़कों को दिये जायँ तो मानों उन पर और भी अधिक कृपा हो। ऐसा करने से तो लड़के कृतज्ञता के पाश से बद्ध होकर और भी अधिक हमारे उपकार मानेंगे। इस पिछली बात से लड़कों को बहुत ही अधिक ख़ुशी होती है। इसके हम ख़ुद प्रमाण हैं। हम ख़ुद इस बात की सरटी-फ़िकेट देते हैं। इस ख़ुशी मे—इस आनन्दानुभव में—लड़के वर्षों चूर रहते हैं। वर्षों तक कीड़ों के रूपान्तर आदि को उत्साहपूर्वक देखकर वे ख़ुश हुआ करते हैं। और यदि कहीं कीट-पतङ्गों के वर्णन का संग्रह भी वे करते गये तो शनिवार को तीसरे पहर बाहर सैर करने में जो आनन्द मिलता है वह बहुत ही अधिक बढ़ जाता है। इस तरह का क्रम जारी रखने से प्राणि-शास्त्र का अभ्यास करने में बहुत सुभीता होता है। यह क्रम इस शास्त्र की मानों एक उत्तम भूमिका है।

३०—चीज़ों को प्रत्यक्ष दिखा कर शिक्षा देने की रीति के विषय में लोगों के भ्रमात्मक विचार और उनका खण्डन।

बहुत आदमी यह कहेंगे कि इस क्रम से शिक्षा देना समय और श्रम

को व्यर्थ नष्ट करना है। इसकी अपेक्षा तो लड़कों से कापियाँ लिखाना या आना-पाई, पहाड़े इत्यादि याद कराना अच्छा है। ऐसा करने से वे सांसारिक काम-काज करने के लायक़ तो हो जायँगे। इस तरह की तर्कनाओं को—इस तरह के एतराज़ों को—सुनने के लिए हम ख़ूब अच्छी तरह तैयार हैं। विद्या या शिक्षा में कौन कौन सी बातें शामिल हैं, इस विषय में लोगों के ख़याल अब तक इतने अपक्व और उपयोगिता के विषय में उनकी समझ अब तक इतनी परिमित बनी हुई है, कि इस बात का विचार करके बहुत अफ़सोस होता है। बड़े दुःख की बात है कि विद्या और उपयोगिता के विषय में लोगों की समझ अब तक इतनी कच्ची है। ज्ञानेन्द्रियों को उचित शिक्षा मिलने की ज़रूरत पर यदि कुछ भी न कहा जाय, और उस ज़रूरत को पूरा करने के लिए ऊपर जिन उपायों का वर्णन हुआ है उनकी योग्यता का विचार भी यदि एक तरफ़ रक्खा जाय, तो भी हम उन उपायों के द्वारा दी जानेवाली शिक्षा का पक्ष सिर्फ़ इसलिए लेने को तैयार हैं कि उससे ज्ञान-प्राप्ति होती है। अतएव यदि इस तरह की शिक्षा से और कोई लाभ न हो तो भी सिर्फ़ ज्ञान-प्राप्ति ही के लिए उसका दिया जाना इष्ट है। यदि लोगों को सिर्फ़ नागरिक अर्थात् शहरवासी बनना हो, या चुपचाप बैठे हुए अपने बही-खातों के पन्ने उलटना हो; या अपने निज के उद्योग-धन्धे को छोड़ कर और कोई काम न करना हो—यदि लोगों को लन्दन के किसी किसी नागरिक की तरह यही मान लेना मुनासिब हो कि किसी बाग़ में हुक़्क़ा या शराब पीते बैठने से बढ़ कर देहातियों के लिए और कोई आनन्ददायक बात ही नहीं—यदि लोगों को किसी किसी तअल्लुक़ेदार या नवाब की तरह यही कल्पना करना हो कि जगल हमारी मृगया-भूमि (शिकारगाह) है; आपही आप उत्पन्न हुई वनस्पति उखाड़ फेंकने के लिए हमारी घास-फूस है; और जितने जानवर हैं उनके सिर्फ़ तीन भेद हैं—शिकार के जानवर, खेती में काम देनेवाले जानवर, और कीड़े-मकोड़े—तो किसी ऐसी चीज का सीखना ज़रूर व्यर्थ है जिससे रुपये-पैसे रखने की गोलक या थैली भरने, या मांस इत्यादि खाने की चीजें रखने का गोदाम परिपूर्ण करने में प्रत्यक्ष मदद न मिलती हो। परन्तु पेट भरने के लिए क़ुलियों की तरह दिन रात काम करने की अपेक्षा यदि दुनिया में कोई और भी अधिक अच्छा कर्तव्य हमारे लिए हो—यदि रुपया पैदा कराने की शक्ति के सिवा हमारे

आस पास की चीज़ों का और भी कोई उपयोग हो सकता हो—यदि विषय-वासना तृप्त करने में अपनी शक्तियों की योजना करने के सिवा उनसे बढ़ कर अच्छे कामों में उनकी योजना करना सम्भव हो—यदि कविता, कला-कौशल, विज्ञान और दर्शनशास्त्र से प्राप्त होनेवाला आनन्द भी कोई आनन्द हो—तो आपही कहिए, कि सृष्टि-सौन्दर्य्य और संसार के अद्भुत अद्भुत पदार्थों को देख कर उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता जो बच्चों में स्वाभाविक होती है उसे उत्तेजना देना उचित है या नहीं? उपयोगिता-तत्त्व का आज कल बड़ा ज़ोर है। प्रत्येक चीज़ की योग्यता या अयोग्यता का परिमाण लोग उसके उपयोगीपन के हिसाब से करते हैं—उपयोगिता की कसौटी पर कस कर करते हैं। परन्तु जो लोग इस संसार में आकर सिर्फ़ स्वार्थ-सेवा करके उसे छोड़ जाते हैं, पर क्षण भर के लिए भी विचार नहीं करते कि यह संसार किस तरह का है, इसकी रचना कैसी है, इसमें क्या क्या पदार्थ हैं, वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। इस बात को हम उन्हीं प्रमाणों से सिद्ध कर सकते हैं जिन प्रमाणों से ऐसे स्वार्थ-सेवी लोग अपने उपयोगिता-तत्त्व को सिद्ध करते हैं। यह बात धीरे धीरे मालूम हो जायगी कि जीवन के नियमों का ज्ञान और सब तरह के ज्ञानों की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है। जीवन के नियम सिर्फ़ शरीर और मन से सम्बन्ध रखनेवाले काम-काजोंही के आधार नहीं हैं; किन्तु घर, द्वार, बाजार, व्यापार, राजनीति और सदाचार से सम्बन्ध रखनेवाले जितने व्यवहार हैं उन सबमें भी वे व्याप्त हैं। उन सबमें भी, किसी न किसी तरह, गर्भित रीति से उनकी व्यापकता ज़रूर है। अतएव इन जीवन-सम्बन्धी नियमों को बिना अच्छी तरह समझे न तो ख़ुद अपने और न सामाजिक कामोंहीं में कोई आदमी अपना वर्ताव ठीक ठीक रख सकता है। अन्त में यह भी मालूम हो जायगा कि जितने सांसारिक पदार्थ इन्द्रिय-विशिष्ट हैं उन सबके लिए भी, यथार्थ में, जीवन-सम्बन्धी वही नियम है। उनके लिए कोई अलग नियम नहीं। सबके लिए एकही नियम है। परन्तु सीधी सादी बातों में उन नियमों के सम्बन्ध का ज्ञान पहले प्राप्त किये बिना कठिन और अटपटी बातों में उनके सम्बन्ध का ज्ञान अच्छी तरह नहीं हो सकता। जब यह बात समझ में आ जायगी तब यह भी समझ में आ जायगी कि बाहर की चीज़ों से सम्बन्ध रखनेवाली जिन बातों के जानने के लिए बच्चा इतनी उत्सुकता दिखाता है उन्हें जानने

में उसकी मदद करके, और लड़कपन में इस तरह ज्ञान-प्राप्त करने की आदत डालने में उसे उत्तेजना देकर, मानों हम भविष्यत् में बच्चों के विद्याभ्यास को उचित रीति पर होने के लिए ज़रूरी सामग्री पहलेही से दे रहे हैं। अथवा यों कहिए कि इस प्रकार बच्चे को कच्ची सामग्री इकट्ठी करने की उत्तेजना देकर मानों हम भविष्यत् में उनसे उस सामग्री का साङ्गोपाङ्ग विधि-विधान कराने का पहलेही से प्रबन्ध कर रहे हैं। अथवा यह कहिए कि हम उसे ऐसी बातें सिखला रहे हैं जिनकी बदौलत, किसी न किसी दिन, वह सांसारिक व्यवहारों और वर्तावों को उचित मार्ग पर ले जानेवाले विज्ञान-शास्त्र के बड़े बड़े और व्यापक नियमों को पूरे तौर पर सहज ही में समझ लेगा।

३१—मानसिक शिक्षा के लिए चित्र बनाना सीखने की जरूरत।

लोगों को धीरे धीरे अब मालूम होने लगा है कि मन को किस तरह की शिक्षा मिलनी चाहिए। अर्थात् मानसिक शिक्षा कैसी होनी चाहिए, यह बात लोगों के ध्यान में आने लगी है। जिन अनेक चिह्नों को देख कर हम ऐसा कह रहे हैं उनमें से एक चिह्न यह है कि चित्र-कला का सिखलाना अब अधिकाधिक शिक्षा का एक अंश माना जाने लगा है। यह बात यहाँ पर एक बार फिर कह देनी चाहिए कि जिस रीति के अनुसार शिक्षा देने के लिए प्रकृति, अध्यापकों से दृढ़ता के साथ लगातार कहती आ रही है उसके अनुसार अन्त में वे अब शिक्षा देने लगे हैं। सब जानते हैं कि अपने आस पास के आदमी, मकान, पेड़ और प्राणि आदि के चित्र बनाने का प्रयत्न बच्चे आपही आप बिना सिखलाये किया करते हैं। इस काम के लिए यदि उन्हें और कोई चीज़ नहीं मिलती तो स्लेट ही पर वे चित्र खींचने लगते हैं, या यदि काग़ज किसी से माँगे मिल गया तो फिर क्या पूछना है। फिर उसी पर वे पेंसिल से चित्र खींचते हैं। जिन चीज़ों को देखने से बच्चों को सबसे अधिक ख़ुशी होती है उनमें से चित्रों की पुस्तक भी एक चीज है। सचित्र पुस्तक खोल कर, आदि से लेकर अन्त तक, सब चित्र दिखाने में उन्हें जो ख़ुशी होती है उसका वर्णन;

नहीं हो सकता। और, दूसरे की नक़ल उतारने—दूसरे का अनुकरण करने—की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति बच्चों में होती है, और बहुत अधिक होती है, इससे उनके मन में तत्काल यह उत्साह पैदा हो जाता है कि वे ख़ुद भी चित्र बनाना सीखें। इस तरह, अद्भुत अद्भुत चीज़ें देख पड़ने पर, उन सबके चित्र बनाने का यत्न करते रहने से बच्चो की ज्ञानेन्द्रियों को अधिकाधिक शिक्षा मिलती जाती है—उनको अपने अपने काम की मश्क होती रहती है। इस अभ्यास की बदौलत हर एक चीज़ को और भी अधिक यथार्थ और पूर्णरीति पर देख-भाल करने की शक्ति उनमें आ जाती है। इस तरह करते करते जाँच, परीक्षा और आलोचना आदि करना ख़ूब अच्छी तरह आ जाता है और फिर भूलें नहीं होतीं। इन्द्रियों के द्वारा जानने लायक़ पदार्थों के गुण-धर्म्मों से सम्बन्ध रखनेवाले अपने आविष्कारों की तरफ़ बच्चे प्रयत्न-पूर्वक हमारा ध्यान खींचते हैं और ख़ुद भी चित्र बनाते हैं। इस तरह, दोनों प्रकार से, जैसी शिक्षा की उन्हें सबसे अधिक ज़रूरत है वही मानो वे हमसे माँगते हैं।

३२—बच्चों को चित्र खींचना सिखलाने की रीति।

सृष्टि की सूचनाओं के अनुसार जैसे अध्यापक लोग इस समय चित्र-कला को शिक्षा का एक अंश समझ उसे लड़कों को सिखलाने लगे हैं उसी तरह यदि वे चित्रविद्या सिखलाने की रीति निश्चित करने में भी सृष्टि की सूचनाओं का ख़याल रखते तो जितना लाभ उन्होंने लड़कों को पहुँचाया है उससे अधिक पहुँचता। पहले पहल किन चीज़ों का चित्र उतारने की बच्चे कोशिश करते हैं? बड़ी बड़ी चीज़ों के, चित्र-विचित्र रंगीन चीज़ो के, ऐसी चीज़ों के जिनसे उन्हें विशेष आनन्द मिलता है—अर्थात् मनुष्यों के, क्योंकि उन्हीं से बच्चे अपने सारे मनोविकार सीखते हैं; गायों और कुत्तों के, क्योकि उनमें बहुतसी मनोरञ्जक और उपयोगी बातें देखकर बच्चे उनको बहुत पसन्द करते हैं; घरों के, क्योंकि बच्चे हमेशा उनको देखते हैं और उनके आकार और जुदा जुदा भाग देख कर आश्चर्य्य करते हैं। इन्हीं चीज़ों के चित्र बनाने की बच्चे पहले पहल कोशिश करते हैं। अच्छा, चित्र बनाने में जो जो काम करने पड़ते हैं उनमें कौन काम ऐसा है जिसे करने में बच्चों को सबसे अधिक आनन्द होता है? रंग भरने में।

यदि कागज़ और पेंसिल से अच्छी और कोई चीज़ नहीं मिलती तो इन्हीं दो चीज़ों से वे काम चला लेते हैं। पर यदि उनको कहीं रंगों का बकस और ब्रश, अर्थात् रंग देने का क़लम, मिल गये तो मानों उनको ख़ज़ाना मिल गया। चित्र बनाने के लिए इन चीज़ों को वे अनमोल समझते हैं। चित्र की आकृति की रेखायें बनाने, अर्थात् खाका खींचने, की अपेक्षा रंग भरने की तरफ़ वे अधिक ध्यान देते हैं। रंग भरना वे पहले दरजे का काम समझते हैं और रेखा खींचना दूसरे दरजे का; सिर्फ़ रंग भरने हीं के लिए वे रेखा खींचने की ज़रूरत समझते हैं। और, यदि, किसी किताब के चित्रों में रंग भरने की इन्हें आज्ञा मिल जाय तो उनके आनन्द का कहीं ठौर ठिकाना हीं न रहे। पर चित्र-कला के अध्यापक लड़कों से पहले रेखायें खिँचवा कर आकृतियाँ बनवाते हैं और फिर उनमें रंग भरवाते हैं। इससे उनको ये बातें सुन कर ज़रूर आश्चर्य्य होगा। उन्हें हमारी बातें उपहासास्पद मालूम होंगी। वे ऐसी बातें सुन कर हँसेंगे। क्योंकि आकृति बनाना सिखलाने के पहले वे लकीरें खींचना सिखलाते हैं; तब कहीं रंग भरवाते हैं। पर हमें विश्वास है कि चित्र-कला सिखलाने की जो रीति हमने यहाँ पर वर्णन की वही सच्ची और उचित रीति है। जैसा पहलेही इशारे के तौर पर बतलाया जा चुका है, बच्चों को रंग का ज्ञान पहले होता है आकार का पीछे। यह बात मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार है। इसे शुरू से ही समझ लेना चाहिए और बच्चों को आकार बनाना सिखलाने के पहले रंग भरना सिखलाना चाहिए। इस बात को भी शुरू ही से ध्यान में रखना चाहिए कि जिन चीज़ों की नक़ल की जाय (अर्थात् जिनके चित्र बनाये जायँ) वह असल से मिलती हुई हो। रंगों को देखकर बच्चोंहीं को नहीं, किन्तु बहुत आदमियों को भी, उम्र भर, विशेष आनन्द मिलता है। बच्चेही नहीं, जवान और बुड्ढे तक बहुधा रंगीन चीज़ों को अधिक पसन्द करते हैं। अतएव जो चित्र खींचने में कठिन हों और देखने में भी अच्छे न लगें उन्हें खींचना सिखलाते समय, प्राकृतिक उत्तेजना के तौर पर, बच्चों से कह देना चाहिए कि आगे तुम्हें इन्हीं चित्रों में रंग भरना होगा। लकीरें खींचने और आकृति बनाने में, दिल न लगने के कारण, जो अधिक मेहनत पड़ती है उसका परिहार रंग भरने की ख़ुशी से होना चाहिए। रंग भरने को उस मेहनत का इनाम समझना चाहिए। जो चीज़ें देखने में अच्छी मालूम होती

हैं उनका चित्र बनाने की कोशिश बच्चे ख़ुदही करते हैं। इसमें उन्हें उत्तेजना देते रहना चाहिए। ऐसा करने से यह लाभ होगा कि जैसे जैसे बच्चों का तजरिबा बढ़ता जायगा तैसे तैसे सीधी सादी श्रोर हमेशा देख पड़नेवाली चीज़ें भी उन्हें अच्छी मालूम होने लगेंगी। अतएव वे उनके भी चित्र बनाने का उद्योग करेंगे। इस तरह करते करते चित्र बनाने में उनका हाथ बैठ जायगा श्रोर असल चीज़ों का साम्य उनके बनाये हुए चित्रों में अधिकाधिक आने लगेगा। आरम्भ मे बच्चे जो चित्र अपने हाथ से बनाते हैं उनमें बहुत कम असलियत होती है। वे बहुतही अस्पष्ट श्रोर बेकंड़े के होते हैं। परन्तु यह अस्पष्टता—यह भद्दापन—परिणतिवाद के नियमों के अनुसारही होता है। अतएव ऐसे चित्रों को बेपरवाही की दृष्टि से न देखना चाहिए; उनकी तरफ़ दुर्लक्ष्य न करना चाहिए। चित्रों के आकार चाहे जैसे बेढंगे हों, कुछ परवा नहीं। रंग भरने मे चाहे जितना भद्दापन आ गया हो—उसे देखकर चाहे चक्षुशूलही क्यो न पैदा होता हो—तो भी कुछ परवा नहीं। क्योंकि इस समय यह नहीं देखा जाता कि बच्चा अच्छे चित्र बनाता है या नहीं। देखा यह जाता है कि वह अपनी मानसिक शक्तियों की उन्नति करता है या नहीं—उसका हाथ बैठता जाता है या नहीं—पहले पहल बच्चे को अपनी उँगलियाँ अपने क़ाबू में रखनी पड़ती हैं श्रोर आकार का भी थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है—अर्थात् आकार-साम्य की कल्पना का भी थोड़ा बहुत अन्दाज़ करना पड़ता है। आरम्भ मे बस यही बातें काफ़ी समझी जाती हैं। इस उद्देश की सिद्धि के लिए इस तरह का अभ्यासही सबसे उत्तम है। क्योंकि इस अभ्यास में बच्चे स्वभावही से आपही आप प्रवृत्त हो जाते हैं। बिना सिखलायेही वे इस तरह का अभ्यास करने लगते हैं श्रोर इसमें उनका मन भी लगता है। यह सच है कि बचपन में यथानियम चित्र खींचना सिखलाना मुमकिन नहीं। पर इससे क्या यह अर्थ निकलता है कि यदि बच्चे आपही आप चित्र-बनाने की कोशिश करें तो हम उन्हें वैसा करने से रोकें या उनको अपेक्षित मदद देने से इनकार करदें? नहीं, ऐसा करना मुनासिब नहीं। हमें मुनासिब है कि इस तरह बच्चो को अपनी ज्ञानेन्द्रियों श्रोर हाथो का उचित उपयोग करते देख हम उनको उत्साहित करें श्रोर उन्हें उस मार्ग पर ले जायँ जिस पर चलने से उन्हे इस काम मे सफलता होगी। इस विषय मे उनके मार्गदर्शक

बनना—उन्हें सुमार्ग दिखलाना—ही हमारा कर्तव्य है। यदि हम बच्चों को विशेष प्रकार की लकड़ियों के सस्ते आकारों पर रंग भरने और सीधे सादे नक़शों पर देशों की मर्यादा-सूचक रंगी रेखायें खींचने दें तो उससे वे ख़ुशी ख़ुशी रंग का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। यही नहीं, किन्तु इससे उनको पदार्थों और देशों के आकार का भी अनायासही थोड़ा बहुत ज्ञान हो जायगा और रंग भरने में क़लम या ब्रश को धीरे धीरे बराबर एकसा चलाना भी थोड़ा बहुत आ जायगा। बच्चों को भले बुरे चित्र बनाने का जो स्वाभाविक चाव होता है वह यदि, चित्र बनाने के लिए मनोरञ्जक और चित्तवेधक चीज़ें देकर, वैसाही बना रक्खा जाय तो, आगे, यथानियम चित्र-कला सीखने का समय आने पर, वे उसके लिए ज़रूर पहलेही से तैयार रहेंगे। पर यदि ऐसा न किया जायगा तो चित्र-कला सीखने के इस सुभीते का और किसी तरह होना तब तक सम्भव नहीं। इससे समय की भी बचत होगी और अध्यापक और विद्यार्थी दोनो को तकलीफ़ भी न उठानी पड़ेगी।

३२—चित्र-विद्या की वर्तमान प्रणाली और उसके दोष।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह तत्काल ही मालूम हो जायगा कि चित्रों की नकल उतारना हमें पसन्द नहीं। प्रत्यक्ष पदार्थ को न देखकर उसके चित्र की कापी करते बैठना हम अच्छा नहीं समझते। और, सरल, वक्र और मिश्र रेखाओं के बनाने की उस नियमानुकूल शिक्षा को तो हम और भी नहीं पसन्द करते जिससे कोई कोई अध्यापक चित्र-कला का आरम्भ करते हैं। कोई कोई अध्यापक इन रेखाओं की व्याख्या बतला कर पहले ही से बच्चों को यथानियम चित्र बनाना सिखलाते हैं। यह तरीका अच्छा नहीं। यह बहुत बुरा है। सोसायटी आफ़ आर्ट्स (कला-विज्ञान-समाज) ने अभी हाल में कला-शिक्षा-सम्बन्धिनी एक पुस्तक-मालिका निकाली है। उसमें एक पुस्तक ऐसी है जिसमें चित्र-विद्या की प्रारम्भिक शिक्षा का वर्णन है। खेद की बात है कि सोसायटी ने इस पुस्तक में शुरू शुरू में पढ़ाई जानेवाली चित्र-विद्या की एक पुस्तक की प्रशंसा की है। इस

विषय की जितनी पुस्तकें हमने देखीं उन सबमें, जहाँ तक सिद्धान्तों से सम्बन्ध है, यह पुस्तक बहुत ही बुरी है। इसे जॉन ब्यल नामक एक सङ्ग-तराश या मूर्ति गढ़ने वाले ने बनाया है। इसका नाम है—"आउट लाइन फ्राम आउट लाइन् ऑर फ्राम दि फ्लैट" अर्थात् "समतल से या ढाँचे से ढाँचा"। इस पुस्तक की भूमिका में लिखा हुआ है कि इसके बनाने का उद्देश "विद्यार्थियों को सीधी सादी, पर तर्कशास्त्रानुसारिणी शिक्षा की रीति सुलभ कर देना है"। इस उद्देश की सिद्धि के लिए उसमे कुछ परिभाषायें इस तरह दी हुई हैं:—

"चित्र-विद्या में सादी लकीर उस पतले चिह्न को कहते हैं जो एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक खींचा जाता है"।

"चित्र-विद्या में, अपने आकारों के अनुसार, लकीरों या रेखाओं के दो वर्ग हैं"।

"१—सीधी लकीर या सरल रेखा उस चिह्न को कहते हैं जो दो बिन्दुओ (उदाहरणार्थ अ और ब) के बीच थोड़ी से थोड़ी दूरी में व्याप्त हो"।

"२—टेढ़ी लकीर या वक्र रेखा उस चिह्न को कहते हैं जो दो बिन्दुओं (उदाहरणार्थ स और द) के बीच थोड़ी से थोड़ी दूरी में न व्याप्त हो'।

इसी तरह यह भूमिका जैसे जैसे बढ़ती गई है तैसे तैसे दिगन्तसम्पात रेखा, समकोणगामी रेखा, वक्र रेखा, अनेक प्रकार के कोने, और कोनों और रेखाओं के मेल से बनने वाली अनेक प्रकार की आकृतियों की परिभाषायें दी गई हैं। सारांश यह कि यह पुस्तक चित्र-कला सिखलाने की पुस्तक नहीं, किन्तु आकृतियों का एक व्याकरण-शास्त्र है—ऐसा व्याकरण-शास्त्र जिसमें अभ्यास के लिए पाठ भी दिये हुए हैं। इस तरह मूलतत्त्वों के पृथ-करण से भरे हुए इस ख़ुश्क तरीक़े से—इस सूखी साखी नीरस रीति से—शिक्षा का आरम्भ करना मानो जो रीति भाषा सिखलाने में निरुपयोगी समझी गई है उसी का चित्र-कला सिखलाने में फिर उपयोग करना है! इस तरीक़े को काम में लाना मानो यह कहना है कि हमें पहले अनिश्चित बातें न सीख कर निश्चित बातें ही सीखनी चाहिए। क्या ख़ूब तरीक़ा

है! अथवा यों कहिए कि धर्म्मी का ज्ञान होने के पहले ही धर्म्म का ज्ञान होना चाहिए, या तजरिबे से अपने ज्ञान की पहले वृद्धि न करके वैज्ञानिक रीति से ही ज्ञानार्जन प्रारम्भ करना चाहिए। वाह! यह तरीक़ा शिक्षा प्राप्त करने के स्वाभाविक ग्रैार सच्चे तरीक़े का बिलकुल ही उलटा है। यह उलटापन इतना स्पष्ट है कि यहाँ पर उसके दोहराने की कोई ऐसी ज़रूरत ही नहीं। किसी भाषा में बातचीत करना सीखने के पहले उसके शब्दों के वर्ग ग्रैार लक्षण आदि लड़कों से याद कराने की जो चाल पड़ गई है उसके विषय में किसी ने क्या ही अच्छा कहा है। वह कहता है कि यह चाल वैसी ही ग्रयौक्तिक है जैसी कि चलना फिरना सीखने के पहले टाँगों की हड्डियों, पट्ठों ग्रैार रगों के विषय में पाठ पढ़ाते बैठने की चाल ग्रयौक्तिक है! चित्रकला सिखलाने के पहले जिन रेखाओं से अनेक प्रकार के आकार बनते हैं उनके नाम ग्रैार परिभाषायें सिखलाना भी इसी तरह की चाल है। इसमें कोई ग्रैार विशेष युक्ति या लाभ नहीं। इन बखेड़ों से बच्चे घबरा जाते हैं—उनका जी ऊब उठता है। ग्रैार इनके सिखलाये जाने की ज़रूरत भी नहीं। ऐसी बातों का फल यह होता है कि आरम्भही में चित्र-कला की शिक्षा अरोचक हो जाती है। फिर यह सब बखेड़ा उन सब बातों के सिखलाने के लिए किया जाता है जो अभ्यास करते करते आपही आप बच्चे सीख जाते हैं ग्रैार उन्हें मालूम भी नहीं पड़ता कि वे उन्हें सीख रहे हैं। अपने आस पास के आदमियों का बोलना सुन कर जैसे बच्चा साधारण बोल चाल के शब्दों का अर्थ सहजही समझ लेता है, कोषों में उनका अर्थ ढूंढ़ने की उसे ज़रूरत नहीं पड़ती, वैसेही अनेक प्रकार की चीज़ों, तसवीरों ग्रैार ख़ुद अपने बनाये हुए चित्रों के विषय में वार्तालाप सुन कर कितनेही वैज्ञानिक शब्दों को वह बिना किसी प्रकार का यत्न किये सीख लेगा, ग्रैार ख़ुशी से सीख लेगा। यह नहीं कि उनका सीखना उसे नागवार मालूम हो। यही शब्द यदि उसे चित्रकला की शिक्षा के शुरूही में रटाये जाते हैं तो वे बहुत गूढ़ मालूम होते हैं ग्रैार उन्हें याद करने में बच्चे का जी भी नहीं लगता।

३४—चित्रकला सिखलाने के प्रारम्भिक नियम।

जैसी शिक्षा होनी चाहिए उसके विषय में साधारण नियम पहलेही दिये जा चुके हैं। यदि उन नियमों के अनुसार शिक्षा देना मुनासिब हो तो बचपन में जब बच्चे आपही आप चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं तभी से उनको चित्र-विद्या सिखलाने का प्रारम्भ होना चाहिए, और यह शिक्षा बराबर जारी रखनी चाहिए। बचपन में लड़के चित्र बनाने का जो आपही आप उद्योग करते हैं उसे उत्तेजना देनी चाहिए। बच्चों का यह उद्योग सर्वथा उत्साह देने के लायक़ है। इस तरह आपही आप चित्र खींचने का उद्योग करते करते जब उनका हाथ कुछ जम जायगा और आकार-शुद्धि का यथेष्ट ज्ञान हो जायगा तब मोटे तौर पर यह बात उनकी समझ में आ जायगी कि प्रकाश में मूर्तिमान् पदार्थों के तीन विस्तार या परिमाण दिखाई देते हैं। इसके बाद, चीनवालों की तरह, काग़ज़ पर चित्र बनाने के प्रयत्न कई दफ़े निष्फल होने पर, यह बात साधारण रीति पर उनकी समझ में साफ़ साफ़ आने लगेगी कि हमें किस तरह काम करना चाहिए—हमें किस तरह और कैसा चित्र बनाना चाहिए। इसके साथही साथ यथानियम चित्र बनाना सीखने की इच्छा भी उनके मन में जागृत हो उठेगी। उस समय उन यंत्रो की सहायता से उन्हें चित्रकला-सम्बन्धी प्रारम्भिक शिक्षा शुरू करनी चाहिए जिनका काम, पदार्थों को प्रत्यक्ष देख कर वैज्ञानिक रीति से चित्र बनाना सिखलाने में, कभी कभी पड़ता है। यह सुन कर बहुत लोगो को आश्चर्य्य होगा; पर तजरिबे से मालूम हो जायगा कि यह रीति साधारण बुद्धि के किसी भी लड़के या लड़की की समझ में आजाने लायक़ है। यही नहीं, किन्तु यह बात भी ध्यान में आ जायगी कि इस रीति से चित्र-कला सीखने में बच्चो का मन भी लगता है। काँच के एक चिपटे टुकड़े को चौखटे में इस तरह लगाइए कि वह मेज़ पर लम्बी रेखा के रूप में खड़ा हो सके। फिर उसे विद्यार्थी के सामने कीजिए और उसके दूसरी तरफ़ कोई पुस्तक या वैसीही और कोई साधारण चीज़ रखिए। तब विद्यार्थी से कहिए कि वह अपनी दृष्टि को स्थिर रख कर काँच पर ऐसी जगह स्याही से बिन्दु बनावे जिनसे या तो उस चीज़ के कोने छिप जायँ

याँ वे बिन्दु उसके कोनों के ठीक आमने सामने हों। तब उससे कहिए कि लकीरें खींच कर वह उन बिन्दुओं को मिला दे। ऐसा करने से उसे मालूम होगा कि उसकी खींची हुई लकीरों से या तो वह चीज़ बिलकुल ढक गई है या वे लकीरें हीं उस चीज की आकृति-रेखा या ढाँचा हो गई हैं। इसके बाद उस काँच के दूसरी तरफ़ कागज़ रख कर उसे देखने को कहिए। इस तरह उसे समझा दीजिए कि जो लकीरें उसने खींची हैं उनसे वह चीज़ ठीक उसी तरह दिखलाई गई है जिस तरह कि उसने उसे देखा था। इससे यह बात भी उसके ध्यान में आ जायगी कि वे लकीरें ठीक उस चीज़ के आकार सी ही नहीं जान पड़तीं; किन्तु उन्हें उस चीज के आकार का जरूर होनाही चाहिए; क्योंकि उसने उस चीज की आकृति या ढाँचे को देख कर ही उन लकीरों को खींचा है। इसके बाद काँच पर से कागज़ को हटा कर वह अपने इस विश्वास को और भी दृढ़ कर सकता है कि वे लकीरें सचमुचही उस चीज की आकृति से पूरे तौर पर मिलती हैं या नहीं। विद्यार्थी को यह बात बिलकुलही नई और आश्चर्यजनक मालूम होगी। इससे उसे इस बात का प्रत्यक्ष तजरिबा हो जायगा कि किसी समतल जगह पर विशेष विशेष दिशाओं की तरफ़ खींची गई विशेष विशेष प्रकार की (अर्थात् न्यूनाधिक लंबाई की) लंबी लकीरों से ऐसी लकीरें बनाई जा सकती हैं जिनकी लम्बाई और जिनकी दिशायें, दूरी के हिसाब से, जुदा जुदा हैं। धीरे धीरे उस चीज़ की स्थिति में अन्तर करते रहने से यह बात भी विद्यार्थी को बतलाई जा सकती है कि किस तरह कोई कोई लकीरें कम होते होते बिलकुल ही लुप्त हो जाती हैं और किस तरह दूसरी लकीरें दृष्टिगोचर होकर बढ़ती जाती हैं। समान्तराल रेखाओं का एक-केन्द्राभिसारित्व ही नहीं; किन्तु पदार्थों को प्रत्यक्ष देख कर उनका चित्र बनाने की जो विद्या है उसकी प्रायः सभी मुख्य मुख्य बातें, इसी तरह, समय समय पर, प्रत्यक्ष तजरिबे से सिद्ध करके विद्यार्थी को बतलाई जा सकती हैं। यदि सब काम, बिना दूसरे की मदद के, अपनेहीं आप करने का स्वभाव विद्यार्थी का पड़ गया है तो सूचना देने हीं से किसी चीज़ को सिर्फ़ आँख से देखकर उसका ढाँचा खींचने की वह ख़ुशी से कोशिश करेगा। और सम्भव है कि थोड़ेही समय में, बिना किसी की मदद के, प्रायः वैसेही चित्र बनाने का उत्साह उसमें जागृत हो जाय जैसे चित्र का

ढाँचा उसने कांच पर पहले बनाया था। सारांश यह कि दूसरों के बनाये हुए चित्रों की, निर्जीव कलो की तरह, बेसमझे बूझे नक़ल करने की जगह इस सीधी सादी और मनोरञ्जक रीति से (जो गूढ़ न होकर बुद्धि को बढ़ानेवाली है) विद्यार्थी को चीज़ों की आकृतियों, अर्थात् ढाँचों, के दृश्यो का ज्ञान हो जाता है और उन्हें कागज़ पर दिखलाने की योग्यता भी, क्रम क्रम से, उसमें आ जाती है। इनके सिवा इस रीति से शिक्षा देने में और भी फ़ायदे हैं। एक फ़ायदा तो यह है कि इतनी छोटी उमर मे विद्यार्थी को चित्र का सच्चा ज्ञान थोड़ीही मेहनत से हो जाता है और उसे मालूम भी नहीं पड़ता कि वह चित्रकला का ज्ञान प्राप्त कर रहा है। जब कोई पदार्थ एकही धरातल में आँख के सामने लाये जाते हैं तब वे जैसे मालूम पड़ते हैं उस दशा के ढाँचे या ख़ाके का नाम चित्र है। इस बात को, पूर्वोक्त रीति से, विद्यार्थी बहुत अच्छी तरह सीख जाता है और उसे जान नहीं पड़ता कि इसके सीखने मे उसने कुछ भी परिश्रम किया है। दूसरा फ़ायदा यह है कि जब विद्यार्थी कुछ बड़ा होने पर वैज्ञानिक रीति से चित्र-कला सीखने के योग्य हो जाता है तब उसे पहले ही से तर्कशास्त्र के आधार पर बने हुए चित्र-विद्या के मूल-तत्त्व, पूरे तौर पर, मालूम रहते हैं।

३५—ज्यामितिशास्त्र की प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए वाइज़ साहब की बतलाई हुई रीति।

वाइज़ साहब ने एक पुस्तक लिखी है। उसमे उन्होने यह बात बहुतही अच्छी तरह से बतलाई है कि ज्यामितिशास्त्र के मूल-सिद्धान्तों का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने की कौन सी रीति सबसे उत्तम है। इससे उस पुस्तक से नीचे का अवतरण दिये बिना हम नहीं रह सकते। वाइज़ साहब कहते हैं:—

"अङ्कगणित सीखते समय लड़कों को घन पदार्थों से काम लेने की आदत रहती ही है। ज्यामितिशास्त्र, अर्थात् रेखागणित, के मूलतत्त्व सीखने में भी उनसे घन पदार्थों का उपयोग कराइए। मैं तो इस शास्त्र की प्रारम्भिक शिक्षा को घन पदार्थों से ही शुरू करना अच्छा समझता हूँ। यह रीति सर्व-साधारण रीति की उलटी है। पर इससे कोई हानि नहीं, उलटा

लाभ है । इस रीति के अनुसार शिक्षा देने से असङ्गत परिभाषायें याद कराने और कल्पित बिन्दु, रेखा और धरातल आदि के बेहूदा लक्षण सिखलाने की सारी तकलीफ़ें बच जाती हैं । × × × × घन आकृतियों में—घन पदार्थों में—रेखागणित के मुख्य मुख्य अनेक मूल सिद्धान्त पाये जाते हैं । उनमें बिन्दु, सरल रेखायें, समान्तराल रेखायें, कोण, समचतुर्भुज आदि सब चीज़ें एकही साथ साफ़ साफ़ देख पड़ती हैं । इन घन पदार्थों के बहुत से टुकड़े करके भी दिखलाये जा सकते हैं । अङ्क-गणित सीखने में लड़कों को इन टुकड़ों से पहलेही से पहचान हो चुकी होती है । इससे रेखागणित सीखने में वे उनके जुदा जुदा भागो की तुलना करके उनमें से प्रत्येक के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं । × × इसके बाद वे गोलो की तरफ़ ध्यान देते हैं जिससे उन्हें वृत्तों और साधारण रीति पर वक्र रेखाओं आदि से सम्बन्ध रखनेवाली प्रारम्भ की बातों की थोड़ी बहुत कल्पना हो जाती है ।"

"इस प्रकार घन पदार्थों का मतलब भर के लिए ज्ञान हो चुकने पर वे समतल या धरातल सम्बन्धिनी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं । यह बात सहज में हो सकती है । इस परिवर्तन में—इस तब्दीली में—कोई कठिनता नहीं । हम इसका एक उदाहरण देते हैं । घन पदार्थों के पतले पतले टुकड़े काटिए । उनको एक काग़ज़ पर रख दीजिए । ऐसा करने से जितने टुकड़े किये गये होंगे उतनीहीं समकोण आकृतियाँ लड़कों को देख पड़ेंगी । इसी तरह गोले इत्यादि और आकृतियों की भी व्यवस्था की जा सकती है । इस प्रकार लड़कों को मालूम हो जायगा कि सम-धरातलो की उत्पत्ति कैसे होती हैं और प्रत्येक घन पदार्थ से धरातल बनाना भी उन्हें सहज ही में आ जायगा ।"

"इतना ज्ञान प्राप्त कर लेने पर समझना चाहिए कि लड़कों को रेखागणित की वर्णमाला आ गई और उसे वे बाँच लेना भी सीख गये । इसके अनन्तर उन्हें इस वर्णमाला का लिखना सीखना चाहिए ।"

"सबसे सीधा, अतएव सबसे पहला, काम अब यह है कि समतलों को एक काग़ज़ पर रख कर उनके चारों तरफ़ पेन्सिल फेर दी जाय । इस तरह जब बहुत दफ़े पेन्सिल फेरी जा चुके तब समतल उठा कर कुछ दूर

पर रख दिये जायँ और उन्हें देख कर उनकी नक़ल करने के लिए लड़कों से कहा जाय। यह अभ्यास इसी तरह कुछ दिन तक जारी रक्खा जाय"।

३६—वाइज़ साहब की रीति से चित्र-कला सिखलाने की सिफ़ारिश और उससे होनेवाले फ़ायदे।

"जिस रीति से शिक्षा देने की सिफ़ारिश वाइज़ साहब ने की है उसी तरह की किसी रीति से ज्यामिति-शास्त्र के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान हो चुकने पर उसके आगे विद्यार्थी से इस बात की जाँच का अभ्यास आँख से देख कर कराया जाय कि जो चित्र, आकृतियाँ या शकलें उसने खींची हैं वे ठीक हैं या नहीं। अर्थात् निगाह से देख कर शकलों के ठीक होने या न होने की परीक्षा उससे कराई जाय। ऐसा करने से विद्यार्थी के मन में इस रीति से ठीक ठीक चित्र बनाना सीखने की इच्छा ज़रूर उत्पन्न हो जायगी और चित्र बनाने में जो जो कठिनाइयाँ पड़ती हैं वे भी अच्छी तरह उसके ध्यान में आ जायँगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कारीगर इत्यादिकों ने घरों की नीव और अहातों के क्षेत्रफल आदि की ठीक ठीक माप करने के लिए जो तरीके निकाले थे उन्हीं से ज्यामिति-शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। इस शास्त्र के नाम से भी यही बात झलकती है। उसका अर्थ ही (जि = पृथ्वी और मीटरो = माप) ऐसा है। और इस शास्त्र के सिद्धान्त सिर्फ़ इसलिए इकट्ठा किये गये थे कि उनका तत्काल उपयोग हो सके। अतएव इस विषय के जो सिद्धान्त विद्यार्थियों को सिखलाये जायँ वे उसी तरह की बातों का सम्बन्ध बतला कर सिखलाये जाने चाहिए। घर बनाने के लिए मोटे कागज़ के टुकड़े काटने में, रंग भरने के लिए तरह तरह की मनोहर शकलें खींचने में, और इसी तरह के और भी ऐसे अनेक उपयोगी कामों में, जिन्हें कल्पना-प्रवीण अध्यापक अपनी बुद्धि से निकाले, यदि विद्यार्थी का थोड़ा सा समय ख़र्च किया जाय तो उससे बहुत फ़ायदा हो। जिस तरह मकान बनाना सीखने वाले कारीगरों को कुछ समय तक पहले आज़मायशी काम करने पड़ते हैं उसी तरह आज़मायश के तौर पर पहले पहल विद्यार्थियों से भी काम लेना चाहिए। इस तरकीब से विद्यार्थियों को इस बातका तजरिबा हो जायगा कि सिर्फ़ अपनी इन्द्रियों की मदद

से कामयाबी होना कठिन है। अर्थात् बिना और किसी प्रकार की मदद के सिर्फ़ अपनी ज्ञानेन्द्रियों के भरोसे काम करने में जो कठिनाइयाँ आती हैं उन को वे तजरिबे से अच्छी तरह जान लेंगे। इस बीच में इन्द्रियों से काम लेने की महत्त्व-पूर्ण शिक्षा मिल चुकने पर जब विद्यार्थियों की उमर कम्पास (परकार) से काम लेने लायक़ हो जाय तब उन्हें कम्पास दिया जाय। उससे विद्यार्थी यह जान सकेंगे कि आँख से देख कर उन्होंने जो अन्दाज़ किये थे—जो अनुमान बाँधे थे—वे कहाँ तक ठीक हैं। कम्पास का वे उचित आदर करेंगे; परन्तु उससे उन्हें सिर्फ़ इतना ही ज्ञान हो सकेगा कि उनके किये हुए अनुमान लगभग ठीक हैं। तब भी उन्हें इस बात की कठिनाई का सामना करना पड़ेगा कि किस तरकीब से वे अपने अनुमानों को बिलकुल निर्दोष करें—किस तरह वे काम करें जिसमें उनकी अन्दाज़ की हुई बातों में कुछ भी अन्तर न पड़े। इस सन्देहपूर्ण अवस्था में उनको कुछ और अधिक समय तक रखना चाहिए। इसका कारण एक तो यह है कि इस समय उनकी उमर इतनी कम होती है कि वे आगे की अधिक महत्त्व-पूर्ण बातें समझ नहीं सकते। दूसरा कारण यह है कि उनके ध्यान में यह बात और भी अच्छी तरह आजानी चाहिए कि सुव्यवस्थित रीति से काम करने के लिए कुछ और भी उचित साधनों की ज़रूरत है। यदि ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग को दिन का दिन मनोरञ्जक और सुखदायक बनाना इष्ट हो और, यदि, मनुष्य-जाति की प्रारम्भिक ज्ञानोन्नति की तरह, बच्चो को बाल्यावस्था में विज्ञान की शिक्षा सिर्फ यह समझ कर दी जाती हो कि उसकी मदद से कला-कौशल की उन्नति होती है तो यह स्पष्ट है कि ज्यामिति-शास्त्र सीखना शुरू करने के पहले बहुत दिन तक उन कामों का अभ्यास करना चाहिए जिन्हें करने में इस शास्त्र का उपयोग और इसकी बदौलत सुभीता होता है। देखिए यहाँ भी हमारी मार्ग-दर्शक प्रकृति ही है। कागज़ कतर कतर कर उससे अनेक तरह की चीजें बनाने का स्वभाव लड़कों को बचपन ही से होता है। यह स्वभाव, ऐसा वैसा नहीं, बहुत प्रबल होता है। यदि उनके इस स्वभाव को उत्तेजना दी जाय, और यदि उन्हें यह बतला दिया जाय कि इन कामों को किस तरह करना चाहिए, तो इससे वैज्ञानिक बातों के जानने का सिर्फ़ मार्ग ही न साफ़ हो जायगा, किन्तु हाथ से काम

करने के उन गुणों की भी उन्नति होगी जो बहुत आदमियों में प्रायः बिलकुल ही नहीं पाये जाते।

३७—ज्यामिति-शास्त्र की शिक्षा देने की रीति।

जब विद्यार्थियों में कल्पना और देख-भाल की शक्ति यथेष्ट जागृत हो जाय तब उन्हें प्रयोगात्मक ज्यामिति-शास्त्र सिखलाया जा सकता है। उस समय इस शास्त्र के प्रश्नों को शास्त्रीय रीति से न सिद्ध कराना चाहिए—असली सबूत देकर प्रश्नों को हल कराने की शिक्षा न देना चाहिए—किन्तु सिर्फ़ विशेष विशेष प्रयोग करा कर विद्यार्थियों से प्रश्नों का उत्तर दिखवाना चाहिए। जिस तरह और सब शिक्षा-प्रणालियों में फेरफार किये जाते हैं वैसे ही इसमें भी करने चाहिए। पर इस तरह के फेरफार या परिवर्तन निश्चयपूर्वक पहले ही से करना मुनासिब नहीं; उन्हें यों ही सहज स्वभाव आकस्मिक रीति से होने देना चाहिए। अर्थात् किसी नई बात के सम्बन्ध में शास्त्र के अनुसार नियम नियत करके उस बात को सिखलाने की अपेक्षा, मौक़ा आने पर यों ही उसे थोड़ी थोड़ी सिखलाना अच्छा होता है। ज्यामिति-शास्त्र की शिक्षा यहाँ तक पा चुकने पर भी विद्यार्थियों के हाथ से शकलें बनवाना बन्द न करना चाहिए। प्रयोगपूर्वक ज्यामिति की शिक्षा, विद्यार्थियों से काम कराकर—उनके हाथ की कारीगरी का सम्बन्ध दिखलाकर—देनी चाहिए। विद्यार्थियों को काग़ज़ का एक पुट्ठा और एक घन समभुजत्रिकोणाकृति देकर उस पुट्ठे को काट कर वैसी ही एक आकृति बनवाना उनके लिए एक विशेष मनोरंजक काम होगा। अतएव इस तरह की आकृतियाँ बनवा कर ज्यामिति-शास्त्र की शिक्षा शुरू करना बहुत अच्छा है। पूर्वोक्त समभुजत्रिकोणाकृति बनाने में विद्यार्थियों को यह बात सहज ही में मालूम हो जायगी कि विशेष विशेष दिशाओं में क्रमपूर्वक रख कर जुदा जुदा चार समभुजत्रिकोण बनाने की ज़रूरत है। इस काम को यथानियम ठीक तौर पर करने की रीति न मालूम होने के कारण त्रिकोणों के अपने अपने स्थान पर रक्खे जाने पर विद्यार्थियों को झट मालूम हो जायगा कि उनकी भुजायें परस्पर ठीक नहीं बैठतीं और उनके कोने भी ऊपर की तरफ़ ठीक ठीक नहीं मिलते। इस समय दो वृत्त या घेरे खींच कर उनमें प्रत्येक से एक एक त्रिभुज बनाने की पूर्ण शुद्ध रीति उन्हें समझाई जानी चाहिए।

ऐसा करने से अन्दाज लगाने या अनुमान करने की जरूरत न पड़ेगी; ठीक ठीक त्रिभुज बन जायँगे। तब विद्यार्थियों के ध्यान में यह बात आ जायगी कि हमें पहले शुद्ध रीति से त्रिभुज बनाना न आता था। अतएव उसके बनाने की इस यथानियम रीति को वे बड़े महत्त्व की समझ कर उसकी क़दर करेंगे। इस तरह उदाहरण द्वारा ज्यामिति-शास्त्र की रीति समझा देने के इरादे से सिर्फ़ पहले प्रश्न को हल करने में विद्यार्थियों की मदद करनी चाहिए। आगे के प्रश्न जिस तरह उन से बनें उस तरह हल करने के लिए उन्हें छोड़ देना चाहिए। फिर मदद की ज़रूरत नहीं। सरल रेखा के दो भाग करना, लम्ब डालना, समचतुर्भुज बनाना, कोण काटना, एक दी हुई रेखा को देख कर समान्तराल रेखायें खींचना और षट्कोण बनाना आदि ऐसे प्रश्न हैं जो थोड़ी ही मेहनत से वे हल कर सकेंगे। इसके बाद उन्हें धीरे धीरे विशेष कठिन प्रश्न हल करने के लिए देने चाहिए। और यदि उनको किसी अच्छे प्रबन्धकर्त्ता या पथ-दर्शक से काम पड़ा तो वे इस तरह के सारे प्रश्न, बिना किसी की मदद के, थोड़ी देर में सोच समझ कर, आपही आप हल कर लेंगे। जिन्होंने पुरानी पद्धति के अनुसार शिक्षा पाई है उनमें से कितने ही मनुष्यों को हमारी बात सच न मालूम होगी। उन्हें हमारा कथन सुन कर ज़रूर सन्देह होगा। परन्तु हमारा कहना बिलकुल सच है। हम अपनी बात के प्रमाण में उदाहरण दे सकते है। वे उदाहरण भी थोड़े नहीं, बहुत है। और यह भी नहीं कि वे किसी विशेष स्थिति से ही सम्बन्ध रखते हों। वे सर्व-साधारण हैं। हमने लड़कों को एक क्लास को इस तरह के प्रश्नो के हल करने में मग्न होते और हफ़्ने भर में ज्यामिति-शास्त्र की शिक्षा वाले दिन के आने की प्रतीक्षा में उत्कण्ठित देखा है। हफ़्ते भर में वे इसी दिन की शिक्षा को सबसे अधिक मनोरंजक समझते थे और ज्यामिति के प्रश्नो के सुलझाने में दिलोजान से ग़र्क़ हो जाते थे। अभी पिछले ही महीने हमने लड़कियों के एक ऐसे मदरसे का हाल पढ़ा है जिसकी कुछ लड़कियाँ मदरसे की शिक्षा के बाद, घर आने पर, अपनी ख़ुशी से ज्यामिति-शास्त्र के प्रश्न हल करने में लगी रहती हैं। एक और मदरसे के विषय में हमने सुना है कि वहाँ की लड़कियाँ इतने ही से सन्तोष नहीं करतीं, किन्तु उनमे से एक लड़की छुट्टी के दिनों में भी हल करने के लिए इस तरह के प्रश्न प्रार्थनापूर्वक माँगा करती

है। ये दोनों बातें हमने इन लड़कियों के अध्यापकों के मुँह से सुनी हैं। इस बात के ये बहुत ही मज़बूत प्रमाण हैं कि अपनी उन्नति आपही करना सम्भव है—अपनी शिक्षा आपही प्राप्त करना सम्भव है—और उससे लाभ भी बेहद है। विद्या की यह शाखा, अर्थात् ज्यामिति, साधारण प्रचलित रीति से सिखलाने में शुष्क नहीं, त्रासदायक भी, मालूम होती है। पर वही, यदि सृष्टिक्रम के अनुसार सिखलाई जाय तो, अत्यन्त मनोरंजक और अत्यन्त लाभदायक हो जाती है। सृष्टिक्रम के अनुकूल इस शाखा की शिक्षा को हम "अत्यन्त लाभदायक" इसलिए कहते हैं कि इससे ज्यामिति-शास्त्र का जो ज्ञान होता है सो तो होता ही है; परन्तु इसके कारण कभी कभी मन की अवस्था ही बिलकुल बदल जाती है—मानसिक वृत्तियों में बहुत बड़े बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। अनेक बार देखा गया है कि जो विद्यार्थी मदरसे की परम्परा-प्रचलित क़वायद के कारण, उसके गूढ़ और पेचीदा नियमों के कारण, रटने इत्यादि की तरह की थकान पैदा करनेवाली उसकी पद्धति के कारण और बहुत से विषयों को एक ही साथ दिमाग़ में ठूँसने के कारण अत्यन्त मन्दबुद्धि हो गये थे वही, जब उन्हें निर्जीव कल की तरह चुपचाप बिठला कर पाठ सुनाना बन्द कर दिया गया और ख़ुद सोच समझ कर हर एक बात की परीक्षा और शोध करने की उनकी आदत डाली गई, सहसा तीव्र-बुद्धि हो गये। उत्साह-हीनता बुरी शिक्षा से पैदा होती है। थोड़ी सी हमदर्दी—थोड़ी सी सहानुभूति—से ही वह कम हो जाती है और शिक्षा में सफलता प्राप्त करने के लिए उत्साहपूर्वक निरन्तर चेष्टा करने की आदत हो जाती है। अर्थात् जहाँ विद्यार्थियों को एक बार यह बात मालूम हो जाती है कि किस तरह बुद्धि काम करती है तहाँ उनकी मनोवृत्ति एक दमही बदल जाती है और वे बड़े उत्साह से उद्योग करने लगते हैं। तब वे समझ जाते हैं कि हम बिलकुलही अयोग्य नहीं—हम बिलकुलही नालायक़ नहीं—हम भी कुछ कर सकते हैं। इस तरह, धीरे धीरे, जैसे जैसे उन्हें कामयाबी के बाद कामयाबी होती जाती है तैसे तैसे उनकी निराशा का नाश होता जाता है और वे दूसरे विषयों की कठिनाइयों पर इस बहादुरी से टूट पड़ते हैं कि उनमें भी उन्हें ज़रूर कामयाबी होती है।

३८—ज्यामितिशास्त्र की शिक्षा को मनोरञ्जक और सुख-पाठ्य बनाने के विषय में अध्यापक टिंडल की राय।

हमारे इस पूर्वोक्त लेख के पहले पहल प्रकाशित होने के कुछ हफ़्ते बाद प्रसिद्ध विद्वान् अध्यापक टिंडल ने "रायल इन्स्टिट्यूशन" नामक सभा में एक व्याख्यान दिया। व्याख्यान का विषय था—"विद्या की एक शाखा समझ कर पदार्थ-विज्ञान शास्त्र के अभ्यास का महत्त्व"। उसमें उन्होंने इसी बात के पुष्टीकरण में कुछ प्रमाण दिये। इस विषय में जो कुछ उन्होने कहा है अपने निज के अनुभव से कहा है। अतएव उनका कथन इतने महत्त्व का है कि हम उसका अवतरण, यहाँ पर, दिये बिना नहीं रह सकते। वे कहते हैं:—

"जिस समय का मैंने ज़िक्र किया उस समय जो काम मेरे सिपुर्द थे उनमें से एक काम मेरा यह भी था कि क्लास को मुझे गणित सिखलाना पड़ता था। उसकी शिक्षा देने में मैंने प्रायः हमेशा यह देखा कि जब युक्लिड और प्राचीन ज्यामिति की शिक्षा लड़कों को ख़ूब समझा कर दी जाती थी तब उसमें लड़कों का मन बहुत लगता था। इन विषयों की बातें अपनीही बुद्धि के सहारे सीखने या प्रश्नो का उत्तर अपने हीं मन से देने को बच्चे बहुत पसन्द करते थे। इस तरह उनसे काम लेने में उनका ख़ूब मनोरञ्जन होता था। मेरी आदत थी कि मैं लड़कों को किताबी शिक्षा न दे कर जो बातें उस शिक्षा से सम्बन्ध न रखती थीं उन्हें हल करने के लिए उनसे यह कहता था कि तुम अपनी बुद्धि से काम लो—ख़ुदही सोच समझ कर उनका उत्तर दो। पुरानी राह छोड़ कर नई पर आने के कारण पहले तो लड़कों को अकसर कुछ बुरा लगता था; उन्हें ऐसा मालूम होता था जैसा कि एक बच्चे को अपरिचित आदमियों के बीच में छोड़ देने से मालूम होता है परन्तु मैंने एक भी ऐसा उदाहरण नहीं देखा जिसमे यह बात हमेशा एकसी बनी रही हो। विद्यार्थियों को इस नई राह पर लाने से उन्हें जो अप्रसन्नता होती है वह बहुत दिन तक नहीं रहती, शीघ्रही जाती रहती है। जब कोई विद्यार्थी बिलकुलही निराश हो जाता था तब मै उसे

न्यूटन की याद दिला कर उत्साहित करता था। न्यूटन कहा करता था कि मुझ में और दूसरे आदमियों में जो अन्तर देख पड़ता है उसका कारण मेरा दीर्घ उद्योग और विशेष धैर्य्य है। इन्हीं गुणों के कारण यह मालूम होता है कि और लोगो से मुझ में विशेषता है। यही बात मैं निराश हुए विद्यार्थी से कहता था। अथवा मैं उससे फ़्राँस के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी मिरावो की कथा कहता था। एक दफ़े इस तत्त्ववेत्ता के नौकर ने कहीं यह कह दिया कि अमुक बात असम्भव है। इस पर उसने नौकर को बहुत फटकारा और हुक्म दिया कि इस वाहियात शब्द (असम्भव) को फिर कभी मुँह से न निकालना। इसी की याद दिला कर मैं विद्यार्थी को धीरज देता था। इस तरह ढाँढ़स बँधाने से, ख़ुश होकर, मुसकराते हुए, वह फिर अपना काम करने लगता था। उसके मन में कामयाबी होने का सन्देह शायद इतने पर भी बना रहता होगा; पर उसकी मुखचर्य्या से यह बात साफ़ मालूम होती थी कि फिर प्रयत्न करने का उसने दृढ़ संकल्प कर लिया है। कुछ देर में मैंने इसी विद्यार्थी की आँख को चमकते हुए देखा और आनन्दातिरेक से यह भी कहते हुए सुना कि—"मास्टर साहब, मैं समझ गया"। इस समय उसे जो ख़ुशी हुई वह बिलकुल उसी तरह की ख़ुशी थी जिसके कारण अरशीमीडस* आत्म-विस्मृत होकर चिल्ला उठा था कि "मुझे वह तरकीब मालूम हो गई"। हाँ, भेद इतनाही था कि अरशीमीडस की ख़ुशी का विस्तार कुछ अधिक था। इस प्रकार लड़कों को यह ज्ञान हो जाने से कि हम भी कुछ बुद्धि रखते हैं—हम मे भी कुछ शक्ति है—बहुत लाभ हुआ। इस बात के मालूम हो जाने से लड़कों का उत्साह

---

* ईसा के कोई ३०० वर्ष पहले ग्रीस मे अरशीमीडस नाम का एक गणित-शास्त्री हो गया है। सिराक्यूज के बादशाह हीरो ने सोने का एक ताज मोल लिया था और चाहता था कि उसके खोटे या खरे होने की परीक्षा बिना उसे तोड़े होजाय। इस बात को उसने अरशीमीडस से कहा। वह बहुत हैरान रहा। पर ऐसी कोई युक्ति उसे न सूझी। एक दिन वह गुसलखाने में नहा रहा था कि एकाएक इसकी तरकीब उसके ध्यान मे आगई। उस समय बेहोशी की हालत में वह यह कहते हुए कि—"मुझे वह तरकीब मालूम होगई" नगाही गुसलखाने से निकल भागा। सेसर का मतलब इसी घटना से है।

इतना बढ गया कि थोड़े ही दिनो में उस क्लास की आश्चर्य्यजनक उन्नति हो गई। मेरा अकसर यह नियम था कि मैं क्लास के लड़कों को अधिकार दे देता था कि चाहें तो वे किताब में दी हुई शकलें हल करें और चाहें उन शकलो के हल करने में अपनी बुद्धि की परीक्षा करें जो किताब में नहीं दी हुई हैं। परन्तु मुझे एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मालूम जिसमें लड़कों ने किताबी शकलें पसन्द की हों। जब मैं समझता था कि लड़कों को मदद दरकार है तब हमेशा मदद देने को तैयार रहता था। पर मदद देने की बात सुनतेही लड़कों को यह कहने की आदत सी पड़ गई थी कि "नहीं, नहीं, हमें मदद दरकार नहीं"। वे मदद लेने से हमेशा इनकार कर देते थे। अपनी निज की बुद्धि के बल पर प्रश्नों के हल करने से प्राप्त हुई जीत के मिठास की उन्हें चाट लग गई थी। इससे वे हमेशा यही चाहते थे कि और भी विजयों का यश उन्हें लूटने को मिले। मैंने उन शकलो को--उन आकृतियों को—ख़ुद देखा है जिनको उन्होने दीवारों पर खुरच कर या खेल की जगह गडी हुई लकड़ियों पर खोद कर बनाया है। मैंने और भी ऐसेही अनन्त उदाहरण इस बात के सूचक देखे हे कि उनको इस विषय का कितना चसका है और वे इसमें कितना मनोयोग देते है। यदि आप मेरी बात पूछें तो मै बिलकुलही नवसिखिया था। शिक्षा के काम मे मुझे कुछ भी तजरिबा न था। मेरी दशा उस चिड़िया की ऐसी थी जिसके पर और बाल अभी निकले हों। जरमनी वाले जिसे बालकाध्यापन कहते हैं उसके नियमों का मुझे कुछ भी ज्ञान न था। परन्तु इस लेख के आरम्भ में जिन तत्त्वों का जिक्र मैंने किया है उनको मैंने मज़बूती से पकड़ रक्खा था—उनके आशय को मैंने कभी अपने हृदय से दूर नहीं होने दिया। ज्यामिति, साधारण शिक्षा का एक साधन मात्र है। शिक्षा का वह कोई स्वतंत्र विषय नहीं। इस बात को ख़ूब समझ कर मैंने अपना शिक्षा-क्रम जारी रक्खा। इस काम में मुझे यश मिला—मैं ख़ूब कामयाब हुआ। और मेरे जीवन के सबसे अधिक आनन्ददायक घंटों में कुछ घंटे इस बात के देखने में ख़र्च हुए कि पूर्वोक्त रीति से शिक्षा देने से बच्चों की मानसिक शक्तियाँ ख़ूब उत्साहित होकर विस्तार के साथ आनन्दपूर्वक वृद्धि पाती हैं"।

३६—ज्यामिति-शास्त्र की प्रयोगात्मक शिक्षा को बहुत वर्षों तक जारी रखना चाहिए और क्रम क्रम से कठिन आकृतियों का बनाना सिख-लाना चाहिए।

ज्यामिति-शास्त्र की इस प्रयोगात्मक शिक्षा में प्रश्नों का इतना समूह भरा रहता है जिसकी सीमा नहीं है। और और विषयों के साथ इसकी शिक्षा वर्षों तक होनी चाहिए। शुरू शुरू में शकलें बनवा कर जैसे इस शास्त्र की शिक्षा दी जाती है वैसे ही यदि आगे भी किया जाय—यदि वही क्रम हमेशा जारी रक्खा जाय—तो बहुत अच्छा हो। जब घन, अष्ट-फलक और सूची तथा प्रिस्म (छेदित-घन-क्षेत्र) के भिन्न भिन्न अनेक आकारों का अच्छी तरह ज्ञान हो जाय तब द्वादश-फलक और विंशति-फलक आदि अधिक कठिन आकृतियों की शिक्षा देनी चाहिए। ये आकृतियाँ ऐसी हैं कि मोटे कागज़ के एक ही टुकड़े को काट कर इनके बनाने के लिए विशेष हस्त-कौशल दरकार होता है। इन आकृतियों का बनाना आजाने के बाद स्वाभाविक तौर पर विद्यार्थियों को नाना प्रकार की ऐसी परिवर्तित आकृतियाँ सिखलानी चाहिए जो बिल्लौर मे देखी जाती हैं। उदाहरण के लिए पहले एक ऐसी घन-आकृति लेनी चाहिए जिसके कोने छाँट दिये गये हों। फिर एक ऐसी लेनी चाहिए जिसके किनारे के भी कोने छाँट दिये गये हों और घनीभूत कोने भी छाँट दिये गये हों। इसके बाद अष्ट-फलक और अनेक प्रकार के प्रिस्म, पूर्ववत् कोने इत्यादि छाँटकर, लेने चाहिए और उनका बनाना सिखलाना चाहिए। बनने के समय धातुओं और नमकों (क्षारों) के जो अनेक आकार होते हैं उनकी नकल करने में—उन्हीं के सदृश कागज के टुकड़े काटने में—खनिज विद्या की मुख्य मुख्य बातों का ज्ञान सहज ही में हो जाता है।

४०—ज्यामिति की प्रयोगात्मक शिक्षा के बाद शास्त्रीय शिक्षा होनी चाहिए।

इस तरह के अभ्यास में बहुत सा समय ख़र्च करने पर शास्त्रीय रीति से ज्यामिति सिखलाने में कोई कठिनता न पड़ेगी। यह एक ऐसी बात है कि इसके बतलाने की कोई ज़रूरत नहीं। इस बात को कौन न स्वीकार करेगा कि बच्चों का अभ्यास यहाँ तक हो चुकने पर सहज ही में वे वैज्ञानिक रीति से ज्यामिति-शास्त्र सीख सकेंगे? विद्यार्थियों को आकृति और परिमाण के सम्बन्ध में विचार करने की आदत होती है और अमुक अमुक प्रकार की कृति से अमुक अमुक परिणाम होता है, इसकी भी थोड़ी बहुत कल्पना उन्हें पहले ही से रहती है। इस कारण शास्त्रीय रीति से ज्यामिति सीखने में उन्हें यह मालूम होता है कि जिन शकलों को उन्होंने हाथ से बनाना सीखा है, यूक्लिड के सिद्धान्त उन्हीं शकलों को सही साबित करने के ऐसे साधन हैं जिनका तब तक उन्हें पता नहीं था। उनकी बुद्धि संस्कृत होने के कारण—उनकी बुद्धि को उचित शिक्षा मिलने के कारण—उसकी सहायता से वे उन सब सिद्धान्तों को, क्रम क्रम से, एक के बाद एक, बराबर सीखते चले जाते हैं। यही नहीं, किन्तु उन सिद्धान्तों का उपयोग भी उनकी समझ में आता जाता है—वे उनकी कदर व कीमत भी समझते जाते हैं। कभी कभी उनके निजके तरीक़ों के सही साबित होने पर उन्हें ख़ुशी भी होती है। जब वे यह देखते हैं कि उनके पूर्व-शिक्षित नियम यूक्लिड के सिद्धान्तो से सही हैं तब वे ख़ुशी से फूले नहीं समाते। अतएव जो लड़के इन सिद्धान्तो को सीखने के लिए पहले से तैयार नहीं रहते उनको यही सिद्धान्त शुष्क और नीरस मालूम होते हैं। पर जो पहले से तैयार रहते हैं उन्हें इन्हीं को सीखने में आनन्द आता है। अब हमें सिर्फ़ इतना ही कहना बाक़ी है कि इस प्रकार शिक्षा पाते पाते कुछ दिनों में विद्यार्थी की बुद्धि उस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योग करने के लायक हो जायगी जिसमें विचार-शक्ति की सञ्चालना की ज़रूरत होती है और जिसकी बदौलत नये नये सिद्धान्तो का पता लगता है। तब चेम्बर की बनाई हुई यूक्लिड की पुस्तकों के अन्त में जो प्रश्न दिये हुए हैं उन्हें हल

करने की योग्यता बहुत जल्द उसमें आ जायगी और उन्हें हल करने में उसकी बुद्धि की ही वृद्धि न होगी, किन्तु उसके नैतिक विचार भी सुधर जायँगे।

४१—पूर्वोक्त बातें, साधारण नियमों के अनुसार निश्चित की गई शिक्षा-प्रणाली के उदाहरण मात्र हैं।

इस विषय की बातों पर और दूर तक विचार करने से शिक्षा-सम्बन्धी एक बहुत बड़ा ग्रंथ हमें लिखना पड़ेगा। पर हम यह नहीं करना चाहते। हमे एक विस्तृत ग्रंथ लिखना अभीष्ट नहीं। बचपन के आरम्भ में देखना, सुनना और विचार करना इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों के धर्म्मों को विकसित करने, प्रत्यक्ष पदार्थ दिखला कर उनके गुण-धर्म्म सिखलाने और चित्र-कला और ज्यामिति-शास्त्र का स्थूल ज्ञान उत्पन्न करने के लिए जो तरीक़े ऊपर बयान किये गये हैं वे पहले बतलाये गये साधारण नियमों के अनुसार निश्चित की गई शिक्षा-प्रणाली के ठीक ठीक ध्यान मे आने के लिए उदाहरण मात्र हैं। हमें विश्वास है कि जो कुछ ऊपर लिखा गया है उसका यदि परीक्षा-पूर्वक अच्छी तरह विचार किया जायगा तो यह मालूम हो जायगा कि उसमें सीधी सादी और अव्यक्त बातों के ज्ञान से आरम्भ करके कठिन और व्यक्त बातों का ज्ञान, धर्म्मी के ज्ञान से आरम्भ करके धर्म्म का ज्ञान, और अनुभवजन्य ज्ञान से आरम्भ करके शास्त्रीय ज्ञान की शिक्षा देने ही का क्रम नहीं रक्खा गया; किन्तु यह भी दिखलाया गया है कि जिस रीति से मनुष्य-समुदाय में शिक्षा का प्रचार होता जाता है उसी रीति से अलग अलग हर आदमी में भी होना चाहिए, जहाँ तक हो सके इस तरह शिक्षा दी जाय जिसमें बच्चे आपही आप अपनी उन्नति कर सकें, और शिक्षा से घृणा न होकर उलटा आनन्द प्राप्त हो। हमारी बतलाई हुई तरकीबों से एकही प्रकार की शिक्षा-प्रणाली रखने से ये सब शर्तें पूरी हो सकती हैं। अतएव यह इस बात का सबूत है कि हमारी निश्चित की हुई शिक्षा-पद्धति ठीक है और जिन बातों की उससे पूर्ति होती है वे भी ठीक हैं। इस समय शिक्षा-पद्धति में जो सुधार हो रहे हैं उनके झुकाव का विचार करने से यह

बात भी ध्यान में आ जायगी कि जिस पद्धति के प्रचार की हम सिफ़ारिश करते हैं वह उस झुकाव के अनुसार ही है। इस समय शिक्षा के सम्बन्ध में लोगें की जैसी प्रवृत्ति हो रही है, हमारी बतलाई हुई पद्धति ठीक उसी के अनुकूल है। आज कल की शिक्षा-पद्धति में जो संशोधन हो रहे हैं वे थोड़े ही अंश में सृष्टि-क्रम के अनुसार हैं। पर हमारी पद्धति सृष्टि-क्रम के सर्वथा अनुकूल है—वह सृष्टि के क्रम की पूरी पूरी नकल है। सृष्टि के क्रम को हमारी शिक्षा-पद्धति दो तरह से अनुसरण करती है। एक तो सर्वांश में वह सृष्टि-क्रम के अनुकूल है। दूसरे, बुद्धि के विकास के समय जिन बातों के करने को बच्चों का मन चाहता है उन्हीं को करने के लिए, उनकी प्रवृत्ति को ध्यान में रख कर, हमारी पद्धति उन्हें उत्तेजित करती है। जो बातें मन आपही आप करना चाहता है उन्हीं के करने में वह सहायता देती है। इस से उन्हें करने में बच्चों को बहुत सुभीता होता है और प्रकृति की अभीष्ट उन्नति को मदद भी मिलती है। अतएव इन सब बातों का विचार करने पर यह कहने के लिए कि, हमारी शिक्षा-प्रणाली सच्ची शिक्षा-प्रणाली से बहुत कुछ मेल खाती है, हम अपने सामने अनेक कारण उपस्थित पाते हैं।

४२—शिक्षा के उन दो महत्त्व-पूर्ण नियमों पर विचार जिनकी सबसे अधिक अवहेलना होती है।

जिन साधारण व्यापक नियमों का ज़िक्र ऊपर किया गया है उनमें से दो नियम ऐसे हैं जो सबसे अधिक महत्त्व के हैं, पर जिनकी सबसे कम परवा की जाती है। अतएव उनके महत्त्व का ठीक ठीक अन्दाज़, और उन की योग्यता को हृत्पटल पर ठीक ठीक अङ्कित, होने के लिए उनके विषय में कुछ अधिक कहने की जरूरत है। उनमें से पहला नियम यह है कि बचपन में, बचपन और जवानी के बीच में, और जवानी में भी शिक्षा की वही पद्धति जारी रखना चाहिए जिससे अपनी उन्नति आपही होती जाय। अर्थात् ऐसी प्रणाली से काम लिया जाय जिसमें आपही आप, बिना दूसरे की मदद के, शिक्षा मिलती जाय। उसी की जोड़ी का दूसरा नियम यह है कि विद्याभ्यास में मनोवृत्ति हमेशा आनन्दित बनी रहे। विद्यार्थी से मानसिक काम लेने में बराबर उसका मनोरंजन होता जाय। विराग या घृणा

न पैदा होने पावे। यदि यह बात मान ली जाय कि मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार विद्यार्थी को सीधी सादी बातों से कठिन बातों का, अव्यक्त बातों से व्यक्त बातों का, और धर्म्मी से धर्म का ज्ञान करा देना ही आवश्यक क्रम है तो जिन दो बातों से इस विषय की जाँच की जा सकती है वे यही हैं कि (१) ज्ञान आपही आप उपार्जन करना चाहिए और (२) उसके उपार्जन में चित्त-वृत्ति प्रफुल्लित रहनी चाहिए। यही दो ऐसे साधन हैं जिनसे यह बात जानी जा सकती है कि मनोविज्ञान के नियमानुसार शिक्षा हो रही है या नहीं। यदि पहले साधन में उन व्यापक नियमों का समावेश होता है जिनके अनुसार मानसिक शक्तियों की वृद्धि होती है तो दूसरे में उन बातों का समावेश होता है जिनसे मानसिक शक्तियों की बढ़ानेवाली कला को मदद मिलती है। इसका कारण यह है, और वह बिलकुल प्रकट है, कि यदि हमारी शिक्षा-पद्धति का क्रम इस तरह रक्खा जाय कि उसके सब विषय, बिना किसी की मदद के, विद्यार्थी आपही आप, एक के बाद एक, क्रम क्रम से, सीख सके, तो वह क्रम ज़रूर ही उस क्रम के अनुसार होगा जिसके अनुसार मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं। और इन विषयों को, एक के बाद एक, सीखना यदि विद्यार्थी के लिए ख़ूब मनोरंजक है—सच्चे आनन्द का देनेवाला है—तो यह साफ़ ज़ाहिर है कि इस क्रम से शिक्षा प्राप्त करने के लिए और किसी बात की ज़रूरत नहीं। ज़रूरत है सिर्फ़ अपनी मानसिक शक्तियों को स्वाभाविक रीति से काम में लाने की। अर्थात् इस तरह मानसिक शक्तियों पर बिना किसी प्रकार का बोझ डाले ही विद्यार्थी सब बातें सीख सकता है।

४३—आपही आप बुद्धि को बढ़ाने वाली शिक्षा से और और लाभ।

शिक्षा का ऐसा क्रम रखने से कि बुद्धि का विकास आपही आप होता जाय, इतनाहीं फ़ायदा नहीं होता कि जो विषय हमें सीखने पड़ते हैं उनको हम यथाक्रम सीखते हैं। उससे और भी कई फ़ायदे हैं। एक फ़ायदा तो यह है कि इस तरह के शिक्षा-क्रम से मन पर जो संस्कार होते हैं वे बहुत स्पष्ट होते हैं और हमेशा बने रहते हैं। यह बात शिक्षा के साधारण तरीक़े से

कभी नहीं हो सकती। जो ज्ञान विद्यार्थी आपही आप, अपने ही परिश्रम से, प्राप्त करता है—उदाहरण के लिए कोई ऐसा प्रश्न लीजिए जिसे उसने ख़ुद हल किया है—वह, अपने ही पराक्रम से विजयी हो कर प्राप्त किये जाने के कारण, उसकी निज की सम्पत्ति सी हो जाती है। अतएव जैसा वह इस तरह उसके हृदय पर वज्रलेप सा हो जाता है वैसा और किसी तरह नहीं हो सकता। बिना किसी की मदद के किसी बात में कामयाबी होने के लिए मन को परिश्रम देने और बुद्धि को एकाग्र करने की जरूरत पड़ती है। और जब विजय प्राप्त हो जाता है तब आनन्द भी ख़ूब होता है। परिश्रम, एकाग्रता और आनन्द मिल कर उस बात को विद्यार्थी के स्मृति-पटल पर इस मजबूती से अङ्कित कर देते हैं कि अध्यापक से सुन कर या किसी पुस्तक में पढ़ कर उस तरह उस बात का अङ्कित होना कभी सम्भव नहीं। यदि उसे कामयाबी न हो, तो भी उस बात को समझने के लिए उसने जो कोशिश की होती है और उसकी मानसिक शक्तियों ने जो जोर लगाया होता है उसके कारण, जब उसे वह बात बतला दी जाती है तब वह उसे इतनी अच्छी तरह याद हो जाती है जितनी कि छ दफ़े रटने से भी याद न होती। फिर इस बात को भी न भूलना चाहिए कि इस तरकीब से शिक्षा देने से जो ज्ञान विद्यार्थी प्राप्त करता है वह उसे लगातार यथाक्रम प्राप्त होता है। अर्थात् जो शिक्षा मिलती है वह सुव्यवस्थित मिलती है, अस्त-व्यस्त नहीं मिलती। इस यथाविधि शिक्षा से जो बातें विद्यार्थी सीखते हैं या जो अनुमान निकालते हैं वे बातें या वे अनुमान ऐसे होते हैं कि उन्हीं के आधार पर आगे सब बातें उन्हें क्रम क्रम से सीखनी पड़ती हैं और सब अनुमान निकालने पड़ते हैं। अर्थात् आगे जो प्रश्न विद्यार्थियों को हल करना पड़ते हैं उनको हल करने में वही बातें और वही अनुमान साधनीभूत होते हैं। जिस प्रश्न को विद्यार्थी ने कल हल किया है उसका उपयोग उसे आज के प्रश्न हल करने में ज़रूर होता है—उससे उसे जरूर मदद मिलती है। अतएव जो ज्ञान इस तरह ख़ुद ही प्राप्त किया जाता है वह प्राप्त किये जाने के साथ ही मानसिक शक्तियों का एक भाग हो जाता है और सोच विचार के साधारण कामों में मदद देता है—विचार करने के कामों में उसका तत्काल उपयोग होता है। वह अन्तःकरण-रूपी पुस्तकालय के पृष्ठों पर यों ही लिखा हुआ नहीं पड़ा रहता, जैसा कि रट रट कर याद

कर लेने से होता है। एक बात यह भी ध्यान में रखने लायक़ है कि हमेशा अपनी मदद आप करने से—परिश्रम-पूर्वक ख़ुद ही ज्ञान-सम्पादन करने से—नैतिक उन्नति भी होती है। कोई कठिनता पड़ने पर धैर्य धारण करना, मन को एकाग्र रखना और प्रयत्न निष्फल होने पर निराश न होना आदि ऐसे गुण हैं जिनका बहुत करके आगे काम पड़ता है।

जिस तरह की शिक्षा-पद्धति की हम सिफ़ारिश करते हैं उसके अनुसार मन से अपना खाद्य आपही प्राप्त कराने से ये गुण स्वयं पैदा हो जाते हैं। हम ख़ुदही इस बात की गवाही दे सकते हैं कि इस तरीक़े से शिक्षा देना असम्भव नहीं। हम अपने निज के अनुभव से कह सकते हैं कि हमारी बतलाई हुई तरकीब से शिक्षा देने में ऐसी एक भी कठिनाई नहीं जो दूर न हो सकती हो। हमने अपने बचपन में चित्र-कला-सम्बन्धी कितनेहीं पेचीदा प्रश्नो को इसी तरह हल किया है। अनेक प्रसिद्ध प्रसिद्ध अध्यापकों ने जो कुछ लिख रक्खा है उससे साबित है कि उनकी भी राय हमारी राय से मिलती है। फेलैनबर्ग का कथन है कि—"बिना किसी की मदद के स्वतन्त्रता-पूर्वक अपनेहीं आप किये गये विद्यार्थियों के उद्योग की क़ीमत, अपने को अध्यापक कहलाने वाले कितनेहीं लोगों की बरबराहट और अनधिकार चर्चा की अपेक्षा बहुत अधिक है"। अमेरिका का विद्वान् होरेस मान कहता है कि—"दुर्दैव से, आज कल, विद्यार्थियों को शिक्षा देने—शिक्षा के मार्ग पर ले जाने—की अपेक्षा उन्हें, अमुक चीज़ अमुक है, यह बतला देनाहीं शिक्षा कहलाती है"। अर्थात् हमारी शिक्षा मे सिखलाने का भाग कम रहता है, बतलानेहीं का अधिक। और एम० मार्सेल की राय है कि—"जो बातें विद्यार्थी अपनी बुद्धि से सीखता है वे उसे बतलाई गई बातों की अपेक्षा अधिक याद रहती हैं"।

४४—शिक्षा-पद्धति को मनोरञ्जक और आनन्द-दायक बनाने से लाभ।

इस बात के जोड़ की जो दूसरी बात है उसकी भी यही दशा है। वह यह है कि शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि शिक्षा के समय चित्त-वृत्ति हमेशा आनन्दित रहे। शिक्षा से आगे लाभ होगा, यह समझ कर आनन्द

न मिलना चाहिए। आगे होनेवाले फलो पर दृष्टि रख कर विद्यार्थी यदि शिक्षा-सम्पादन के श्रम को आनन्द-पूर्वक उठावे तो हम उसे यथार्थ आनन्द न कहेंगे। नहीं, शिक्षा की रीति ही ऐसी होनी चाहिए जिसके कारण विद्याभ्यास करते समय आपही आप आनन्द मिले। इस शर्त को ध्यान में रख कर शिक्षा देने से मानसिक शक्तियों की जो बाढ़ होती रहती है उसमें बाधा नहीं आती। इसके सिवा, साथही, और भी कितनेहीं बड़े बड़े लाभ होते है। यदि हमारी यह इच्छा हो कि हम तपस्वियों का ऐसा कठोर आचरण (अथवा यों कहिए कि दुराचरण) करें तो बात दूसरी है। पर यदि यह अभीष्ट न हो तो बालपन की आनन्द-वृत्ति को युवावस्था मे यथास्थित रखने के लिए प्रयत्न करना कोई अनुचित बात नहीं। वह ख़ुदही एक ऐसा उद्देश है कि उसका आदर होना चाहिए। अकेले उसी की प्राप्ति के लिए यदि परिश्रम किया जाय तो भी मुनासिब है। हम इस विषय का विशेष विस्तार नहीं करना चाहते। हम सिर्फ़ इतनाहीं कह देना बस समझते है कि मन की उचाट और उदासीन अवस्था में बुद्धि-विषयक काम करने की अपेक्षा आनन्द-वृत्ति की अवस्था मे काम करना विशेष अच्छा है। इस बात को हर आदमी जानता है कि जो कुछ हम आनन्द से पढ़ते, सुनते या देखते हैं वह उसकी अपेक्षा अधिक याद रहता है जिसको हम मन की उद्विग्न या उदास अवस्था मे पढ़ते, सुनते या देखते है। पहली अवस्था मे जिन मानसिक शक्तियो से काम लिया जाता है वे शिक्षणीय विषयों मे ख़ूब ग़र्क़ हो जाती हैं; परन्तु दूसरी अवस्था मे वे ग़र्क़ नहीं होतीं—उन विषयो के ऊपर ही ऊपर होकर वे निकल जाती है—क्योंकि जो विषय उनकी अपेक्षा अधिक मनोरञ्जक और आनन्दकारक होते है उनकी तरफ़ वे लगातार खिँचती रहती हैं। अतएव पहली अवस्था में जो संस्कार मन पर होते हैं वे चिरस्थायी होते है और दूसरी अवस्था में अचिरस्थायी। इसके सिवा, आनन्द न मिलने के कारण, किसी विषय के अभ्यास में विद्यार्थी का मन न लगने से, जो बुद्धि-मांद्य या उदासीनता पैदा हो जाती है उससे एक और भी हानि होती है। अध्ययन अच्छी तरह न होने के जो बुरे परिणाम होते हैं उनका ख़याल करके विद्यार्थी भयभीत हो जाता है। इससे उसे बड़ी हानि पहुँचती है, क्योंकि उसकी मानसिक शक्तियाँ प्रायः बिलकुल ही बेकार होजाती है। उसका जी घबरा जाता है; पढ़ने में वह बिलकुल नहीं लगता। इसका

फल यह होता है कि जिन विषयों को वह पसन्द नहीं करता उन्हीं को सीखने के लिए विवश किये जाने पर उसकी कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ जाती हैं। इससे यह बात साफ़ ज़ाहिर है कि, और सब बातें अनुकूल होने पर, शिक्षा की योग्यता या अयोग्यता की मात्रा सुख-प्राप्ति की मात्रा पर अवलम्बित है। अर्थात् शिक्षा मे जितनाही अधिक आनन्द मिलेगा उतनीही अधिक वह अच्छी होगी और जितनाहीं कम आनन्द मिलेगा उतनीहीं वह कम अच्छी होगी। अच्छी या बुरी शिक्षा का होना, शिक्षा प्राप्त करने के काम के आनन्द या त्रासदायक होने पर अवलम्बित रहता है।

४५—सुखकर शिक्षा से नैतिक लाभ।

इस बात का भी विचार बहुत ज़रूरी है कि प्रति दिन पाठ याद करने से जो स्वाभाविक आनन्द या त्रास मिलता है उसका नैतिक बातों पर भी बड़ा असर पड़ता है। उसके कारण स्वभाव बदल जाता है। दो लड़को की कल्पना कीजिए। मनोरञ्जक विषयों की शिक्षा से एक की चित्त-वृत्ति ख़ूब आनन्दित हो रही है। पर दूसरा इसलिए दुखी है कि पढ़ने मे उसका मन नहीं लगता। इससे वह नालायक़ ठहराया जाता है; उसे अध्यापक की घुड़कियाँ सहनी पड़ती हैं; उसे मार खानी पड़ती है; वह हमेशा बुरी नजर से देखा जाता है। इन दोनो लड़कों के चेहरो और चाल-ढाल को देखकर कौन ऐसा है जिसे यह न मालूम हो जाय कि पहले लड़के का स्वभाव अच्छा होता जाता है और दूसरे का बिगड़ता जाता है? जिसने इस बात को ध्यान से देखा है कि कामयाबी और नाकामयाबी के कारण मन पर क्या असर पड़ता है, और शरीर पर मन का कितना अधिकार है, उसे मालूम होगा कि पहली हालत में स्वभाव और शरीर-प्रकृति दोनों पर बहुत अच्छा असर पडता है—दोनो मे सुधार होता है—परन्तु दूसरी हालत मे हमेशा के लिए उदासीनता और कायरता के आजानेहीं का नहीं, किन्तु, शरीर-प्रकृति, अर्थात् स्वास्थ्य, को भी चिरस्थायी हानि पहुँचने का डर है। अभी एक और बात का ज़िक्र करना बाक़ी है। उसका सम्बन्ध यद्यपि अप्रत्यक्ष है, तथापि है वह महत्त्व की बात। वह यह है कि अध्यापक की शिक्षा से जितना आनन्द या त्रास होता है उतनाहीं, और सब बातें यथास्थित होने से, अध्यापक और विद्यार्थी का परस्पर सम्बन्ध मित्रतागर्भित और प्रभावपूर्ण,

या द्वेष-जनक और प्रभाव-रहित होता है। आनन्द मिलने से परस्पर प्रेम-भाव और दुःख मिलने से वैर-भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। आनन्द और त्रास के परिमाणहीं के अनुसार अध्यापक का विद्यार्थी पर कम या अधिक वजन पड़ता है। जिन विचारों से मनुष्य का सम्बन्ध रहता है उन्हीं के वश मे वह हो जाता है। मानवी धर्म्महीं ऐसा है। जिससे तकलीफ़ पहुँचती है उसके विषय में मनुष्य के मन मे कभी प्रेम-भाव नहीं रह सकता। मनही मन उससे घृणा ज़रूर हो जाती है। और यदि उससे बराबर तकलीफ़ही तकलीफ़ मिलती गई, कभी कुछ भी आराम न मिला, तो उसके विषय में चिरस्थायी द्वेष भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। इसके प्रतिकूल जो इष्ट-साधन मे हमेशा मदद देता है, विजयानन्द में मग्न होने की सामग्री हमेशा इकट्ठी करता है, कठिनाइयों को पार करने मे हमेशा धीरज देता है, और कामयाबी होने पर बच्चो को .खुश देख जो .खुद भी .खुशी मनाता है—उसे बच्चे जरूर पसन्द करते हैं। यही नहीं, किन्तु यदि उसका बर्ताव बराबर ऐसाही बना रहा तो उसे वे प्यार तक करते हैं—उसे प्राणों से भी अधिक समझते हैं। जो अध्यापक बच्चो को मित्रवत् मालूम होता है—जो उनके साथ मित्र की तरह वर्त्ताव करता है—उसका दवाव बच्चो पर उस अध्यापक के दवाव से बहुत अधिक पड़ता है जिसे वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं या जिसके विषय में वे प्रेमभाव नहीं रखते। पहले प्रकार का दवाव दूसरे प्रकार के दवाव की अपेक्षा विशेष हितकर और दयादर्शक है। इसका विचार करने से यह बात ज़रूर ध्यान मे आ जायगी कि शिक्षा देने की पद्धति सुखकर और मनोरञ्जक होने से जो अप्रत्यक्ष लाभ होते हैं वे उससे होने वाले प्रत्यक्ष लाभों से कुछ कम नहीं हैं। जिस पद्धति के अनुसार शिक्षा देने की हम सिफ़ारिश करते हैं उसके विषय में यदि कोई यह शङ्का करे कि उसका प्रचार करना—उसे व्यवहार मे लाना—असम्भव है तो उसे हम पूर्ववत् यही उत्तर देंगे कि सिर्फ़ ख़याली नियमों के अनुसार—सिर्फ़ तात्त्विक सिद्धान्तों के अनुसार—ही वह पद्धति सच्ची नहीं साबित होती, किन्तु तजरिबे से भी वह सच्ची साबित होती है। सिद्धान्त और तजरिबा, दोनों से, यह बात निर्भ्रान्त सिद्ध होती है कि यदि कोई पद्धति सच्ची और सृष्टि-क्रम के अनुकूल है तो यही है। पेस्टलोजी के समय से लेकर आज तक जितने प्रसिद्ध प्रसिद्ध अध्यापक हो गये हैं उन्होने इस पद्धति के सही होने के विषय में जो

रायें दी हैं उनको हम पहले ही लिख आये हैं। उनमे, एडनवर्ग-विश्वविद्यालय के अध्यापक, पिलान्स, की राय भी शामिल कर लेना चाहिए। वे कहते हैं—"जिस रीति से बच्चों को शिक्षा दी जानी चाहिए उस रीति से यदि दी जाती है तो वे खेलने में जितना .खुश रहते है उतनाही मदरसे मे भी .खुश रहते है। मदरसे में उससे कम .खुश तो शायद ही रहते हों; उलटा, वहाँ वे बहुधा अधिक .खुश रहते हैं। दौड़-धूप के खेलों में शारीरिक शक्तियों की कसरत से उन्हें जितना आनन्द मिलता है उसकी अपेक्षा मानसिक शक्तियों की उचित कसरत, अर्थात् योग्य शिक्षा, से उन्हें अधिक आनन्द मिलता है"।

४६—उल्लिखित शिक्षा-पद्धति से एक और भी लाभ की सम्भावना।

अन्त में हम इसका एक और कारण बतलाना चाहते हैं कि क्यों हमें ऐसे तरीक़े से शिक्षा देनी चाहिए जिससे बच्चों की शिक्षा आपही आप होती जाय और उसके साथ ही उन्हें आनन्द भी मिलता जाय। वह कारण यह है कि मदरसे में विद्याभ्यास करने की रीति जितनी अधिक सुखकारक होगी, मदरसा छूटने पर उतने ही अधिक दिनों तक उसकी चाट बनी रहेगी। यह बहुत सम्भव है कि शिक्षा की रीति मनोरञ्जक होने से शिक्षा प्राप्त करने का चाव, मदरसा छोड़ने पर भी, बना रहे। इसी से हम इस बात पर ज़ोर देते हैं कि आपही आप शिक्षा प्राप्त करने और उसके द्वारा शिक्षा-पद्धति को सुखकर बनाने की बड़ी ज़रूरत है। जब तक बच्चे शिक्षा-प्राप्ति से घृणा करते रहेंगे तब तक उनकी यही इच्छा रहेगी कि अध्यापक और माँ-बाप का दबाव दूर होते ही, पढ़ना लिखना बन्द करदें। परन्तु यदि शिक्षा की रीति ऐसी होगी कि उससे स्वाभाविक तौर पर आपही आप मनोरञ्जन होगा और आनन्द भी मिलेगा तो दूसरों की देख-भाल बच्चों पर न रहने पर भी—माँ-बाप और अध्यापको का दबाव दूर हो जाने पर भी—वे उसे जारी रक्खेंगे। शिक्षा मनोरञ्जक न होने से, बिना दूसरों की देख भाल के, वह कदापि जारी नहीं रह सकती। ये सिद्धान्त निर्विवाद हैं—ये नियम अटल हैं। यदि यह बात सच है कि जो विचार

मन में पैदा होते हैं वे कुछ विशेष नियमों के अनुसार पैदा होते हैं; यदि यह बात सच है कि आदमी उन चीजो और उन जगहों को नहीं पसन्द करते जिनसे दुःखदायक बातें याद आती है, और उन चीजो और उन जगहों को पसन्द करते हैं जिनसे आनन्ददायक बातें याद आती हैं; तो यह भी सच है कि मदरसे में शिक्षा की रीति जिस परिमाण में दुःखजनक या सुखकर होगी उसी परिमाण में, मदरसा छोडने के बाद, ज्ञान प्राप्त करना दुःख या सुख का कारण होगा—उसी परिमाण में वह घृणाजनक या चित्ताकर्षक होगा। जिन लोगों ने लड़कपन में अनेक प्रकार की, धमकी घुडकी के डर से, शुष्क पाठ रट रट कर, शिक्षा पाई है और आपही आप सब बातों का स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने की जिनकी आदत नहीं डाली गई वे, मदरसा छोड़ने पर, बहुत करके विद्याभ्यास जारी न रक्खेंगे। आगे उन्हें बहुधा विद्याभिरुचि न होगी। परन्तु जिन्होंने स्वाभाविक रीति से उचित समय में शिक्षा पाई है, और जो सीखी हुई बातें सिर्फ़ इसी लिए नहीं याद रखते कि उनसे मनोरंजन होता है, किन्तु इसलिए भी याद रखते है कि वे अनेक आनन्ददायक कामयाबियों की—अनेक नई नई बातो को परिश्रमपूर्वक स्वय ढूँढ़ निकालने के कारण मिली हुई विजयबड़ाइयों की स्मारक है, वे लड़कपन मे आरम्भ किये गये स्वयं शिक्षा प्राप्त करने के क्रम को बहुत करके वैसे ही आगे भी जारी रक्खेंगे।

तीसरा प्रकरण।

—⟫⟪—

नैतिक शिक्षा।

वर्तमान शिक्षा-पद्धति के सबसे बड़े दोष की तरफ़ लोगों की दृष्टि का न जाना।

मारी शिक्षा-पद्धति में जो सबसे बड़ा दोष है उसकी तरफ़ लोगों का बिलकुल ही ध्यान नहीं है। लड़कों को कौन कौन विषय सिखलाने चाहिए, और किस तरह सिखलाने चाहिए, इस सम्बन्ध मे तो शिक्षा-पद्धति की ज़रा ज़रा सी बातों का सुधार करने के लिए लोग बहुत कुछ प्रयत्न कर रहे हैं; परन्तु जो बात बहुत ही ज़रूरी है उसकी लोग अब तक कुछ भी परवा नहीं करते। वह बात ज़रूरी है या नहीं, यह भी अभी तक उनके ध्यान में नहीं आया। इस विषय को अब सब लोग चुपचाप क़बूल करते हैं कि लड़कों को सांसारिक कर्तव्य के लिए योग्य बना देना ही माँ-बाप और अध्यापकों का उद्देश होना चाहिए। जो चीज़ें सिखलाई जाती हैं उनकी योग्यता, और उनके सिखलाने मे जिस तरीक़े से काम लिया जाता है उसके अच्छेपन, का विचार करने में वे सिर्फ़ इस बात को देखते हैं कि वे चीज़ें और वे तरीके पूर्वोक्त उद्देश को पूरा करने के लिए कहाँ तक उपयोगी हैं। यह बड़ी ख़ुशी की बात है। इस समय लोग जो यह कहते हैं कि पुरानी तरह की शिक्षा-प्रणाली के बदले, जिसमें लैटिन, ग्रीक और संस्कृत आदि भाषायें सीखनी पड़ती हैं शिक्षा का क्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें अर्वाचीन भाषाओं का भी अभ्यास करना पड़े, वह इसी उद्देश के आधार पर कहते हैं; इसी उद्देश को आदर्श मान कर वे उसे उचित बतलाते हैं।

अधिक वैज्ञानिक शिक्षा देने की जरूरत जो बतलाई जाती है उसका भी आधार यही उद्देश है—उसका भी बीज यही उद्देश है। परन्तु लड़के और लड़कियों को समाज और नागरिकता से सम्बन्ध रखनेवाले कर्तव्यो को पालन के योग्य बनाने के लिए यद्यपि थोड़ा बहुत उद्योग किया जाता है—थोड़ी बहुत सावधानता रक्खी जाती है—तथापि माँ-बाप से सम्बन्ध रखनेवाले कर्तव्यो को पालन करने की योग्यता उनमें पैदा करने के लिए कुछ भी उद्योग नहीं किया जाता—कुछ भी सावधानता नहीं रक्खी जाती। लोग इस बात को तो समझते हैं कि जीविका-निर्वाह के लिए पहलेही से ख़ूब जंगी तैयारी करने की ज़रूरत है; परन्तु ऐसा मालूम होता है कि वे यह नहीं समझते हैं कि बाल-बच्चों का पालन-पोषण करने के योग्य होने के लिए भी पहले से तैयारी करने की कोई जरूरत है। लड़कों के कितने ही वर्ष उस शिक्षा की प्राप्ति में ख़र्च कर दिये जाते हैं जिसका एक मात्र उपयोग यह है कि उससे लोगो की गिनती सभ्य, सुशिक्षित और सम्भावित आदमियों में हो जाती है। अर्थात् सिर्फ़ "सभ्यजनोचित शिक्षा" समझ कर ही उसकी प्राप्ति के लिए कई वर्ष व्यर्थ ख़राब किये जाते हैं। इसी तरह सिर्फ़ सायङ्कालीन जलसो में शामिल होने के योग्य बनाने के लिए लड़कियों के भी कितने हीं वर्ष साज-सिंगार की शिक्षा प्राप्त करने में खर्च कर दिये जाते हैं। परन्तु कुटुम्ब की व्यवस्था रखना—उसका प्रबन्ध करना—जो सबसे अधिक महत्त्व और जिम्मेदारी का काम है उसकी तैयारी के लिए लड़के लड़कियों में से किसी का एक घण्टा भी ख़र्च नहीं किया जाता। कहिए यह कितने आश्चर्य्य की बात है! क्या यह जिम्मेदारी ऐसी है कि इसके उठाने की आवश्यता में भी कोई सन्देह है? क्या यह समझ कर लोग इसकी परवा नहीं करते कि इस जिम्मेदारी के काम करने की बारी कभी, किसी समय, आवे आवे, न आवे न आवे? बात ऐसी नहीं है। दस में नौ आदमियों को यह ज़िम्मेदारी जरूर ही उठानी पड़ती है। अच्छा, क्या यह कोई सहल काम है? क्या यह ज़िम्मेदारी ऐसी है कि इसका बोझ सहजही मे उठाया जा सकता है? कदापि नहीं—हरगिज़ नहीं। हर एक वयस्क मनुष्य को—हर एक जवान आदमी को—जो काम करने पड़ते हैं उनमें यही सबसे अधिक कठिन है। अच्छा, क्या लड़के लड़कियाँ, बिना सिखलाने के, माँ-बाप का

कर्तव्य पूरा करने की शिक्षा आपही आप प्राप्त कर सकती हैं? क्या इस इतने बड़े काम की योग्यता उनमें आपही आप आ सकती है? नहीं, कभी नहीं। यही नहीं कि इस तरह अपनी शिक्षा आपही प्राप्त करने की कल्पना भी आज तक किसी के मन में नहीं आई; किन्तु यह विषय इतना अटपटा है कि इसमें स्वयं—शिक्षा के बहुत कम उपयोगी होने की सम्भावना है। इस तरह के और जितने पेचीदा विषय हैं उनमें यह ऐसा है कि अपनी शिक्षा आपही प्राप्त करने की कोशिश से इसमें बहुत ही कम कामयाबी की आशा है। शिक्षा-पद्धति से शिक्षण-कला को निकाल डालने के विषय में कोई उचित कारण नहीं बतलाया जा सकता। कोई यह नहीं कह सकता कि सिखलाने के जो विषय हैं उनसे शिक्षण-कला निकाल डाली जाय। चाहे माँ-बाप के सुख सम्बन्ध में कहिए, चाहे उनके बाल-बच्चों और दूर के भावी वंशजो के स्वभाव और जीवन के सम्बन्ध में कहिए, यह बात हमे ज़रूरही स्वीकार करनी होगी कि बच्चो के शारीरिक, मानसिक और नैतिक शिक्षा के उचित तरीक़ो का ज्ञान हम लोगो के लिए बहुत बडे महत्त्व का ज्ञान है। जो बातें प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री को सिखलाई जाती हैं उनमें यह विषय सबसे पीछे सिखलाना चाहिए। स्त्री-पुरुषो के विद्याभ्यास के क्रम में इस विषय का ज्ञान अन्त में होना चाहिए—उसकी शिक्षा अख़ीर में होनी चाहिए। बाल-बच्चे पैदा करने की योग्यता जिस तरह शरीर के परिपक्व होने का चिह्न है उसी तरह उन बाल-बच्चो को पालने-पोसने और शिक्षित बनाने का सामर्थ्य मन और बुद्धि के परिपक्व होने का चिह्न है। *और सब विषय जिसके भीतर आ जाते है, अर्थात्—सब विषयो का जिसमे अन्तर्भाव हो जाता है, अतएव शिक्षा-क्रम मे जिसे सबसे पीछे रखना चाहिए वह विषय शिक्षा की उपपत्ति और उसके देने की पद्धति है।*

२—बच्चों के पालन-पोषण और नैतिक शिक्षण की शोचनीय अवस्था।

इस प्रकार की शिक्षा के लिए तैयारी न रहने के कारण बच्चों के पालन-पोषण और विशेष करके उनके नीति-विषयक-शिक्षण की अवस्था बहुतही

शोचनीय होती है। माँ-बाप या तो विषय का कभी विचार ही नहीं करते, या यदि करते भी हैं तो उनके निकाले हुए सिद्धान्त, अपूर्ण, अज्ञानमूलक और परस्पर विरोधी होते हैं। माँ-बाप के, विशेष करके माँ के, बर्ताव के विषय में बहुधा देखा गया है कि जिस समय जो मनोविकार प्रबल होता है उसी के अनुसार बच्चों के साथ बर्ताव होता है। अर्थात् जब जैसा बर्ताव सूझ जाता है तब तैसा ही किया जाता है। किस तरह के बर्ताव से बच्चे को सबसे अधिक फ़ायदा पहुँचेगा, इसका अच्छी तरह विचार करके, और कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर करके, उसके अनुसार बर्ताव नहीं किया जाता; किन्तु उस समय माँ-बाप के मन में जो विकार ख़ूब बलवान् होते हैं, चाहे वे भले हों चाहे बुरे, उन्हीं की प्रेरणा से बच्चे के साथ माँ-बाप बर्ताव करते हैं। इसी से जैसे जैसे उनके मनोविकार बदलते जाते हैं वैसेही वैसे उनके बर्ताव भी हर घड़ी बदलते रहते है। अथवा, मनोवृत्तियों की प्रेरणा से किये गये उनके बर्ताव में यदि कोई निश्चित नियम और तरीक़े देख भी पड़ते हैं तो वे वही होते हैं जो परम्परा से, पिता-पितामह आदि से, प्राप्त होते हैं; अथवा लड़कपन में मन पर जो संस्कार हुए होते हैं उनकी याद से पैदा होते हैं; अथवा दाइयों और नौकर-चाकरों से सीखे हुए होते हैं। ये जितनी बातें हैं ज्ञान का परिणाम नहीं, अज्ञान का परिणाम हैं। ये ऐसे तरीक़ हैं जिनका कारण शिक्षा और ज्ञान-प्रकाश नहीं, किन्तु लोगों की तत्कालीन मूर्खता है। आत्मसंयम के विषय में लोगों की राय और उनके बर्ताव में जो अव्यवस्था और गड़बड़ है उसकी आलोचना करते समय जर्मनी का प्रसिद्ध ग्रन्थकार रिचर कहता है:—

३—रिचर—साहब-कृत-नैतिक-शिक्षा-सम्बन्धिनी दुर-वस्था की, आलोचना।

"बहुत से साधारण आदमियों के चित्तों में उत्पन्न होनेवाले परस्पर विरोधी विचार यदि मालूम हो जायँ और नैतिक शिक्षा देने के इरादे से लडको के पढने और अध्ययन करने के लिए यदि वे एकत्र किये जायँ तो कुछ कुछ इस तरह के होंगे:—पहले घटे में वे कहेंगे कि या तो हम ख़ुद लडके को विशुद्ध नीति पढावें या अध्यापक से पढवावे, दूसरे घटे में कहेंगे कि मिश्रित नीति, अर्थात् वह नीति जो निज के फायदे

की हो—जिससे स्वहित-साधन होता हो—लडके को पढानी चाहिए, तीसरे घटे में कहेगे—'क्या तुम नहीं देखते कि तुम्हारा बाप कौन कौन काम करता है'? अर्थात् जैसा मेरा आचरण है वैसाही तुम्हारा भी होना चाहिए, चौथे घटे मे कहेगे—'तुम अभी बच्चे हो और यह काम सिर्फ बडे आदमियो के करने लायक है', पॉचवे घटे में कहेगे—'सबसे बडी बात यह है कि ससार मे तुम्हारा नाम होना चाहिए और कोई अच्छा राजकीय पद तुम्हें मिलना चाहिए', छठे घटे मे कहेगे—'आदमी की योग्यता क्षणभगुर बातो पर नहीं अवलम्बित रहती, किन्तु चिरस्थायी' और शाश्वत बातो पर अवलम्बित रहती है', सातवे घटे मे कहेगे—'अतएव तुम पर चाहे जितना अन्याय हो तुम दया मत छोडो', आठवे घटे मे कहेगे—'परन्तु यदि कोई तुम पर आक्रमण करे तो वीरता से अपनी रक्षा करो', नवे घटे मे कहेगे—'बेटा शोर मत करो', दसवे घटे में कहेगे—'लडके को इस तरह चुपचाप न बैठना चाहिए', ग्यारहवें घटे मे कहेगे—'मॉ-बाप की तुम जितनी आज्ञा मानते हो उससे अधिक मानना चाहिए,, बारहवे घटे मे कहेगे—'तुम्हे अपने आप को शिक्षित बनाना चाहिए'। लीजिए। बारहो घटे के ये जुदा जुदा और परस्पर विरोधी उपदेश हो गये। इस तरह घडी घडी अपने सिद्धान्तो को बदल करके भी लोग उनके एकतरफीपन और असारता को छिपाने की कोशिश करते है। यह पुरुषों की बात हुई। यह उनकी बात हुई जिनको बाप कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है। स्त्रियो की अवस्था और भी अधिक शोचनीय है। इन विषयों में न तो वे पुरुषो हीं के सदृश हैं और न उस नक्कालही के सदृश जो कागज के एक बडल को एक बगल के नीचे और दूसरे को दूसरी बगल के नीचे दबा कर स्टेज (Stage), अर्थात् रङ्ग-भूमि, मे आया था। इस नक्काल से जब पूॅछा गया कि तुम्हारी दाहनी बगल के नीचे क्या है तब उसने जवाब दिया—"आज्ञाये", और जब पूॅछा गया कि बाई बगल के नीचे क्या है तब कहा—"प्रतिकूल आज्ञाये"। परन्तु स्त्रियो (यहॉ पर मतलब बच्चो की माताओ से है) की समता यदि यूनानी दानव ब्रायरिस से की जाय तो विशेष युक्तिसङ्गत हो, क्योकि इस दानव के सौ हाथ थे और हर हाथ मे कागजो का एक एक बडल था"।

४—जितने सुधार हैं सब धीरे ही धीरे होते हैं।

यह व्यवस्था जल्द नहीं बदल सकती। कितनीहीं पीढियों के बाद शायद इसमें नाम लेने लायक कोई फेर-फार हो सकें तो हो सकें। उसके पहले विशेष सुधार होने की कोई आशा नहीं। राजकीय नियमों की तरह शिक्षा-पद्धति-विषयक अच्छे नियम भी एक दम बनाये नहीं बनते। क्रम क्रम से, धीरे धीरे, उनकी उन्नति होती है। थोड़े समय में उनकी जो उन्नति होती है वह इतनी कम होती है कि ध्यान में नहीं आती। सच तो यह है कि चाहे जो सुधार हो धीरे धीरे ही होता है, तथापि उसके लिए भी उपायों की योजना जरूर करनी पड़ती है। वाद-विवाद और विवेचना करना भी इस तरह के उपायों में से एक उपाय है।

५—लार्ड पामर्स्टन और कवि श्यली आदि के मतों से प्रतिकूलता।

इंगलड के भूतपूर्व प्रधान मंत्री लार्ड पामर्स्टन का सिद्धान्त था कि जितने बच्चे पैदा होते हैं सब नेक होते हैं। पर यह सिद्धान्त हमें स्वीकार नहीं। इस उसूल के हम ख़िलाफ़ हैं। सब बातों का विचार करके हमें तो इसका उलटा सिद्धान्त अधिक पसन्द है। वह यद्यपि विचार और विवेचना के सामने ठहर नहीं सकता, तथापि सचाई से वह बहुत दूर नहीं है। उस में सचाई का अंश अधिक है। कुछ लोगों की राय है कि यदि होशियारी से बच्चों को शिक्षा दी जाय तो वे वैसे ही हो सकते हैं जैसे होने चाहिए। पर यह राय भी हम को क़बूल नहीं। हम इन लोगों के इस कथन से भी सहमत नहीं। हमारी समझ इसकी बिलकुल उलटी है। हमारा तो विश्वास यह है कि उत्तम शिक्षा से—अच्छे प्रबन्ध से—मनुष्य के स्वाभाविक दोष कम हो सकते हैं. पर पूरे तौर से दूर नहीं हो सकते। यह समझना कि सर्वोत्तम शिक्षा-पद्धति के द्वारा बिना विलम्ब के आदर्श आदमी बनाये जा सकते हैं, इंगलैंड के प्रसिद्ध कवि श्यली की कल्पना से मेल खाता है। इस कवि ने मानवी स्थिति के विषय में अपने काव्य में लिखा है कि यदि सब लोग अपने पुराने मतों और विवेकहीन आग्रहों को छोड़ दें तो संसार के सारे दुःख-

क्लेश एक दम ही दूर हो जायँ। परन्तु जिन लोगों ने मनुष्य-स्वभाव का—मानवी व्यवहारों का—शान्तता से विचार किया है उनको इन दोनों में से एक भी मत पसन्द नहीं आ सकता।

६—अपनी अपनी उद्योग-सिद्धि के विषय में निःसीम श्रद्धा का होना भी अच्छा है।

तथापि जो लोग इस तरह की अति-विश्वासपूर्ण आशायें रखते हैं उनकी बात का ज़रूर आदर करना चाहिए। उनके साथ सहानुभूति रखना-उनके साथ हमदर्दी ज़ाहिर करना—हमारा कर्तव्य है। किसी विषय में उत्साह दिखलाना, फिर चाहे वह उत्साह पागलपन के दरजे तक क्यों न पहुँच गया हो, बहुत अच्छी बात है। वह एक प्रकार की उत्तेजनापूर्ण शक्ति है। उसी की प्रेरणा से सारे बड़े बड़े काम होते हैं। हमारी समझ में इस शक्ति का होना बहुत ही ज़रूरी है। इसके बिना कोई काम नहीं हो सकता। यदि किसी उत्साही राजनीतिज्ञ मनुष्य को यह विश्वास न होता कि जिस सुधार के लिए वह लड़ रहा है वह बहुत ही ज़रूरी है तो न तो वह उतना परिश्रम ही उठाता और न उतना स्वार्थत्याग ही करता। जो लोग शराब पीने को सारी सामाजिक आपदाओं की जड़ समझते हैं उनकी समझ यदि ऐसी न होती तो वे शराब पीना बन्द करने के लिए कभी इतने उत्साह से खट पट न करते। दूसरे कामों की तरह सार्वजनिक हित के कामों में भी श्रम-विभाग से बड़े बड़े फ़ायदे होते हैं। और, श्रम-विभाग तभी हो सकता है जब सार्वजनिक-हित-चिन्तना करने वालों की प्रत्येक शाखा अपने अपने काम में तन्मय हो जाय। अर्थात् वह उसकी दास हो जाय—उसकी उपयोगिता के विषय में अपनी विलक्षण श्रद्धा दिखलावे। अतएव जो लोग मानसिक और नैतिक शिक्षा को ही सब रोगों की दवा समझते हैं उनकी अनुचित आशाओं को भी हम अनुपयोगी नहीं कह सकते। उनकी भ्रान्ति-मूलक कल्पनायें भी उपयोग से ख़ाली नहीं। अपनी अपनी उद्योग-सिद्धि के विषय में लोगों की श्रद्धा जो शिथिल नहीं होती उसे हम जगदीश्वर के उस उपकार का अंश समझते हैं जिसे उसने जगत् पर किया है।

७—बच्चों की नैतिक शिक्षा के विषय में माँ-बाप की असावधानता।

यदि वह बात सच भी हो कि नीति-विषयक किसी परमोत्तम शिक्षा-पद्धति की सहायता से हम बच्चों को अपने अभीष्ट साँचे में ढाल सकें, और यदि वह पद्धति प्रत्येक माँ-बाप के मन में अच्छी तरह अङ्कित की जा सके, तो भी हम अपने मनोवांछित फल के प्राप्त करने में समर्थ न होंगे। जिन लोगों के ख़याल ऐसे हैं वे इस बात को भूल जाते हैं कि इस तरह की कोई पद्धति व्यवहार में लाना मानों पहले ही से यह क़बूल कर लेना है कि बुद्धिमानी, नेकी और आत्मसंयम आदि गुण, जो किसी में भी नहीं पाये जाते, सब माँ-बापों में है। कुटुम्ब-व्यवस्था के विषय में जो लोग विचार करते हैं उनसे बड़ी भारी भूल जो होती है वह यह है कि सारे दोष और सारी कठिनाइयाँ वे सिर्फ़ बच्चों के सिर मँढ़ देते हैं, माँ-बाप को वे बिलकुल ही कोरा छोड़ देते हैं। कुटुम्ब-व्यवस्था, और इसी तरह राजकीय व्यवस्था, दोनो के विषय में लोगों की समझ आज कल कुछ ऐसी हो गई है कि व्यवस्था करने वाले गुणों की, और जिनकी व्यवस्था की जाती है वे अवगुणों की, खान हैं। अर्थात् शासकों में सब गुणही गुण हैं और शासितों में सब दोष ही दोष। परन्तु शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विचार करने से यह सिद्ध होता है कि बात बिलकुल ही उलटी है। बच्चों से माँ-बाप का जैसा सम्बन्ध होना चाहिए वह बदल कर कुछ का कुछ हो गया है। जिन नगर-निवासियो के साथ हम व्यवहार करते हैं और जिन लोगों से हम दुनिया में मिलते जुलते हैं उनमें हम अनेक दोष पाते हैं। हम जानते हैं कि उनमें कितनी हीं बातों की कमी है। हम देखते हैं कि प्रति दिन कितनी हीं लज्जाजनक बातें होती हैं, मित्रों में परस्पर कितने ही झगड़े फ़िसाद होते हैं, लोगों के दिवाले निकलने पर कितने ही निंद्य षड्यंत्र खुलते हैं, और मुक़द्दमेबाज़ी और पुलिस की रिपोर्टों में कितने ही अजीब अजीब भेद प्रकट होते हैं। इन सब बातों से हमारी आँखों के सामने लोगों की स्वार्थपरता, अप्रामाणिकता और निर्दयता का चित्र सा खड़ा हो जाता है। परन्तु जब हम बच्चों की घरेलू शिक्षा की आलोचना करते हैं, और उनकी शरारत और बुरी आदतों के विषय में विचार करने बैठते हैं, तब हम इस बात को मान सा लेते हैं

कि लड़के और लड़कियों की शिक्षा के सम्बन्ध में यही बड़े बड़े दोषों के दोषी लोग बिलकुल ही निर्दोष हैं। इस तरह की कल्पना—इस तरह की समझ—इतनी भ्रमपूर्ण है कि जिस घरेलू झगड़े फ़िसाद के अधिक अंश का कारण बच्चों की कुटिलता बतलाई जाती है उसका कारण ख़ुद माँ-बाप ही का बुरा बर्ताव है। यह हम दृढ़तापूर्वक कहते हैं और ऐसा कहने में हमें ज़रा भी सङ्कोच नहीं। जो लोग बच्चों से अधिक सहानुभूति रखते हैं और जिनमें आत्मनिग्रह की मात्रा भी कुछ अधिक होती है उनको हम दोषी नहीं ठहराते। हमारा यह कथन उनके विषय में नहीं। और हमें आशा है कि हमारे वाचकों में अनेक लोग ऐसे ही होंगे। हमारा मतलब यहाँ पर साधारण जन-समूह से है। बच्चे को दूध न पीने देख जो माँ क्रोध से लाल होकर हर घड़ी उसे झँझोरती रहती है उससे किस तरह की नैतिक शिक्षा मिलने की आशा की जा सकती है? इसे कल्पना न समझिए। हमने एक माँ को इस तरह करते अपनी आँखों देखा है। खिड़की और चौखट के बीच में उँगली दब जाने पर बच्चे की चीख़ सुन कर जो बाप पहले उसकी उँगली नहीं छुड़ाता, किन्तु उसे पीटना शुरू करता है वह अपने बच्चे के मन में न्याय-बुद्धि का कहाँ तक विकास कर सकेगा? यह न समझिए कि इस तरह के बाप का होना एक कल्पना मात्र है। नहीं ऐसे बाप एक आदमी ने अपनी आँखों देखे हैं और हमसे उनका हाल भी बयान किया है। संसार में इससे भी बुरे उदाहरण पाये जाते हैं और उनके भी गवाह मौजूद हैं। लोगों ने उन्हें भी ख़ुद अपनी आँख से देखा है। खेलने कूदने में रान की हड्डी उतर जाने पर बच्चे को घर आया देख जो बाप लात-घूँसे से उसकी ख़बर लेता है उसकी शिक्षा से बच्चे को फ़ायदा पहुँचने की क्या ख़ाक आशा हो सकती है! यह ज़रूर है कि इस तरह के उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं। ये पराकाष्ठा के बुरे उदाहरण हैं। पशुओं में एक प्रकार की स्वाभाविक अन्ध-बुद्धि होती है जिसकी प्रेरणा से वे अपने ही कमज़ोर और पीड़ित बन्धु-बान्धवों का नाश करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। मनुष्यों में जो ऐसे ही नर-पशु होते हैं, अर्थात् जिनमें पशुओं ही की ऐसी हिंसक-वृत्ति वास करती है, उन्हीं के सम्बन्ध के ये उदाहरण हैं। यह सब सच है; पर ये उदाहरण उस बर्ताव, उस चाल-चलन और उस समझ-बूझ के नमूने हैं जो अनेक कुटुम्बों में प्रति दिन देखे जाते हैं। अनेक आदमियों के घरों में इस

तरह की बातें अकसर रोज देखने में आती हैं। बहुत करके किसी शारीरिक कष्ट के कारण बच्चे को चिड़चिड़ाते और दिक करते देख माँ-बाप या दाई को उसके मुँह पर चपत जमाते किसने अनेक बार नहीं देखा ? ठोकर इत्यादि लगने से ज़मीन पर गिरे हुए बच्चे को झटका देकर उठाते और "मरो", या "नाक में दम कर ली है", इत्यादि क्रोधपूर्ण वाक्य कहते माँ को देख कर किसने इस तरह के बुरे बर्ताव को अकसर अनेक भावी झगड़े-फ़िसाद और वैमनस्य का बीज नहीं समझा ? जिस कठोरता के साथ बाप अपने बच्चे को चुप रहने का हुक्म देता है, क्या उससे यह साबित नहीं होता कि वह बच्चे से बहुत कम हमदर्दी रखता है—उस पर उसका प्रेम बहुत ही कम है ? अकसर बिना ज़रूरत के भी बच्चो की चितचाही बातों की बराबर रोक-टोक करने से क्या कम हानि होती है ? बच्चे स्वभाव ही से चपल होते हैं । कुछ न कुछ किये बिना उनसे रहा ही नहीं जाता । इस से चुपचाप बैठने का हुक्म पाने पर, बिना विशेष मानसिक कष्ट उठाये, बच्चे उसकी तामील नहीं कर सकते । रेल से सफ़र करते समय खिड़की के बाहर न झाँकने के हुक्म को सुन कर थोड़ी समझ के बच्चे की भी जिज्ञासा-सम्बन्धिनी बहुत बड़ी हानि होती है । हम पूछते हैं कि इस तरह की रोक-टोक इस तरह के प्रतिबन्ध—क्या इस बात के चिह्न नहीं हैं कि बच्चो के साथ बहुत ही कम हमदर्दी का बर्ताव किया जाता है ? सच तो यह है कि नैतिक शिक्षा में जिन कठिनाइयों से सामना पड़ता है उनके कारण उभयपक्षी हैं । अर्थात् ये कठिनाइयाँ माँ-बाप और बच्चे, दोनों, के दोषों से पैदा होती हैं । उनके कुछ अंशों की जड़ तो माँ-बाप के दोष हैं और कुछ की ख़ुद बच्चो के । यदि वंश-परम्परा-गत गुण-दोषों का संक्रमण होना—पिता, पितामह आदि के गुण-दोषों का पुत्र-पौत्र आदि में आ जाना—प्राकृतिक नियम है, जैसा कि प्रत्येक पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र के ज्ञाता को मालूम है, और यदि इस बात की सत्यता हम प्रति दिन अपनी बात-चीत और कहावतों में कबूल करते हैं, तो लड़कों में जो दोष पाये जाते हैं उन्हें थोड़ा बहुत उनके माँ-बाप के दोषों का प्रतिबिम्ब जरूर समझना चाहिए । "थोड़ा बहुत" हम इसलिए कहते हैं कि दूर के पूर्वजों के गुण-दोषो का परिणाम बहुत सूक्ष्म होने के कारण उसमें भेद हो जाता है । इससे जो परम्परागत गुण-दोष सन्तति में आ जाते हैं उनका सादृश्य सिर्फ़ मोटीही मोटी बातों

में देख पड़ता है, बारीक बातों में नहीं। यदि यह गुण-दोष-संक्रमण स्थूल रूप में परम्परागत है तो यह सिद्ध है कि बच्चों की जिन बुरी आदतों का—बच्चों के जिन बुरे मनोविकारों का—प्रतिबन्ध माँ-बाप को करना पड़ता है वे ख़ुद माँ-बाप मे भी मौजूद रहते हैं। क्योंकि यदि वे बातें माँ-बाप में न मौजूद होतीं तो बच्चों को कहाँ से मिलतीं। वे चाहे सब लोगों को खुल्लम खुल्ला न देख पड़ती हों, या चाहे दूसरे प्रबल मनोविकारों से दब गई हो, तथापि उन्हें माँ-बाप में होनाही चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि किसी आदर्श शिक्षा-पद्धति के साधारण तौर पर प्रचलित होने की आशा रखना व्यर्थ है; क्योंकि माँ-बापों को जितना साधु-स्वभाव—जितना नेक—होना चाहिए उतना वे नहीं हैं।

८—समाज की स्थिति के अनुसार ही नैतिक शिक्षा होती है।

इसके सिवा इस विषय में एक और भी आपत्ति है—एक और भी एतराज़ है। वह यह है कि अपने इस हेतु की तत्काल सिद्धि के लिए यदि साधन होते भी और उनको उचित रीति से काम में लाने के लिए माँ-बाप में अन्तर्ज्ञान, सहानुभूति और आत्मसंयम भी यदि यथेष्ट होते, तो भी यह कहा जा सकता कि जितने समय में और बातों मे सुधार होता है उससे जल्द कुटुम्ब-व्यवस्था में सुधार करने से कोई लाभ नहीं। हमारा उद्देश क्या है? क्या हमारा उद्देश यह नहीं कि शिक्षा चाहे जिस तरह की हो उसके योग से बच्चा सांसारिक काम-काज के लिए तैयार हो जाय—अथवा यों कहिए कि एक ऐसा नगर-निवासी पैदा किया जाय जिसका चाल-चलन भी अच्छा हो और जो दुनिया में अपने जीवन-निर्वाह के लिए कोई अच्छा रास्ता भी निकाल सके? अर्थात् शिक्षा का मुख्य उद्देश यही है कि उसके कारण आदमी संसार में अच्छी तरह से रह सके। यहाँ पर अच्छी तरह रह सकने से हमारा मतलब धन-सञ्चय करने से नहीं है—ख़ूब रुपया कमाने से नहीं है। हमारा मतलब उन साधनों से है—उन उपायों से है—जो कुटुम्ब के पालन-पोषण के लिए ज़रूरी हैं। और इस समय संसार की जैसी स्थिति है उसके ख़याल से कुटुम्ब-पालन के लिए जो साधन ज़रूरी हैं वे क्या

एक विशेष प्रकार की योग्यता सम्पादन किये बिनाहीं प्राप्त हो सकते हैं? क्या इससे यह मतलब नहीं कि इस समय जगत् जिस स्थिति मे है उस स्थिति के योग्य मनुष्य तैयार होने चाहिए? और यदि शिक्षा-पद्धति के किसी ढॅग से सर्वोत्तम मनुष्य तैयार भी हो गया—आदर्श आदमी बन भी गया—तो भी क्या वह संसार की वर्तमान स्थिति के योग्य होगा? उलटा इससे क्या हमें यह शङ्का न होगी कि उसमें ज़रूरत से अधिक सचाई और सदाचरण की मात्रा होने से वह उसके जीवन को कण्टकमय, अथवा यों कहिए कि असम्भव, कर देगी? व्यक्ति-विशेष के लिए—अलग अलग हर आदमी के लिए—इस तरह की शिक्षा का नतीजा चाहे कितना ही प्रशसनीय क्यों न हो, परन्तु इस समय के जन समाज और भावी सन्तान की मङ्गल-कामना के ख़याल से क्या यह सम्भव नही कि वह आपही अपनी नाकामयाबी का कारण हो जाय—क्या यह डर नहीं कि वह आपही अपनी हानि कर ले? इस बात के बहुत से कारण बतलाये जा सकते है कि मनुष्य-जाति की तरह कुटुम्ब की भी व्यवस्था, सब बातों का विचार करके, उतनी ही अच्छी होती है जितनी अच्छी कि मनुष्य-स्वभाव की साधारण अवस्था होती है। अर्थात् मनुष्यों का स्वभाव जितना अच्छा होता है कुटुम्ब और देश की व्यवस्था भी उतनी ही अच्छी होती है। सब लोगों के साधारण स्वभाव के अनुसार ही कुटुम्ब और देश की व्यवस्था के भले या बुरे होने का अनुमान किया जा सकता है। मनुष्यों का स्वभाव जैसा होता है कुटुम्ब और देश के शासन और प्रभुत्त्व का ढॅग भी वैसा ही होता है। लोगों का स्वभाव जैसा होता है हुकूमत भी वैसी ही होती है। इससे यह नतीजा निकलता है कि जन समूह का साधारण स्वभाव सुधर जाने से कुटुम्ब और देश की शासन-व्यवस्था भी सुधर जाती है। परन्तु मनुष्य स्वभाव को पहले सुधारे बिना यदि शासन-व्यवस्था का सुधार सम्भव होता तो उससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती। इस समय माता-पिता और अध्यापकों की बदौलत जो सख़्ती बच्चो को झेलनी पड़ती है वह मानों उस बहुत बड़ी सख़्ती सहन करने के लिए तैयारी है जिसका सामना उन्हें, बड़े होने पर, संसार में धॅसते ही करना पडेगा। यहां पर यह भी कहा जा सकता है कि यदि मां-बाप और अध्यापकों का लड़कों के साथ पूरे पूरे न्याय और प्रेम से बर्ताव करना सम्भव होता तो प्राढ़ वय में स्वार्थी

आदमियों से साबिक़ा पड़ने पर उन्हें उन लोगों के सम्पर्क से जो दुःख उठाने पड़ते हैं वे और भी अधिक दुःसह हो जाते। मदरसों में पढ़ने वाले लड़कों के साथ जो सख़्ती का बर्ताव किया जाता है उसके समर्थन में कोई कोई इसी तरह की बातें कहते हैं—इसी तरह के उज्र पेश करते हैं। वे कहते हैं कि मदरसा एक तरह की छोटी सी दुनिया है। उसमें भरती हो कर और उस की सख़्तियाँ झेल कर लड़के असली दुनिया की सख़्तियाँ झेलने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह कारण—यह उज्र—यद्यपि बिलकुल ही निःसार नहीं है; तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह बहुत ही अपूर्ण है। क्योंकि, प्रौढ़ वय में जो शिक्षा मिलती है वह घर की और मदरसे की शिक्षा से यद्यपि बहुत अधिक उत्तम न होनी चाहिए, तथापि कुछ अधिक अच्छी ज़रूर होनी चाहिए। पर इटन, विंचेस्टर और हैरो इत्यादि की प्रसिद्ध प्रसिद्ध पाठशालाओ मे जिस तरह की शिक्षा लड़कों को दी ज़ाती है वह प्रौढ़ वय की शिक्षा से कहीं ख़राब है—अन्याय और निर्दयता से कहीं अधिक परिपूर्ण है। हर तरह की शिक्षा से मनुष्य का सुधार होना चाहिए। पर हम लोगों के स्कूलों की शिक्षा से यह उद्देश नहीं सिद्ध होता। मनुष्यों की उन्नति में सहायक होने के बदले वह लड़कों को स्वेच्छाचारी शासन करने और मनुष्यों के साथ अज्ञान पशुओं की तरह बुरा व्यवहार करने का प्रेमी बना देती है। इस तरह वह उन्हें सुधारने के बदले, समाज की जो वर्तमान स्थिति है उससे भी निकृष्ट स्थिति के योग्य तैयार कर देती है। देश के क़ानून बनाने वाले कौंसिल मे जो लोग रहते हैं वे ऐसे ही स्कूलों मे शिक्षा पाये हुए होते हैं। अतएव यह निष्ठुर प्रभाव हमारी जातीय उन्नति का बाधक हो जाता है। ऐसे लोग भला देश का सुधार करने में कितनी मदद देंगे, इसका अनुमान सहज ही में हो सकता है।

९—प्रकृत विषय में की गई एक शङ्का का समाधान।

यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि—"क्या यह बात कहीं की कही नहीं जा रही है? जिस बात के साबित करने की ज़रूरत थी उसके भी आगे क्या इस विषय का प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है? पहले तो नैतिक शिक्षा की एक भी पद्धति ऐसी नहीं जिससे लड़के तुरन्त ही वैसे सदा-

चरणशील हो सकें जैसा कि उन्हें होना चाहिए। फिर यदि ऐसी पद्धति होती भी तो उसका उचित उपयोग करने योग्य इस समय माँ-बाप ही नहीं हैं—अर्थात् उनमें यह काम करने के लिए उचित योग्यता की अत्यन्त ही कमी है। और यदि ऐसी पद्धति का उचित उपयोग करने में कामयाबी भी होती तो भी समाज की अवस्था इस समय ऐसी है कि उसके उपयोग का फल ज़रूर हानिकारक होता—उसका उपयोग समाज की स्थिति के अनुकूल ही न होता। अतएव क्या इससे यह बात नहीं साबित होती कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का सुधारना सम्भव नहीं और सम्भव भी हो तो उचित नहीं"? नहीं। इससे सिर्फ़ यही साबित होता है—इससे सिर्फ़ यही नतीजा निकलता है—कि कुटुम्ब-व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाली और और बातों के सुधार के साथ साथ इस विषय का भी सुधार होना चाहिए। इससे सिर्फ़ इतना ही सिद्ध होता है कि शिक्षा-पद्धति थोड़ी थोड़ी सुधारी जा सकती है; एक दम नहीं; और एक दम सुधारना मुनासिब भी नहीं। इससे सिर्फ़ यही साबित होता है कि तात्त्विक दृष्टि से नियत किये गये नैतिक नियम, व्यवहार मे लाये जाने में, मनुष्य-स्वभाव की वर्तमान स्थिति के अधीन होने चाहिए। अर्थात् जैसी स्थिति हो उसके अनुसार उन नियमों में फेरफार होने चाहिए। लड़के, माँ-बाप और जन-समाज में जिन बातों की कमी होगी—उनमें जो दोष होंगे—उनके अनुसार उन नियमों में परिवर्तन किये बिना काम न चल सकेगा। जैसे जैसे जन-समुदाय का स्वभाव सुधरता जायगा वैसे ही वैसे उन नियमों की पाबन्दी भी अधिकाधिक हो सकेगी। अन्यथा नहीं। एक दम से उनके अनुकूल व्यवहार करना असम्भव है।

१०—एक और शङ्का, और उसका समाधान।

इस पर हमारा समालोचक यह आक्षेप कर सकता है—कि "कुछ भी हो, पर यह स्पष्ट है कि कुटुम्ब की शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली आदर्श-पद्धति स्थिर करना व्यर्थ है। जैसा समय है उससे अधिक उन्नत शिक्षा-पद्धति ढूँढ़ निकालने में परिश्रम करने, और तदनुसार शिक्षा देने की सिफ़ारिश लोगो से करते बैठने, से कोई लाभ नहीं"। हम इस आक्षेप का भी विरोध करते हैं। हम इस एतराज़ के भी ख़िलाफ़ हैं। कुटुम्ब-व्यवस्था

को हम राजकीय-व्यवस्था ही के समान समझते हैं। राजकीय व्यवस्था के सम्बन्ध में यद्यपि इस समय सर्वोत्तम नीति-मार्ग का अवलम्बन करना असम्भव है—यद्यपि इस समय सत्य से सर्वथा परिपूर्ण नीति के अनुसार बर्ताव करना कठिन है—तथापि इस बात के जानने की बड़ी ज़रूरत है कि वह मार्ग कौन सा है—वह नीति कौन सी है। सत्पथ का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक बात है। उसका ज्ञान हो जाने से यह फ़ायदा होगा कि नैतिक शिक्षा में फेर-फार करते समय हम उनको यथा-सम्भव सत्य से दूर न होने देंगे। जहाँ तक हो सकेगा उन्हें हम सत्य की तरफ़ झुकाते रहेंगे। इसी तरह कुटुम्ब-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी हमें एक सर्वोत्तम आदर्श ढूँढ़ निकालना चाहिए, जिससे धीरे धीरे हम उसके पास पहुँच सकें। इस तरह की आदर्श-नीति का निश्चय हो जाने से हमे उससे हानि होने की सम्भावना नहीं। हमें इस बात से न डरना चाहिए कि सर्वोत्तम सत्पथ के मालूम हो जाने से कोई बुराई पैदा होगी। पुरानी रीतियों को मनुष्य सहज मे नहीं छोड़ते। परम्परा से प्राप्त हुई बातों को पूर्ववत् रखने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति कुछ ऐसी प्रबल है कि शीघ्र सुधार के मार्ग मे वह बहुत बाधा डालती है। उसके मारे शीघ्रता से कोई सुधार होने ही नहीं पाता। संसार की स्थिति कुछ ऐसी हो गई है कि जब तक सब लोगो की बुद्धि और विश्वास का विकास अधिक ऊँचे दरजे तक नहीं पहुँचता तब तक मनुष्य किसी नई बात को क़बूल ही नहीं करते। अथवा यों कहिए कि कोई नई बात निकालने पर जब तक आदमियों के मन की स्थिति उस बात के अनुकूल नहीं हो जाती तब तक उसका महत्त्व उनके ध्यान में नहीं आता। अतएव वे उसे स्वीकार भी नहीं करते। हाँ, नाम मात्र के लिए वे भलेही चाहे उसे स्वीकार करलें, पर मन से नहीं कर सकते। यहाँ तक कि जब किसी बात की सचाई का निश्चय भी हो जाता है तब भी उसके अनुसार बर्ताव करने में इतने अटकाव पैदा होते हैं कि बड़े बड़े परोपकार-पटु सज्जन ही नहीं, किन्तु तत्त्ववेत्ता भी, धैर्य से हाथ धो बैठते हैं। उनका भी धीरज छूट जाता है—उनकी भी शान्ति-वृत्ति भङ्ग हो जाती है। अतएव इस बात पर विश्वास रखिए कि बच्चो की शिक्षा की उचित पद्धति के मार्ग में जो कठिनाइयाँ आती हैं उनके कारण उस पद्धति के अनुसार कारवाई करने की कोशिश में ज़रूरही रुकावट होती है और बहुत कुछ होती है।

११—नैतिक शिक्षा के सच्चे उद्देश और सच्चे तरीक़े का विचार ।

यहाँ तक जो कुछ हमने लिखा उपोद्घात या भूमिका के तौर पर लिखा । अब इसके आगे हम नैतिक शिक्षा के सच्चे उद्देश और सच्चे तरीके का विचार करते हैं । पहले हम इस विषय के व्यापक नियमों का विचार करने में कुछ पृष्ठ ख़र्च करेंगे । पाठकों से प्रार्थना है कि कृपापूर्वक उन्हें धीरज से पढ़ें, ऊब न उठें । इसके बाद हम उदाहरण-पूर्वक इस बात को स्पष्ट करके दिखलावेंगे कि कुटुम्ब-व्यवस्था में हर घड़ी भाँति भाँति की कठिनाइयों का सामना पड़ने पर माँ-बाप को किस तरह का बर्ताव करना चाहिए ।

१२—शारीरिक व्यवहारों को अपने क़ाबू में रखने की स्वाभाविक शिक्षा ।

जब कोई लड़का गिर पड़ता है या मेज से उसका सिर टकरा जाता है तब उसे चोट लगती है । इस चोट की याद उसे बनी रहती है । इसलिए आगे को वह अधिक होशियार हो जाता है । इस तरह बार बार अनुभव होने से उसे ऐसी शिक्षा मिल जाती है कि वह अपने शारीरिक व्यापार को अपने क़ाबू में रखने लगता है । वह समझ जाता है कि किस तरह चलने से आदमी नहीं गिरता या मेज़ से टक्कर नहीं खाता । यदि वह अँगेठी की गरम छड़ें या दस्तपनाह पकड़ ले, या जलते हुए चिराग़ की लौ में अपनी उँगली लगा दे, या अपने बदन पर कहीं खौलता हुआ पानी डाल ले तो वह जले बिना न रहेगा । पर इससे उसे ऐसा सबक मिल जायगा कि जल्दी न भूलेगा । इस तरह की दो एक घटनाओं से उस पर ऐसा गहरा असर पड़ेगा कि चाहे उसे कितनाहीं प्रोत्साहन क्यों न मिले, फिर कभी वह अपनी शारीरिक व्यवस्था के नियमों का उल्लंघन न करेगा । अब देखिए, इन घटनाओं के द्वारा प्रकृति-देवी नैतिक शिक्षा के सच्चे सिद्धान्त और सच्चे व्यवहार को कितने सीधे तरीक़े से हमें सिखलाती है । जिस सिद्धान्त

और जिस व्यवहार को सब लोगों ने बहुत मामूली समझ कर स्वीकार किया है उनसे यद्यपि यह सिद्धान्त और यह व्यवहार बहुत कुछ मिलते हुए मालूम होते हैं तथापि परीक्षा-पूर्वक विचार करने से यह ध्यान में आजायगा कि ये उनसे बहुत कुछ भिन्न हैं।

१३—शारीरिक काम भी सत् असत् कहे जाने चाहिए।

विचार करने से पहली बात जो ध्यान में आती है वह यह है कि शरीर में चोट आदि लगने और उससे दुःख पहुँचने का मूल कारण क्या है? कारण है सिर्फ़ शरीर का दुरुपयोग और उस दुरुपयोग का परिणाम। अर्थात् शरीर का दुरुपयोग करने ही से उसमें चोट लगती है या वह जल जाता है और दुःख का कारण होता है। यह दुरुपयोग ही एक प्रकार का अपराध है और अपराध करने से दण्ड ज़रूरही भोग करना पड़ता है। सत् और असत्, अथवा उचित और अनुचित, यद्यपि ऐसे शब्द हैं जिनका व्यवहार बहुधा ऐसी बातों के सम्बन्ध में नहीं किया जाता जिनके परिणाम शरीर को प्रत्यक्ष भोगने पड़ते हैं, तथापि जो इस विषय का अच्छी तरह विचार करेगा उसे साफ़ मालूम हो जायगा कि इन शब्दों का व्यवहार और बातों की तरह ऐसी बातों के विषय में भी ज़रूर करना चाहिए। जैसे और बातें उचित और अनुचित, या सत् और असत् नाम की मदों में रक्खी जाती हैं वैसेही ये भी ज़रूर रक्खी जानी चाहिए। नैतिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले जितने सिद्धान्त हैं, चाहे जिस तत्त्व के आधार पर उनका विचार किया जाय, सब इस बात पर एकमत हैं कि जिस आचरण के—जिस चाल चलन के—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणामों का समुदाय हितकर है वही सत् या उचित है, और जिस के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणामों का समुदाय अहितकर वही असत् या अनुचित है। मतलब यह कि आचरण के भले या बुरे होने का बीज उससे होनेवाला सुख या दुःख है। जिस आचरण से सुख मिलता है वह भला है और जिससे दुःख मिलता है वह बुरा है। आचरण-सम्बन्धिनी यही अन्तिम परीक्षा है। उसके अच्छे या बुरे होने की यही सर्वोत्तम कसौटी है। मद्यपान को हम इसलिए असत् अर्थात् बुरा समझते हैं, क्योंकि मद्यप की सन्तति और उसके आश्रित जनों का शरीर

क्षीण हो जाता है, और, और भी कितनेही नैतिक अनिष्ट उन्हें भोगने पड़ते हैं। यदि चोरी करना चोर के, और जिसका माल चोरी जाता है उसके भी, सुख का कारण होता तो चोर-कर्म्म की गिनती कभी पातकों में न होती। यदि हम जानते कि दया के कामों से आदमियों को विशेष कष्ट सहने पड़ते हैं तो हम उनको जरूर निंद्य समझते—तो हम उनको कभी दयादर्शक न कहते। किसी अख़बार को उठा कर उसका पहलाही लेख पढ़िए, या यदि कहीं सामाजिक विषयों पर बात चीत हो रही हो तो उसे सुनिए, या पारलियामेंट के मंज़ूर किये हुए क़ायदे कानून देखिए, या राजकीय विषयों की चर्चा का विचार कीजिए, या सार्वजनिक हित की बातों पर ध्यान दीजिए, या किसी व्यक्ति-विशेष के काम काज को देखिए—सब कहीं आप यही पावेंगे कि किसी बात को भली या बुरी ठहराने में लोग सुख-दुःखही का विचार करते हैं। जिस बात से सुख की सम्भावना होती है उसे वे भली और जिससे दुःख की सम्भावना होती है उसे बुरी ठहराते हैं। और यदि सारी आनुषङ्गिक बातों की—सारी दूसरे दरजे की बातों की—छान बीन करने से सत् या असत्, भले या बुरे, की कसौटी हम सुख या दुःख ही को पाते हैं तो भला यह कौन कह सकेगा कि सिर्फ़ शारीरिक व्यापारो के ही सम्बन्ध में उनसे उत्पन्न होनेवाले सुख या दुःख के आधार पर सत् या असत् शब्दो का प्रयोग न होना चाहिए? अर्थात् शारीरिक कामों में भी इन शब्दों का प्रयोग होना चाहिए और जिस काम से सुख हो उसे भला और जिससे दुःख हो उसे बुरा कहना चाहिए।

१४—शारीरिक अपराध करने से आदमी को स्वाभाविक दण्ड भोगने पड़ते हैं।

अब इस बात का विचार कीजिए कि वे कौन से दण्ड हैं जो इन शारीरिक प्रमादों को—शरीर से होनेवाली इन भूलों को—रोकते हैं। जिन दण्डों के डर से आदमी इस तरह की भूलें नहीं करते उनके स्वरूप का विचार कीजिए। हमें और अधिक अच्छा शब्द नहीं मिलता, इसी लिए हम "दण्ड" शब्द का प्रयोग यहाँ पर करते हैं। पर "दण्ड" शब्द अन्वर्थक नहीं है। सच पूछिए तो शारीरिक अपराधो के कारण मनुष्य को जो निष्कृति-भोग

करना पड़ता है उसे दण्ड नहीं कह सकते । ऐसे अपराध करने से आदमी को जो क्लेश उठाना पड़ता है वह कृत्रिम और अनावश्यक क्लेश नहीं है। कृत्रिम रीति से उसे वह क्लेश नहीं पहुँचाया जाता । किन्तु जो बातें शरीर के सुख और कल्याण की बाधक हैं उनको रोकने का वह साधन है । और साधन भी कैसा ? सुखकर ! यदि इस तरह के सुखकर साधन आदमी को न प्राप्त होते तो शारीरिक व्यथायें उसके जीवन को बहुत जल्द नष्ट कर डालतीं । इस तरह के दण्डों में—यदि उनको दण्ड कहनाहीं चाहिए—यह विशेषता है कि उन्हें किसी कृत्रिम रीति से देना नहीं पड़ता । वे सिर्फ़ उन कामों के अनिवार्य्य परिणाम हैं जिनके बादही उन्हें भोग करना पड़ता है । वे बच्चे के कृत-कर्म्म के अवश्यम्भावी विप्रतिकार हैं; और कुछ नहीं।

१५—जैसा अपराध वैसा दण्ड—थोड़े के लिए थोड़ा, बड़े के लिए बहुत।

इसके सिवा यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि ये पीड़ा-जनक दण्ड या विप्रतिकार कृतापराधों के गौरव-लाघव के अनुसार थोड़े या बहुत होते हैं। छोटी दुर्घटना से थोड़ी पीड़ा होती है; बड़ी दुर्घटना से बहुत। प्रकृति का यह नियम नहीं कि जो लड़का दरवाज़े की सीढ़ियों से गिर पड़े उसे सिर्फ़ इसलिए ज़रूरत से ज़ियादा तकलीफ़ उठानी पड़े जिसमें जितनी सावधानता से उसे चलना चाहिए भविष्यत् में वह उससे अधिक सावधानता से काम ले। नहीं, जैसा अपराध वैसीही सज़ा। उसमें तिल भर भी इधर उधर नहीं हो सकता। प्रकृति बच्चे को अपने प्रति दिन के तजरिबे से इस बात को जानने के लिए छोड़ देती है कि कौनसी भूल छोटी है और कौनसी बड़ी, और उनकी छुटाई बड़ाई के ख़याल से किस तरह का बर्ताव करना उचित है।

१६—स्वाभाविक दण्ड अचल, निश्चित और प्रत्यक्ष होते हैं।

अन्त में इस बात को भी याद रखना चाहिए कि जो स्वाभाविक दण्ड बच्चे को उसके बुरे कामों के कारण मिलते हैं, वे अचल, निश्चित और प्रत्यक्ष

होते हैं। उनसे किसी तरह छुटकारा नहीं हो सकता। जिस अपराध के लिए जो दण्ड एक दफ़े मिलता है वही दण्ड उस अपराध के लिए हमेशा मिलता है। इसमे कभी भूल नहीं होती। यहाँ भमकी को कोई नहीं पूछता। चुप चाप सख़्ती से काम लिया जाता है। यदि बच्चा अपनी उँगली में आलपीन चुभो ले तो चुभने के साथही पीड़ा के रूप में दण्ड मिल जाता है। यदि वह फिर वैसाही करे तो फिर वही दण्ड मिलता है। इसी तरह इस अपराध के लिए उसे हमेशा यही दण्ड मिला करता है। जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में बच्चे के जितने व्यापार होते हैं सब में उसे एक विलक्षण प्रकार का निर्बन्ध और आग्रह देख पड़ता है। उनमें वह दया माया का नाम तक नहीं पाता। वे उसका एक भी उज़्र नहीं सुनते। उनके फ़ैसले की अपील नहीं। उनके कामों की न दाद है न फ़रियाद। उनके हाथ से बच्चे को जब इस तरह की अत्यन्त कठिन, पर परिणाम में कल्याणकारक, सजा मिलती है तब वह उस विषय में फिर कभी भूल न होने देने के लिए अत्यन्त सावधान हो जाता है।

१७—प्राकृतिक शिक्षा का प्रकार छोटे बड़े सबके लिए एकसा है।

जब हम इस बात को याद करते हैं कि ये साधारण नियम जैसे बचपन में वैसेही प्रौढ़ वय में भी बराबर एक से फलदायक होते हैं तब इनका महत्त्व और भी अधिक हमारे ध्यान में चढ़ जाता है। तजरिबे से जाने गये प्राकृतिक परिणामों के ज्ञान की बदौलत ही स्त्री और पुरुष, दोनों, कुमार्ग से सन्मार्ग में आते हैं। ऐसेही परिणामों का ज्ञान लोगों को बुरे मार्ग से बचाता है। जब घर की शिक्षा समाप्त हो चुकती है और जब, "ऐसा काम न करो", "वैसा काम न करो", इत्यादि उपदेश देने के लिए न माँ-बाप ही पास होते हैं और न अध्यापकही, तब उसी शिक्षा से काम पड़ता है जिसका ज्ञान बचपन में लड़कों को अपनी भलाई का रास्ता आप ही ढूँढ़ निकालने के लिए कराया जाता है। सांसारिक काम-काज शुरू करने पर यदि कोई नव-युवक अपना समय बे फ़ायदा खोता है अथवा जो काम उसे दिया गया है उसको सुस्ती से या अनाड़ियों की तरह करता है

तो उसे धीरे धीरे स्वाभाविक दण्ड ज़रूर मिल जाता है। उसे क़ुदरती सज़ा मिले बिना नहीं रहती। वह अपने काम से हटा दिया जाता है। अतएव कुछ समय तक उसे थोड़े बहुत दारिद्र के दुःख ज़रूर भोगने पड़ते हैं। जो मनुष्य अनियमित है—जो समय का पाबन्द नहीं है—अतएव जो काम-काज, मनोरञ्जन और भेंट-मुलाकात आदि के लिए नियत किये गये समय को गँवा देता है उसे असुविधा, हानि और निराशा के रूप में अपने अनियमितपन का परिणाम ज़रूर भोगना पड़ता है। जो व्यापारी बहुत अधिक मुनाफ़े से अपना माल बेचता है उसके ग्राहक कम हो जाते हैं। अतएव उसे अपना लोभ कम करके थोड़े मुनाफ़े से माल बेचना पड़ता है। जिस डाक्टर की चाह कम होने लगती है वह अधिक तकलीफ़ उठा कर आपही आप रोगियों के इलाज की तरफ़ अधिक ध्यान देने लगता है—उन के दवा-पानी का वह पहले से अधिक ख़याल रखने लगता है। जो लेन-देन करनेवाला महाजन दूसरों पर बहुत अधिक विश्वास करने लगता है और जो व्यापारी व्यापार में बहुत अधिक रुपया फैला देता है वे दोनों, बिना अच्छी तरह समझे-बूझे जल्दी में काम करने के कारण पैदा हुए विघ्नों से यह सीख जाते हैं कि लेन-देन और बनिज-व्यापार में अधिक ख़बरदारी से काम करने की ज़रूरत है। हर एक नगर निवासी के जीवन में हमेशा ऐसीही बातें हुआ करती हैं। कहावत है कि—"जल जाने से बच्चा आग से डरता है", या "दूध का जला छाँछ फूँक फूँक कर पीता है"। ये कहावतें लोगो के मुँह से अकसर सुनने में आती हैं और जिन बातों का ज़िक्र यहाँ पर हम कर रहे हैं उनमें अच्छी तरह चिपकती हैं। इनसे सिर्फ़ यही बात नहीं सूचित होती कि बचपन मे बच्चों को प्रकृति (ईश्वर) जो शिक्षा देती है उसमें, और सांसारिक काम-काज करने पर प्रौढ़ वय के आदमियों को जो शिक्षा मिलती है उसमें, समानता है। इस बात को तो सब लोग पूरे तौर पर क़बूल करते ही हैं। किन्तु इनसे यह बात भी सूचित होती है कि उनको यह विश्वास भी है कि यही शिक्षा-पद्धति सबसे उत्तम और सबसे अधिक प्रभाव-पूर्ण है। यह न समझिए कि इस विश्वास की सूचना लोगो की उक्तियों में हमेशा ध्वनि से ही निकलती है। नहीं, बहुधा वे इस बात को साफ़ साफ़ भी कहते हैं। हर आदमी ने लोगों को यह कहते सुना होगा कि अमुक अमुक दुर्व्यसन या बुरी आदत, जिसमें हम पहले लिख

थे, बहुत कुछ हानि उठाने के बाद, हम छोड सके। किसी ख़र्चीले और आकाश-पाताल-भेदी कल्पनायें करनेवाले की बातों की आलोचना करते समय लोगो के मुँह से हर आदमी ने यह सुना होगा कि उसे रास्ते पर लाने के लिए उपदेश देने और सिखलाने का कुछ भी फल नहीं हुआ। जब तक उसने एक अच्छी ठोकर खाकर अनुभव नहीं प्राप्त किया तब तक वह होश में नहीं आया—तब तक उस पर समझाने बुझाने का कुछ भी असर नहीं हुआ। अपने किये का फल भोगने हीं से उसकी आँखें खुलीं। कृत-कर्म्म के परिणाम ही ने दुर्व्यसनों से उसकी रक्षा की। यही नहीं कि स्वाभाविक विप्रतिकार—कृत-कर्म्मों का आपही आप हुआ फल—सबसे अधिक प्रभाव-जनक दण्ड हो। नहीं, मनुष्यों के द्वारा निश्चित किया गया कोई भी दण्ड उसकी बराबरी नहीं कर सकता। यदि इस बात के और भी सबूत दरकार हों तो हम फ़ौजदारी के उन अनेक क़ायदे-क़ानूनों की याद दिलाते है जिनका जारी किया जाना प्रायः निष्फल साबित हुआ है—जिनका इष्ट हेतु सिद्ध ही नहीं हुआ। अनेक प्रकार के दण्ड देने के इरादे से आज तक कितने हीं पेनल कोड बन चुके है—कितनेहीं फ़ौजदारी क़ानून ज़बरदस्ती जारी हो चुके हैं—पर एक भी क़ानून ऐसा नहीं जिसने उसके पक्षपातियों की आशाओ को पूर्ण किया हो। कृत्रिम दण्डों के योग से कभी सुधार नहीं हुआ, सुधार करने की उनमे शक्ति ही नहीं। उनके कारण कहीं कहीं अपराधों की संख्या बढ़ ज़रूर गई है। निज के तौर पर खोले गये जिन आचरण-शोधक जेलों मे प्राकृतिक दण्ड-प्रणाली के अनुसार दण्ड देकर शिक्षा होती है उन्हीं को इसमें कामयाबी होती है औरों को नहीं। इन जेलख़ानो में जो क़ैदी रहते हैं उन्हे अपने अपराधों के लिए सिर्फ़ स्वाभाविक दण्ड दिया जाता है। इससे अधिक और कुछ नहीं किया जाता। अपराध करने पर अपराधी की सिर्फ इतनीहीं स्वतन्त्रता यहाँ छीनी जाती है जितनी से समाज को कष्ट पहुँचने का डर होता है। इस तरह अपराधी की सिर्फ़ आवश्यक स्वतन्त्रता को छीन कर—उसकी स्वतंत्रता का सिर्फ़ मतलब भर के लिए प्रतिबन्ध करके—जब तक वह क़ैद रहता है तब तक अपनी ही कमाई से अपना पेट पालने के लिए उससे काम लिया जाता है। इससे दो बातें हमें मालूम हुईं। एक तो यह कि जिस शिक्षा के अनुसार छोटे छोटे बच्चों को बाल्यावस्था में

उचित वर्ताव करना सिखलाया जाता है उसी के अनुसार प्रौढ़ वय में वयस्क आदमियों का एक बहुत बड़ा समूह क़ाबू मे रक्खा जा सकता है और उसकी थोड़ी बहुत उन्नति भी की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि बड़ी उमर के बुरे से बुरे लोगों के वर्ताव को दुरुस्त करने के लिए आदमियों की निश्चित की हुई शिक्षा-पद्धति प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति से जितनी ही अधिक भिन्न होती है उतनी ही अधिक विफल होती है और जितनी ही अधिक उससे मिलती जुलती होती है उतनी ही अधिक उसमें सफलता होती है।

१८—जो शिक्षा-प्रणाली बचपन और प्रौढ वय में काम देती है वही इन दोनों अवस्थाओं के बीच की अवस्था में भी काम देगी।

इससे क्या हमें यह नहीं मालूम होता कि नैतिक शिक्षा का यही नमूना होना चाहिए? इससे क्या यह बात नहीं साबित होती कि नैतिक शिक्षा की प्रणाली निश्चित करने में यही सिद्धान्त हमारा पथदर्शक है? बचपन और जवानी, दोनों, में जिस प्रणाली का प्रभाव इतना कल्याणकारक है वही प्रणाली क्या बचपन और जवानी के बीच की उम्र वालों के लिए भी कल्याणकारक न होगी? क्या कोई इस बात पर विश्वास करेगा कि जो प्रणाली जीवन की पहली और आख़री स्थिति में अच्छी तरह काम देती है वह मँझली स्थिति मे काम न देगी? क्या इससे यह साफ़ ज़ाहिर नहीं है कि प्राकृतिक बातों के व्याख्याता और शिक्षक बन कर माँ-बाप को चाहिए कि वे अपने बच्चो को उनके कृत कामों का परिणाम भोगने के लिए विवश करें? अर्थात् उनके जिस काम का जो परिणाम हो उसे उन्हें सहन करने दें। प्राकृतिक नियम यह है कि जो जैसा काम करे वह वैसा ही फल भी भोगे। इस फल-भोग से बच्चों को बचाने की कोशिश न करना चाहिए। माँ-बाप को उचित है कि इस तरह के फल-भोग को न तो वे कम करें और न जियादह। न तो उन्हें ऐसे भोग को हलका ही कर देना चाहिए और न अधिक कठोर ही, और न प्राकृतिक परिणामों की जगह बनावटी परिणामों ही का भोग कराना चाहिए। प्राकृतिक भोग जैसा हो वैसा ही रहने देना चाहिए। हम समझते हैं कि कोई भी पक्षपातहीन आदमी इस बात को क़बूल करने में सङ्कोच न करेगा।

१९—इस विषय में एक आक्षेप का उत्तर ।

सम्भव है, बहुत आदमी शायद यह कहें कि अनेक माँ-बाप अब भी ऐसा ही करते हैं । जो दण्ड वे देते हैं उसे बहुधा लड़कों के बुरे चाल-चलन का फल ही समझ कर देते हैं । माँ-बाप को क्रोध आने पर वह क्रोध गाली या मारपीट के रूप में प्रकट होता है । इसका कारण बच्चे का अपराध या बुरा चाल-चलन ही तो है । इस तरह गाली या मार से बच्चे के मन या शरीर को जो कष्ट पहुँचता है वह उसके दुराचार का स्वाभाविक परिणाम नहीं तो क्या है ? यह आक्षेप यद्यपि भूलों से भरा हुआ है तथापि इसमें कुछ सत्यांश भी है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि माँ-बाप का क्रोध बच्चे के अपराध का सच्चा परिणाम है और उससे इस तरह के अपराध कम भी हो जाते हैं । बच्चों से दिक किये जाने पर क्रोधी माँ-बाप उन्हें घुड़कते हैं, धमकाते हैं और मारते भी हैं । यह सच है कि माँ-बाप अपराध करने ही के कारण बच्चों को इस तरह के दण्ड देते हैं । अतएव ऐसे दण्ड को बच्चों के कृतापराधों का एक प्रकार से स्वाभाविक परिणाम ही समझना चाहिए । हम इस बात को कबूल करने के लिए तैयार भी नहीं हैं कि बर्ताव के ये तरीक़े अपेक्षाकृत ठीक नहीं हैं । जिस उद्देश से इस तरह के बर्ताव किये जाते हैं—इस तरह के दण्ड दिये जाते हैं—ज़रूर ठीक हैं । पर इस तरह की दण्ड-नीति व्यापक नहीं । सब कहीं उसका प्रयोग नहीं हो सकता । जिन लोगों के लड़के क़ाबू में नहीं रह सकते और जो ख़ुद भी अपने आपको काबू में नहीं रख सकते, अर्थात् जिनमें आत्मसंयम की कमी है, उन्हीं के लिए इस तरह के तरीके से काम लेना उचित कहा जा सकता है । जिस समाज में इसी तरह के आत्मसंयमहीन और उच्छृंखल बड़े बूढ़े आदमियों की अधिकता है उसी के लिए ऐसे तरीके उपयोगी हो सकते हैं । जैसा कि हम एक जगह पहले कह आये हैं, राजकीय तथा और ऐसी ही बातों की तरह, शिक्षा-प्रणाली भी, साधारण रीति पर, उतनी ही अच्छी होती है जितनी कि उस समय सब लोगों के स्वभाव की अवस्था के अनुसार वह अच्छी हो सकती है । अर्थात् जैसा सर्व-साधारण का स्वभाव, भला या बुरा, होता है वैसी ही शिक्षा-प्रणाली भी भली या बुरी होती है । असभ्य आदमियों के असभ्य लड़कों के बुरे चाल-चलन का प्रतिबन्ध सिर्फ़ असभ्य तरीक़ों से ही

सम्भव होता है। इससे माँ-बाप बिना कहे आपही आप इस तरीक़े से अपने बच्चों की बुरी आदतें छुड़ाते हैं। एक बात और भी है। वह यह कि बड़े होने पर इन लड़कों को असभ्य समाज मे ही रहना पड़ता है। अतएव ऐसे असभ्य समाज की स्थिति के अनुसार बर्ताव करने के लिए उनको उसी तरह की तैयारी भी करनी पड़ती है। ऐसी तैयारी के लिए धमकी, घुड़की और मार-पीट की शिक्षा के सिवा और कौन शिक्षा उत्तम हो सकती है? परन्तु शिक्षित समाज के आदमियों की स्थिति बिलकुल इसकी उलटी होती है। उन्हें भी क्रोध आता है। पर अपने क्रोध को वे शान्त और सौम्य रीति से प्रकट करते हैं। असभ्य आदमियों की तरह वे सख़्ती का बर्ताव नहीं करते। मार-पीट कर अपने लड़कों को सुमार्ग में लगाना उन्हें अच्छा नहीं लगता। उनका मृदु और दयाशील बर्ताव ही उनके सुशील और सु-स्वभाव लड़को को सुपथगामी बनाने के लिए काफ़ी होता है। तो यह सच है कि जहाँ तक माँ-बाप के मनोविकारों के प्रकट होने से सम्बन्ध है वहाँ तक हमेशा प्राकृतिक दण्ड के सिद्धान्तों ही से थोड़ा बहुत काम जरूर लिया जाता है। अर्थात् जब जब माँ-बाप अपने बच्चो पर क्रोध करते हैं तब तब प्राकृतिक परिणामों के तत्त्वानुसार ही वे उनसे बर्ताव करते हैं। मतलब यह कि गृह-शिक्षा की प्रणाली सच्ची स्वाभाविक स्थिति ही की तरफ़ झुकती जाती है।

२०—परिवर्तनशील समाज में शिक्षा-प्रणाली का समाज की स्थिति के अनुसार न होना।

परन्तु, इस विषय में दो महत्त्वपूर्ण बातों का विचार करना ज़रूरी है। पहली बात यह है कि जिस समाज की स्थिति जल्दी जल्दी बदलती जाती है, जैसी कि हमारे समाज की दशा है, उसमें पुराने सिद्धान्तों और पुरानी चालों की नये सिद्धान्तों और नई चालों से बराबर मुठभेड़ जारी रहती है। ऐसे समाज मे तत्कालीन स्थिति के अनुसार वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का न होना बहुत सम्भव है। कितने ही माँ-बाप अपने बच्चों को उन नियमों के अनुसार दण्ड देते हैं जो उस ज़माने की सामाजिक स्थिति के अनुसार उचित थे जिस ज़माने में कि वे बनाये गये थे। अतएव इस तरह के दण्ड देने से माँ-बाप को ख़ुद भी कष्ट होता है। इस दशा में उन

का दिया हुआ दण्ड स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। ऐसे दण्ड को बच्चे के अपराध का स्वाभाविक परिणाम मानना भूल है। पर कोई कोई माँ-बाप इस आशा से कि हमारे लड़के फ़ौरन ही सुधर जायँ, इसकी उलटी रीति की हद के भी पार निकल जाते हैं। दूसरी बात यह है कि माँ-बाप की प्रसन्नता या अप्रसन्नता के तजरिबे का ही नाम सर्वोत्तम शिक्षा नहीं है। किस काम से माँ-बाप प्रसन्न होते हैं और किससे अप्रसन्न, इस बात के जानने ही का नाम अच्छी शिक्षा नहीं है। परमोत्तम और योग्य शिक्षा उसे कहते हैं जो, अपनी प्रसन्नता या अप्रसन्नता प्रकट करने और लड़कों के बर्ताव के सम्बन्ध में रोक टोक करने के लिए माँ-बाप के पास न होने पर भी, अपने काम-काज के परिणामों के तजरिबे से प्राप्त होती है। सच्चे कल्याणकारी और उपयोगी परिणाम वे नहीं कहलाते जिन्हें माँ बाप, प्रकृति या परमेश्वर के मुख़्तारे-आम या एजंट बन कर पैदा करते हैं, किन्तु वे कहलाते हैं जिन्हें प्रकृति आपही आप पैदा करती है। अर्थात् जो सज़ा या जो शिक्षा माँ-बाप बच्चों को देते हैं उससे उतना फ़ायदा नहीं होता जितना कि ख़ुद प्रकृति की दी हुई सज़ा या शिक्षा से होता है। इन दोनों प्रकार के परिणामों का भेद साफ़ साफ़ ध्यान में आने के लिए हम कुछ उदाहरण देने की कोशिश करेंगे। इन उदाहरणों से यह बात समझ में आ जायगी कि प्राकृतिक और बनावटी परिणामों से हमारा क्या मतलब है। इसके सिवा इन उदाहरणों से कुछ व्यावहारिक बातों का भी ज्ञान हो जायगा।

२१—प्राकृतिक शिक्षा का एक उदाहरण।

छोटे छोटे बच्चों वाले हर कुटुम्ब में प्रति दिन कुछ ऐसे खेल कूद हुआ करते हैं जिन्हें बच्चों की माँ और नौकर-चाकर कूड़ा-करकट करना कहते हैं। बच्चा सन्दूक से अपने खिलौने निकाल कर उन्हें इधर उधर डाल देता है। अथवा सवेरे हवा खाने के लिए बाहर जा कर वहाँ से बच्चा जो फूल लाता है उन्हें मेज़ और कुरसियों पर बखेर देता है। अथवा छोटी लड़की अपनी गुड़िया के कपड़े तैयार करने में कपड़ों के टुकड़े इधर उधर फेंक कर कमरे को मैला कर देती है। इस दशा में सब तरफ़ अस्त-व्यस्त पड़ी हुई चीज़ों को इकट्ठा करने का श्रम जिस पर पड़ना चाहिए उस पर न पड़कर बहुधा और ही किसी पर पड़ता है। यदि यह अस्त-व्यस्तता बच्चों

के खेलने-कूदने के घर में होती है तो दाई या मज़दूरनी हीं को बिखरी हुई चीज़ें उठानी पड़ती हैं। वह चीज़ों को उठाती भी जाती है और बच्चों को बुरा भला कहती हुई बरबराती भी जाती है। यदि यह अस्तव्यस्तता घर के नीचे के हिस्से, अर्थात् दीवानख़ाने वग़ैरह, में होती है तो यह काम बहुत करके या तो किसी बड़े भाई या बहन के सिर पड़ता है या किसी दासी के। पर अपराधी बच्चे को बहुधा कोई सज़ा नहीं मिलती और यदि मिलती भी है तो सिर्फ़ थोड़ी सी धमकी घुड़की मिल जाती है। पर कितने हीं समझदार और बुद्धिमान् माँ-बाप, बच्चों के इस तरह के सीधे सादे अपराध को देख कर, थोड़ा बहुत उचित बर्ताव करते हैं—अर्थात् प्राकृतिक नियमों के अनुसार बच्चे को सज़ा देते हैं। वे ख़ुद बच्चों हीं से उन बिखरे हुए खिलौनों या धज्जियों को उठवाते हैं। जो बच्चा अपनी चीज़ों को इधर उधर फेंक देता है उसकी स्वाभाविक सज़ा यही है कि उसीसे वे चीज़ें इकट्ठी करवा कर फिर अपनी जगह पर रखाई जायँ। हर एक दुकानदार को अपनी दुकान में, और हर एक स्त्री को अपने घर में, प्रति दिन इस तरह का तजरिबा होता रहता है। यदि शिक्षा का मतलब, वयस्क होने पर सांसारिक काम-काज करने की तैयारी है, तो हर एक बच्चे को इस बात का तजरिबा शुरू से ही होना चाहिए। हठी स्वभाव के कारण प्राकृतिक दण्ड भोगने में यदि बच्चा आनाकानी करे (यह बात बहुत करके वहीं होती है जहाँ नैतिक शिक्षा का तरीक़ा पहलेही से ख़राब होता है) तो उसे अपने हठीले स्वभाव का प्राकृतिक परिणाम भोग करने के लिए लाचार करनाहीं सबसे अच्छी दवा है। आज्ञा-भङ्ग करने का फल भोगने पर उसकी अक़्ल ज़रूर ठिकाने आ जायगी। अपनी चीज़ों को इधर उधर फेंक कर उन्हें उठाने और यथास्थान रखने से यदि बच्चा इनकार या बेपरवाही करे, और, इस कारण उस काम के करने की तकलीफ़ किसी और को उठानी पड़े, तो आगे इस तरह की तकलीफ़ देने का उसे कभी मौक़ा ही न देना चाहिए। जब फिर बच्चा अपने खिलौने माँगे तब माँ को साफ़ कह देना चाहिए कि—"पिछली दफ़े जब तुम्हें खिलौने दिये गये तब तुमने उनको फ़र्श पर इधर उधर फेंक दिया। इससे जेन को उन्हें उठाना पड़ा। तुम्हारी तितर बितर की हुई चीज़ों को रोज़ उठाने के लिए जेन को फ़ुरसत नहीं। उसे इतनाही काम नहीं, और भी है। और ख़ुद मैं भी यह काम नहीं कर सकती। खेल

चुकने के बाद तुम खिलौनों को उठा कर रखते नहीं; इससे अब तुम्हें खिलौने दिये ही न जायँगे"। बच्चे के कृतापराध का यह स्वाभाविक परिणाम है—न कम है न जियादह। और बच्चा भी इसको ऐसा ही समझेगा। इस परिणाम का सच्चा स्वरूप ज़रूर उसकी समझ में आजायगा। यह सज़ा ऐसे वक़् पर दी जायगी जब बच्चे के दिल पर उसका बहुत ज़ियादा असर होगा। बच्चे की इच्छा खेलने की है। खेल से होनेवाले आनन्द की कल्पना उसके मन में आ रही है। ऐसे वक्त में उस आनन्द-प्राप्ति से निराश होने के कारण बच्चे को बहुत बुरा लगेगा और जिस बात से यह आनन्द-विघात हुआ वह उसे न भूलेगा। उसके दिल पर भविष्यत् में इसका असर हुए बिना न रहेगा। यदि इसी तरह दो चार दफ़े किया जायगा तो बच्चे की हठ बहुत करके ज़रूर छूट जायगी। इस तरीके से बचपन ही मे लड़के को एक और भी शिक्षा मिल जाती है। वह यह है कि संसार मे जो सुख मिलता है परिश्रम ही से मिलता है। यह शिक्षा जितना ही जल्द प्राप्त की जाय उतनाहीं अच्छा है।

२२—प्राकृतिक शिक्षा का दूसरा उदाहरण।

एक और उदाहरण लीजिए। अभी बहुत दिन नहीं हुए, हम एक छोटी सी लड़की पर इसलिए डाट डपट होते सुनते थे कि वह रोज सवेरे हवा खाने के लिए शायदही कभी वक्त पर तैयार होती। इस लड़की का नाम कान्स्टन्स था। उसके स्वभाव में व्यग्रता बहुत थी। स्वभाव की वह बहुत तेज थी। जिस समय जो काम होता था उसमें वह जी जान से मग्न हो जाती थी। इस कारण जब तक और सब लोग बाहर जाने के लिए तैयार न हो जाते थे तब तक उसे अपनी चीजो को उठा कर रखने का ख़याल ही न आता था। देख भाल करने वाली स्त्री और दूसरे बच्चों को प्रायः हमेशा उसके लिए ठहरना पडता था और उसकी माँ को भी प्रायः हमेशा उसे बुरा भला कहना पडता था। इस तरह धमकी घुड़की देकर कान्स्टन्स की आदत छुड़ाने में ज़रा भी कामयाबी नहीं हुई। पर उसकी माँ को कभी यह ख़याल नहीं हुआ कि उसे वह प्राकृतिक दण्ड भोग करने के लिए लाचार करे। यहाँ तक कि जब लोगो ने उसे इस तरह का दण्ड

देने के लिए सलाह दी तब भी उसने वैसा दण्ड देकर परीक्षा करने की कोशिश नहीं की। संसार में हर काम के लिए समय पर तैयार न रहने से कोई न कोई ऐसी हानि ज़रूर उठानी पड़ती है जो तैयार रहने से न उठानी पड़ती। उदाहरण के लिए—रेल छूट गई; लंगर उठाकर जहाज़ चल दिया; बाज़ार में सबसे अच्छी चीजें बिक गईं; या मजलिस में बैठने की अच्छी अच्छी जगहें भर गईं। ऐसी ऐसी बातें हमेशा ही हुआ करती हैं। विचार करने से हर आदमी को मालूम हो सकता है कि इन सब बातों में होने वाली निराशाही के डर से लोग देरी नहीं करते। भावी निराशाही देर करने की आदत को छुड़ाती है। इससे जो नतीजा निकलता है वह बिलकुल साफ़ है—उसका मतलब साफ़ साफ़ ध्यान मे आ जाता है। अतएव भावी निराशा का डर क्या बच्चे के भी बुरे बर्ताव की आदत को नहीं दुरुस्त कर सकता? यदि कान्स्टाइन समय पर नहीं तैयार होती तो इसका स्वाभाविक फल यही होना चाहिए कि वह घर में छोड़ दी जाय और हवा खाने के आनन्द से वञ्चित रक्खी जाय। जब दो एक दफ़े वह घर पर अकेली रह जायगी और दूसरे लड़के बाहर खेतों मे आनन्द से घूम फिर कर हवा खायँगे, और जब उसे यह मालूम होगा कि इस इतने बड़े आनन्द से वञ्चित रहने का कारण सिर्फ़ मेरी सुस्ती है, तो, बहुत सम्भव है, कि उसकी देर करने की बुरी आदत दुरुस्त हो जायगी। इस तरकीब से यदि और कुछ न होगा तो इतना तो ज़रूर होगा कि प्रति दिन की धमकी घुड़की से यह अधिक कारगर होगी और बच्चो को बे परवाह होने से बचावेगी।

२३—प्राकृतिक शिक्षा का तीसरा उदाहरण।

यदि बच्चे बहुत अधिक बेपरवाह हो जायँ और जो चीजें उन्हें दी जायँ उनको तोड़ डालें या खो दें तो इसके लिए भी वही स्वाभाविक दण्ड देना चाहिए जो उन चीज़ो के न होने से तकलीफ़ या असुविधा के रूप में होता है। जिस चीज के न होने से जो असुख, असुविधा या तकलीफ़ होती है वही, ऐसे विषयों में, स्वाभाविक दण्ड है। अतएव वही दण्ड लड़कों को देना मुनासिब है। इसी दण्ड के डर से वयस्क आदमी अपनी चीज-वस्तु होशियारी से रखते हैं। जो चीज़ टूट जाती है या खो जाती है उसके कारण

जो तकलीफ़ उठानी पड़ती है और उसकी जगह पर नई चीज़ मोल लेने मे जो ख़र्च पड़ता है उसीसे प्रौढ वय के स्त्री-पुरुषो को यह शिक्षा मिलती है कि अपनी चीज को सँभाल कर रखना चाहिए। इन्हीं बातों से उनको अपनी वस्तु अच्छी तरह रखने की आदत पड़ती है। अतएव, जहाँ तक हो सके, इन बातों के सम्बन्ध मे, बच्चो को भी ऐसीही शिक्षा देनी चाहिए। उनको भी इसी तरह का तजरिबा कराकर आगे के लिए सावधान करना चाहिए। यहाँ पर हमारा मतलब उस समय से नहीं है जिस समय बहुत छोटी उम्र मे बच्चे पदार्थों के गुण-धर्म आदि सीखने मे खिलौनों को तोड़ कर टुकडे टुकडे कर डालते हैं। उस समय तो वेपरवाही के नतीजो का ज्ञान ही नहीं होता—उस समय तो बच्चो को यह समझही नही होती कि खिलानों के तोड़ मरोड से वे कितना नुकसान कर रहे हैं। हमारा मतलब उस समय से है जब बच्चे अपना पराया समझने लगते हैं और उनको यह ज्ञान होजाता है कि अपनी चीजों को सँभाल कर रखने से क्या फ़ायदा है। कल्पना कीजिए कि कोई लडका इतना बडा है कि चाकू अच्छी तरह रखने भर को उसे काफी समझ है। यदि वह अपने चाक़ू से काम लेने मे इतनी वेपरवाही करे कि उसका फल टूट जाय, या छडी काटने के बाद किसी झाड़ी के पास वह उसे घास पर छोड़ दे और वह खो जाय, तो उसका अविवेकी बाप या विशेष लाड़-प्यार करनेवाला कोई रिश्तेदार बहुत करके उसके लिए दूसरा चाक़ू मोल ले देगा। उसके ध्यान में यह बात न आवेगी कि ऐसा करने से एक उपयोगी बात सीखने से लड़का वञ्चित रह जाता है। दूसरा चाक़ू ले देने से एक महत्त्वपूर्ण सबक़ सीखने का अवसर लड़के के हाथ से जाता रहता है। ऐसे अवसर पर बाप को चाहिए कि वह लड़के को समझा दे कि चाक़ू मोल लेने मे पैसे खर्च होते हैं। पैसा कमाने के लिए मेहनत करनी पड़ती है। जो इस तरह वेपरवाही से चाकू तोड़ डालता है या खो देता है उसके लिए मैं बार बार नये चाक़ू नहीं मोल ले सकता। अतएव जब तक मुझे इस बात का सबूत न मिलेगा कि तुम अपनी चीजों को पहले की अपेक्षा अधिक सँभाल कर रक्खोगे तब तक टूटे या खोये हुए चाक़ू के बदले मे नया चाक़ू नहीं ले दूँगा। फ़िज़ूलख़र्ची रोकने के लिए भी यही तरकीब काम देगी।

२४—कृत्रिम दण्डों की अपेक्षा स्वाभाविक दण्डों से होनेवाले लाभों की स्पष्टता।

जो उदाहरण हमने यहाँ पर दिये, बहुत सीधे सादे हैं। कोई दिन ऐसा नहीं कि इस तरह के उदाहरण न देख पड़ते हों। इनसे हमारे कहने का मतलब साफ़ तौर पर समझ में आ जायगा, और, लोगों को मालूम हो जायगा कि बनावटी और स्वाभाविक दण्डों में क्या अन्तर है। इनसे यह बात भी स्पष्ट मालूम हो जायगी कि स्वाभाविक दण्डों ही का काफ़ी असर आदमियों पर पड़ता है। यही दण्ड ऐसे हैं जिनसे बच्चों की बुरी आदतें छूट सकती हैं। जिन तत्त्वों का यहाँ पर हमने उदाहरणपूर्वक निरूपण किया उनके सूक्ष्म और ऊँचे दरजे के प्रयोगों के विषय में अब हम कुछ लिखना चाहते हैं। पर पहले हम इस बात का विचार करना चाहते हैं कि बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में बहुतेरे कुटुम्बों में जिस तत्त्व, या यों कहिए कि जिस प्रचलित रीति, से काम लिया जाता है उसकी अपेक्षा हमारे निश्चित किये गये तत्त्व के अनुसार शिक्षा देने से कितने अधिक और कितने महत्त्व के लाभ होने की सम्भावना है।

२५—प्राकृतिक रीति से दी गई शिक्षा से पहला लाभ।

हमारे सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा देने से पहला लाभ यह है कि सब बातों का कार्य्य-कारण-भाव ठीक ठीक लड़कों की समझ में आ जाता है। इस बात का दृढ़ता से बार बार और सुसङ्गत अभ्यास होते होते कार्य्य-कारण-भाव-विषयक कल्पनायें धीरे धीरे परिपूर्ण और निश्चित हो जाती हैं। सब बातों के बुरे भले परिणाम अच्छी तरह समझ में आ जाने से, संसार में प्रवेश करने पर, मनुष्य के चाल-चलन के जितना अच्छे होने की सम्भावना है उतना सिर्फ़ दूसरों के कहने पर विश्वास कर लेने से नहीं। दूसरे के दिये हुए प्रमाण के अनुसार काम करने की अपेक्षा ख़ुद अपने ही तजरिबे के अनुसार काम करने से मनुष्य के सदाचरणशील होने

की अधिक सम्भावना होती है। जिस लड़के को यह बात मालूम हो जाती है कि चीज़ो को इधर उधर फेंकने से उन्हें उठा कर यथास्थान रखना पड़ता है,—या जो ढीलेपन के कारण किसी आनन्द वर्द्धक बात से वञ्चित रहता है, या बेपरवाही के कारण जिसे किसी बहुत प्यारी वस्तु से हाथ धोना पड़ता है, उसे बहुत तीव्र दुःख ही नहीं होता, किन्तु कार्य्य-कारण-भाव भी उसकी समझ में आ जाता है। ये दोनों बातें बिलकुल वैसी ही हैं जैसी कि प्रौढ वय में होती हैं—अर्थात् जैसे प्रौढ वय में दुःख आदि होने से उनका कार्य्य-कारण-भाव समझ में आ जाता है वैसे ही बाल्यावस्था में भी आ जाता है। पर ऐसे मौक़ो पर यदि बच्चा सिर्फ़ धमका कर अथवा और कोई अस्वाभाविक दण्ड देकर छोड़ दिया जाता है तो ऐसा दण्ड प्रायः व्यर्थ जाता है। ये दण्ड ऐसे हैं कि बच्चा इनकी बहुधा बहुत ही कम परवा करता है। इससे यही हानि नहीं होती कि बच्चा स्वाभाविक परिणाम भोगने से बच जाता है; किन्तु भले बुरे कामों के स्वरूप के ज्ञान से भी, जो उसे स्वाभाविक दण्ड देने से हो जाता, वञ्चित रहता है। कृत्रिम पुरस्कार और कृत्रिम दण्ड देने का मामूली तरीका दोष-पूर्ण है। समझदार आदमी इस बात को बहुत दिन से जानते हैं। किसी दुराचरण के स्वाभाविक परिणाम भोगने के बदले कोई और काम कराना या कोई और दण्ड देना उचित नहीं। उससे बुरे नैतिक आदर्श की नीव पड़ती है। उससे बच्चों को इस बात का ज्ञान नहीं होता कि अच्छा बर्ताव किसे कहते हैं—सदाचरण क्या चीज है। इस दशा में बचपन से लेकर प्रौढ़ होने तक बच्चे हमेशा यही समझते रहते हैं कि जो काम करने के लिए वे मना किये जाते हैं वह काम करने से सबसे बड़ी बात सिर्फ़ यही होती है कि माँ-बाप या अध्यापक अप्रसन्न हो जाते हैं। इससे बच्चों के मन में यह कल्पना और हो जाती है कि इस तरह के काम और अप्रसन्नता में कार्य्य-कारण-भाव है। अतएव जब माँ-बाप और अध्यापकों का दबाव नहीं रहता और उनके अप्रसन्न होने का डर जाता रहता है तब अनुचित काम करने के विषय की प्रतिबन्धकता भी बहुत कुछ दूर हो जाती है। पर स्वाभाविक दण्डों के रूप में सच्ची प्रतिबन्धकता का भोग भोगना फिर भी बाक़ी रहता है। यह बात दुःखदायक अनुभवों के द्वारा बच्चो को पीछे सीखनी पडती है। अदूर-दर्शिता से भरी हुई इस नैतिक शिक्षा-प्रणाली का ख़ुद ज्ञान रखनेवाले एक

मनुष्य ने, इस विषय मे, अपना अनुभव बयान किया है। वह कहता है—
"जिन नवयुवकों को मदरसे से फ़ुरसत मिल जाती है—विशेष करके वे लोग जिनके माँ-बाप ने दुष्कृत्य करते देख उन पर दबाव नहीं डाला—वे हर तरह की फ़िज़ूल बातों में सिर के बल डूब जाते हैं। उन्हें विधि-निषेध का ज्ञान ही नहीं रहता। काम करने के नियमों को वे जानते ही नहीं। यह काम क्यों अच्छा है, और वह काम क्यों बुरा है, इसे वे समझते ही नहीं। किसी तत्त्व या सिद्धान्त को सामने रख कर काम करने की रीति से वे प्रायः सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। जब तक सांसारिक जजाल में फँस कर वे ख़ूब सख़्त धक्के नहीं खा लेते तब तक उनके साथ व्यवहार करना बहुत बड़े धोखे और डर का काम है। तब तक ऐसे लोगों को समाज का एक बहुत ही भयङ्कर अङ्ग समझना चाहिए"।

२६—प्राकृतिक शिक्षा से दूसरा लाभ।

इस स्वाभाविक शिक्षा-प्रणाली से एक और भी बड़ा लाभ यह है कि यह निर्म्मल न्याय-सङ्गत प्रणाली है। इस प्रणाली के अनुसार शिक्षा देना मानों निर्म्मल न्याय करना है। यह प्रणाली ऐसी है कि इसका यथार्थ स्वरूप हर एक बच्चे के ध्यान में आयें बिना नहीं रह सकता। जो मनुष्य सिर्फ़ उतना ही दुःख भोगता है जितना कि उसे अपने दुष्कर्म्मों के कारण स्वाभाविक रीति से भोगना चाहिए—अर्थात् जो सिर्फ़ अपने दुष्कर्म्मों के स्वाभाविक परिणाम को भोगता है—उसे अस्वाभाविक दण्ड भोगने की अपेक्षा इस बात का कम ख़याल होता है कि मेरे साथ अन्याय किया गया। उसके ध्यान में यह बात आ जाती है कि जो दुःख मैं उठा रहा हूँ वह मेरे ही दुष्कर्म्मों का परिणाम है; अतएव वह न्याय्य है। पर यदि उसे कोई अस्वाभाविक दण्ड दिया जाता है तो कभी उसे ऐसा ख़याल नहीं होता। यह बात जैसे प्रौढ़ आदमियों के लिए कही जा सकती है वैसे ही बच्चों के लिए भी कही जा सकती है। कल्पना कीजिए कि एक लड़का स्वभाव ही से इतना बेपरवाह है कि अपने कपड़ों को बिलकुल ही न सँभाल कर वह झाड़ियों और काँटों के बीच से निकल जाता है और कीचड़ से उन्हें बचाने की कोशिश भी नहीं करता। इस बेपरवाही के कारण यदि वह

पीटा गया, या कोठरी मे बन्द कर दिया गया, या बिना खाये ही सो जाने के लिए लाचार किया गया, तो उसे बहुत करके यह ख़याल होगा कि मुझ पर अन्याय हुआ। बहुत सम्भव है कि इस दशा में अपने कृतापराधों पर पाश्चात्ताप करने का खयाल आने की अपेक्षा अपने ऊपर किये गये अन्याय ही का ख़याल उसके मन में अधिक आवेगा। अब कल्पना कीजिए कि यदि उससे कहा जाय कि जो भूल तुमने की है उसे यथासम्भव तुम्हीं दुरुस्त करो—जो कीचड़ तुमने कपड़ों में लगाया है उसे साफ़ करो या काँटों से जो तुमने कपड़े फाड़े है उन्हें सियो—तो क्या उसे यह ख़याल न होगा कि इस तकलीफ़ का कारण मैं ही हूँ? इस दण्ड को भुगतने के समय क्या उसे इस बात का लगातार ख़याल न होता रहेगा कि दिये गये दण्ड और उसके कारण में परस्पर ख़ूब सम्बन्ध है? यद्यपि इस दण्ड से उसे क्रोध आवेगा, तथापि उसके मन में क्या यह बात थोड़ी बहुत न आवेगी कि जो दण्ड मुझे दिया गया है न्याय्य है? इस तरह के बहुत से प्रसङ्ग आने पर भी—इस तरह का दण्ड कई दफ़े पाने पर भी—यदि कपड़ों के फाड़ने या मैला करने का क्रम पूर्ववत् जारी रहें तो इस शिक्षा पद्धति का अवलम्बन करने वाले बाप को चाहिए कि उस समय तक वह नये कपड़े बनवाने में रुपया ख़र्च न करे जब तक कि मामूली तौर पर उनके बनवाने का समय न आ जाय। ऐसा करने से बच्चे को फटे पुराने और मैले कपड़े पहनने पड़ेंगे। इस बीच में यदि छुट्टियों के कारण बाहर घूमने घामने या किसी तिथि-त्यौहार के कारण अपने इष्ट मित्रों से मिलने के मौक़े आवें, और अच्छे साफ़-सुथरे कपड़े न होने से बच्चा घर के और आदमियों के साथ यदि न जाने पावे, तो इस दण्ड का उसके दिल पर बहुत बड़ा असर होगा और सब बातों का कार्य्य-कारण-भाव भी उसकी समझ में आये बिना न रहेगा। तब उसे यह भी अच्छी तरह मालूम हो जायगा कि यह सारी आपदा मेरी ही बेपरवाही का कारण है। ऐसा होने से उसे कभी यह खयाल न होगा कि मुझ पर अन्याय हुआ है। परन्तु यदि दिये गये दण्ड और उसके कारण का पारस्परिक सम्बन्ध उसके ध्यान में न आता तो वह कभी न समझता कि मुझ पर अन्याय नहीं हुआ।

२७—प्राकृतिक शिक्षा से तीसरा लाभ।

एक बात यह भी है कि मामूली तरीक़े की अपेक्षा हमारे बतलाये हुए तरीक़े से नैतिक शिक्षा देने में माँ-बाप और सन्तान, दोनों, के चित्त फट जाने का बहुत कम डर रहता है। बुरे चाल-चलन के स्वाभाविक परिणाम हमेशा दुःख-कारक होते हैं। पर उन्हें भोगने के बदले यदि माँ-बाप अपने लड़कों को दूसरे ही प्रकार के कृत्रिम दण्ड देते है तो उससे दुहरी हानि होती है। बच्चो के लिए वे एक नहीं, अनेक तरह के नियम बनाते हैं और उन नियमों का पालन कराना अपनी प्रभुता और अधिकार के लिए बहुत ज़रूरी समझते हैं। यदि बच्चे उन नियमों को भङ्ग करते हैं तो माँ-बाप समझते हैं कि हमारी मान-मर्य्यादा भङ्ग हो गई। अपने बनाये हुए नियमों का उल्लघन होना मानों ख़ुद उन्हीं के प्रतिकूल कोई अपराध करना है। इस तरह की समझ के कारण नियमोल्लंघन होने पर उन्हें क्रोध आता है। यह पहली हानि हुई। स्वाभाविक नियम यह है कि अपराधीही को हानि उठानी चाहिए। परन्तु अपराध करते हैं बच्चे और उस अपराध के कारण जो अधिक श्रम और ख़र्च पड़ता है उसे उठाते हैं माँ-बाप। यह दूसरी हानि हुई। इस तरह की शिक्षा से माँ-बाप की तरह बच्चो को भी दिक़्क़त उठानी पडती है। बुरे कामों के जो स्वाभाविक परिणाम बच्चो को भुगतने पड़ते हैं उन परिणामों का पैदा करने वाला—उन दुःखो का देने वाला—देख नहीं पड़ता। वह अदृश्य रहता है। वह यह नहीं कहने आता कि तुमने यह बुरा काम किया, इससे तुमको यह दण्ड मिला। इससे उन्हें जो कष्ट मिलता है वह थोड़ा होता है और थोड़ी ही देर तक रहता है। परन्तु जो दण्ड माँ-बाप देते हैं वह कृत्रिम होता है। और दण्ड देने के बाद माँ-बाप हमेशा बच्चों की नज़र के सामने रहते है। बच्चे प्रत्यक्ष देखते हैं कि हमारे दण्डदाता यही हैं। इन्हीं ने जान-बूझ कर हमें दण्ड दिया है। इस बात को सोच कर उन्हें अधिक दुःख होता है और अधिक समय तक रहता है। इसी से बच्चे माँ-बाप से द्वेष करने लगते हैं। अब आप ही सोचिए कि दण्ड देने का यह तरीक़ा यदि बच्चों के लिए बहुत ही छोटी उम्र से काम में लाया जाय तो उसका परिणाम कितना भयङ्कर होगा। यदि यह सम्भव होता कि अज्ञान और अनाड़ीपन के कारण बच्चों के

शारीरिक कष्ट .खुद माँ-बाप किसी तरह अपने ऊपर ले लेते और उन कष्टों को सहन करके बच्चों को कोई और दण्ड इस लिए देते जिससे उनको यह मालूम हो जाता कि हमने जो बुरा काम किया है उसी का यह परिणाम है तो इस तरीक़े की भयङ्करता .खूब अच्छी तरह समझ में आ जाती। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए कि एक लडके से यह कहा गया कि आग पर चढ़ी हुई बटलोई को मत छूना। इस बात को न मान कर बच्चे ने बटलोई छुई और खौलता हुआ पानी उसके पैर पर गिर गया। इससे उसके पैर पर आबला पड़ गया। इस आबले को माँ ने किसी तरह अपने पैर पर ले लिया और उसके बदले बच्चे के मुँह पर एक चपत जमाया। अब आपही कहिए, यदि इसी तरह हमेशा दण्ड दिया जाय, तो क्या प्रति-दिन की नई नई आपदायें आज कल की अपेक्षा और भी अधिक क्रोध और दुःख का कारण न होंगी? इस दशा में क्या माँ-बाप और बच्चे दोनों के स्वभाव और भी अधिक ख़राब न हो जायँगे और क्या उनकी यह बुरी आदत और भी अधिक दिनों तक न बनी रहेगी? यह एक काल्पनिक उदाहरण है। यदि सचमुच ही इस तरह की घटनायें होने लगें तो माँ-बाप और सन्तति में पारस्परिक द्वेष की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं। तथापि यह बात बहुधा देखी जाती है कि यदि नादानी के कारण बच्चे के शरीर में चोट लग जाती है तो पहले तड़ाके में माँ-बाप के हाथ से उलटा उसेही मार खानी पड़ती है। बचपन ही में नहीं, बड़े होने पर भी बच्चो के साथ माँ-बाप बहुधा इसी तरह का बर्त्ताव करते हैं। अपनी बहन के खिलौने को बेपरवाही से या जान-बूझ कर तोड़ने के कारण जो बाप अपने लड़के को मारता-पीटता है और मार-पीट कर .खुदही एक नया खिलौना मोल लेने में पैसा ख़र्च करता है वह बिलकुल उसी तरह का बर्त्ताव करता है जिस तरह के बर्ताव का हम ज़िक्र कर रहे हैं। खिलौना तोड़ने का अपराधी लडका है। उसको तो बाप मार-पीट के रूप में बनावटी दण्ड देता है और नया खिलौना मोल लाना जो स्वाभाविक दण्ड है उसे अपने ऊपर लेता है। इसका फल यह होता है कि अपराधी लड़का और निरपराधी बाप, दोनों, व्यर्थ तंग होते हैं—दोनों को व्यर्थ क्रोध आता है। यदि बाप सिर्फ़ लड़के से दूसरा खिलौना दिला देता तो इतनी द्वेष-बुद्धि—इतनी जी-जलन—कभी न पैदा होती। यदि बाप लड़के

से कह देता कि दूसरा खिलौना तुम्हीं को अपना पैसा ख़र्च करके लाना पड़ेगा; अतएव जो जेब-ख़र्च तुम को मिलता है उसमें से खिलौने के दाम काट लिये जायँगे, तो बाप-बेटे में परस्पर द्वेष-बुद्धि की मात्रा बहुत कम हो जाती। इस दशा में दोनों के दिल मे विशेष बल न पड़ता। इस से एक और फ़ायदा यह भी होता कि जेब-ख़र्च से खिलौने के दाम काटने के रूप मे जो दण्ड बच्चे को मिलता वह उसे विशेष खलता भी नहीं, क्योंकि उसे इस बात का जरूर ख़याल होता कि जो दण्ड मुझे मिला वह न्याय्य है। सारांश यह कि स्वाभाविक शिक्षा-पद्धति के द्वारा—स्वाभाविक रोक-टोक के द्वारा—माँ-बाप और बच्चों की आदत बिगड़ने का बहुत कम डर रहता है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि इस तरह की रोक-टोक सब प्रकार से न्याय सङ्गत समझी जाती है। दूसरा यह कि यह रोक-टोक प्रत्यक्ष माँ बाप के द्वारा न होकर अप्रत्यक्ष प्रकृति के द्वारा होती है। अर्थात् इस तरह का स्वाभाविक दण्ड बहुत करके माँ-बाप के बदले प्रकृति की मुख़तारे-आम वस्तु-स्थिति ही के द्वारा होता है।

२८—प्राकृतिक शिक्षा से चौथा लाभ।

इससे यह नतीजा निकलता है, और नतीजा भी कैसा कि साफ़ मालूम होता है, कि इस पद्धति के अनुसार व्यवहार करने से माँ-बाप और लड़कों में स्नेह-भाव की वृद्धि होती है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध मित्रो का ऐसा हो जाता है। इसीसे उसका असर भी अधिक होता है। क्रोध चाहे माँ-बाप को आवे चाहे बच्चे को, चाहे जिस कारण से पैदा हो, और चाहे जिस पर हो, हानि उससे ज़रूर होती है। परन्तु यदि माँ-बाप का क्रोध बच्चे पर या बच्चे का क्रोध माँ-बाप पर होता है तो उससे और भी अधिक हानि होती है; क्योंकि वह उस सहानुभूति को—उस हमदर्दी को—शिथिल कर देता है जो सन्तान को प्रेमपूर्वक अपने क़ाबू मे रखने के लिए बहुत ज़रूरी है। मतलब यह कि क्रोध के कारण अन्योन्य-प्रेमबन्धन शिथिल हो जाता है। जो जो चीज़ें हम संसार में देखते हैं उनसे हमारे मन पर कुछ न कुछ संस्कार जरूर होता है। आदमी चाहे बुडढा हो चाहे जवान, विचार-साहचर्य्य के सिद्धान्तों के अनुसार, उसे उन चीज़ो से ज़रूर घृणा होती है जिनको देख कर उसके दुःख, शोक आदि मनोविकार जागृत हो उठते हैं।

अर्थात् जिन चीजों के संस्कार-साहचर्य्य से दुःखदायक मनोविकारों का स्वभावही से अनुभव होने लगता है वे जरूर अप्रिय हो जाती हैं। अथवा जहाँ पहले से प्रेम था वहाँ दुःखदायक मनोविकारों की न्यूनाधिकता के अनुसार वह प्रेम कम हो जाता है या उसकी जगह पर द्वेष पैदा हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्रोध आने पर यदि माँ-बाप ने लड़कों को धमकाया घुड़काया या मारा पीटा और ऐसा ही कुछ दिन तक बराबर करते गये तो लड़कों का प्रेम माँ-बाप पर जरूर कम हो जाता है। इसी तरह लड़कों को हमेशा उदासीन और क्रुद्ध देख कर माँ-बाप का भी प्रेम उन पर कम हो जाता है, किम्बहुना कभी कभी बिलकुल ही जाता रहता है। इसी कारण से कितनेहीं कुटुम्बों में लड़के माँ-बाप से द्वेष करने लगते हैं और यदि द्वेष न भी किया तो प्रेम उनसे जरूरही नहीं करते। यह बात विशेष करके बाप और बेटों में देखी जाती है, क्योंकि दण्ड देने का काम बहुत करके बाप ही के हाथ में रहता है। अनेक कुटुम्बों में लड़के जो बहुधा दण्ड देने की चीज या साढ़साती शनैश्चर समझे जाते हैं उसका भी यही कारण है। इससे सब लोगों के ध्यान में यह बात जरूर आ जायगी कि इस तरह का वैमनस्य अच्छी नैतिक शिक्षा का विनाशक है—उसके लिए बहुत अधिक हानिकारी है। अतएव सिद्ध है कि लड़कों से प्रत्यक्ष विरोध न करने का जितनाहीं अधिक ख़याल माँ-बाप रक्खें उतना हीं अच्छा है। कुछ भी हो, उन्हें चाहिए कि लड़कों से विरोध करने का कभी प्रसङ्ग न आने दें। अतएव विरोध और वैमनस्य का प्रसङ्ग न आने देने के लिए स्वाभाविक-परिणाम-भोग-वाली शिक्षा-पद्धति से वे जितनाहीं अधिक फ़ायदा उठावें, कम है; क्योंकि इस पद्धति का अवलम्ब करने से दण्ड देने का काम प्रत्यक्ष माँ-बाप को नहीं करना पड़ता। इससे माँ-बाप और लड़कों में परस्परद्वेष-भाव और वैमनस्य भी नहीं उत्पन्न होता।

२९—पूर्वोक्त लाभ-चतुष्टय का सारांश।

यहाँ तक इस विषय में जो कुछ कहा गया उससे मालूम हुआ कि स्वाभाविक-परिणाम-भोग-विषयक शिक्षा पद्धति ईश्वर के सङ्केतानुसार जैसे शैशव और प्रौढ़ अवस्था में लाभदायक है वैसेही लड़कपन और जवानी में भी लाभदायक है। शैशव और प्रौढ़ अवस्था में तो वह आपही आप जारी

रहती है। अतएव लड़कपन और जवानी में भी उसे जारी रखने में कोई हानि नहीं। इस पद्धति को जारी रखने से चार प्रकार के लाभ हैं। यथाः—

पहला—इससे भले या बुरे कामों का यथार्थ ज्ञान उन कामों के शुभ या अशुभ परिणामों के प्रत्यक्ष अनुभव से होता है।

दूसरा—बच्चे को अपने बुरे कामों के दुःखदायक परिणामों के सिवा और कुछ भी भोग नहीं करना पड़ता। इससे अपने ऊपर किये गये दण्ड का न्यायसङ्गत होना थोड़ा बहुत जरूर उसके ध्यान में आ जाता है।

तीसरा—दण्ड का न्याय सङ्गत होना बच्चे की समझ में आ-जाने और यह मालूम हो जाने से कि यह दण्ड प्रत्यक्ष किसी आदमी ने नहीं दिया, किन्तु मेरे ही किये हुए कर्म्म का फल है, उसे बहुत कम क्रोध आता है। अतएव उसका स्वभाव भी नहीं बिगड़ता। इसी तरह अपने हाथ से बच्चे को दण्ड न देकर उसके लिए उसके कृतापराधों का परिणाम चुप-चाप भोगने की व्यवस्था कर देने से माँ-बाप के चित्त में भी क्षोभ नहीं उत्पन्न होता।

चौथा—वैमनस्य और क्रोध का कारण दूर हो जाने से माँ-बाप और सन्तान का परस्पर सम्बन्ध पहले से अधिक सुखकर और प्रभावपूर्ण हो जाता है—परस्पर विशेष प्रेमभाव और आदर-बुद्धि की वृद्धि होती है।

३०—बड़े बड़े अपराधों के विषय में कुछ प्रश्न।

कोई कोई शायद कहेंगे—"छोटे छोटे अपराधों का इलाज तो आपने बतलाया; पर लड़के यदि बड़े बड़े अपराध करें तो उसकी क्या दवा है? यदि वे कोई छोटी मोटी चीज़ चुरा लें; या झूठ बोलें; या छोटे भाई या छोटी बहन के साथ बुरी तरह पेश आवें—उनको मारें-पीटें—तो भला आपके बतलाये हुए तरीक़े से किस तरह काम चल सकता है"? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पहले इनसे सम्बन्ध रखनेवाली दो एक प्रत्यक्ष घटनाओं का, उदाहरण के तौर पर, हम विचार करना चाहते हैं।

३१—प्राकृतिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं के उदाहरण ।

हमारा एक मित्र अपने बहनोई के घर रहता था। उसकी बहन के एक लड़का था, एक लड़की। उनकी शिक्षा का भार उसने अपने ऊपर लिया था। उसने उनकी शिक्षा का क्रम हमारे बतलाये हुए तरीके के अनुसार रक्खा था। इस तरीके के अच्छे होने के विषय में उसने विशेष सोच-विचार नहीं किया था। तर्क और विचार-पूर्वक इसकी उपयुक्तता सिद्ध होने पर उसने इसे न पसन्द किया था। इसे पसन्द करने का कारण यह था कि इसके साथ उसकी स्वभाव ही से सहानुभूति थी। वह इसे स्वभाव ही से अच्छा समझता था। घर में तो वह इन दोनों बच्चों का शिक्षक बन जाता था और बाहर उनका साथी। जब तक वह घर में रहता था तब तक उनको शिक्षक की तरह पढ़ाता-लिखाता था; पर उनके साथ बाहर निकलने पर वह उनसे मित्रवत् व्यवहार करता था। बच्चे रोज उसके साथ घूमने जाया करते थे। कभी कभी वह वनस्पति-शास्त्र-सम्बन्धी बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी बाहर जाता था। तब भी वे दोनों बच्चे उसके साथ रहते थे; उसके लिए पौधे ढूँढ़ ढूँढ़ कर लाते थे, और जब वह उन पौधों को देखता-भालता या उनके जाति-वर्ग आदि की परीक्षा करता था तब वे सब बातें ध्यान से देखा करते थे। इस तरह, और और भी कई कारणों से उसके साथ रह कर वे आनन्द भी उठाते थे और शिक्षा भी प्राप्त करते थे। बात को और अधिक न बढ़ा कर हम सिर्फ़ इतना ही कहना काफी समझते हैं कि नीति की दृष्टि से वह उनके लिए बाप से भी बढ़ कर था और माँ से भी। अर्थात् जो काम माँ-बाप को करना चाहिए वह काम उनकी अपेक्षा वह अधिक योग्यता से करता था। जिस तरीक़े से वह उन दोनों बच्चों को शिक्षा देता और उनका मनोरञ्जन करता था उसका वर्णन एक बार उसने हमसे किया। उसके सारे नतीजे उसने बयान किये और कई एक दृष्टान्त भी दिये। उन दृष्टान्तों मे से एक यह था। एक दिन शाम को उसे कोई चीज दरकार हुई। वह चीज मकान के किसी दूसरे कमरे में रक्खी थी।

इससे उसने अपने भानजे से कहा कि उसे मेरे पास ले आवो। उस समय लड़का किसी खेल मे मग्न था। इस कारण अपनी आदत के ख़िलाफ़ या तो उस चीज़ को ले आने से उसने इनकार किया या जाने में अप्रसन्नता प्रकट की—ठीक ठीक याद नहीं, दो में से उसने कौन सी बात की। हमारे मित्र को बच्चों पर सख़्ती करना पसन्द न था। इससे उसने वह चीज ज़बरदस्ती लड़के से नहीं मँगवाई। वह ख़ुद उठा और जाकर उसे ले आया। लड़के के बुरे बर्ताव के कारण उसे जो तकलीफ़ पहुँची उसे प्रकट करने के लिए उसने और कोई बात न करके सिर्फ़ अपनी भौहें टेढ़ी कीं। उसने सिर्फ़ अपनी मुखचर्य्या से अपनी अप्रसन्नता लड़के पर प्रकट की। जब शाम हुई, लडका अपने मामा के पास गया और रोज की तरह खेल-कूद की बातें उसने शुरू कीं। पर मामा ने वैसी बातें करने से इनकार कर दिया। उसने बड़ी गम्भीरता से कह दिया कि हम तुम्हारे साथ बात-चीत नहीं करना चाहते। लड़के के बुरे बर्ताव के कारण उसके मन में जितनी स्वाभाविक उदासीनता उत्पन्न हुई थी उतनी ही उसने लड़के पर प्रकट की, अधिक नहीं। इस तरह उसने अपने बुरे बर्ताव का स्वाभाविक परिणाम भोगने के लिए लड़के को लाचार किया। दूसरे दिन, सुबह, जब सोकर उठने का समय हुआ तब हमारे मित्र ने कमरे के दरवाज़े पर एक नई आवाज़ सुनी। उसे मालूम हुआ कि जो नौकर रोज़ सुबह कमरे में आता था वह नहीं, कोई और ही है। इतने में उसने आँख खोली तो देखा कि मुँह धोने के लिए गरम पानी लिये हुए भानजे साहब कमरे के भीतर खड़े हैं। पानी रख कर आप कमरे मे इधर उधर देखने लगे कि और कोई चीज़ तो दरकार नहीं और झट कह उठे—"हाँ, आप अपने बूट चाहते हैं"। यह कह कर आप फ़ौरन ज़ीने के नीचे उतरे और बूट लाकर सामने रख दिये। यह, और ऐसे ही और भी, काम करके लड़के ने यह बात प्रकट की कि अपने बुरे बर्ताव का मुझे सचमुच ही पश्चात्ताप हुआ है। जो काम करने से उसने इनकार किया था उससे अधिक काम करके उसने कृतापराध के प्रायश्चित्त की दिल से कोशिश की। जिन नीच विकारों के कारण उसने मामा की आज्ञा भङ्ग की थी उन पर उसके उच्च मनोविकारों की जीत हुई। बुरे मनोविकारों का अपकर्ष और अच्छों का उत्कर्ष हुआ। इन अच्छे विकारों के उत्कर्ष के कारण उसमें मानसिक बल की वृद्धि हो गई। अतएव उसे

बहुत समाधान हुआ। मामा के अप्रसन्न होने से कितना दुःख होता है यह बात उसे अच्छी तरह मालूम हो गई। इस कारण मामा के जिस प्रेम या सत्यभाव को खोकर उसने दुबारा प्राप्त किया था उसे वह पहले से अधिक महत्त्व की चीज़ समझने लगा।

३२—बच्चों के साथ मित्रवत् व्यवहार करने से लाभ।

हमारे इस मित्र के भी अब लड़के-बाले हैं। वह अपने बच्चों को भी इसी तरीके से शिक्षा देता है। उसे यह बात तजरिबे से मालूम हो गई है कि इस तरीक़े से अच्छी तरह काम निकल सकता है। वह अपने बच्चों के साथ मित्रवत् व्यवहार करता है। उसके बच्चे सायङ्काल की रास्ता देखा करते हैं। उन्हें यही ख़याल रहता है कि कब शाम हो और कब हमारा बाप घर आवे। इतवार की तो कुछ पूछिए ही नहीं। उस दिन तो उन्हें बड़ा ही आनन्द आता है, क्योंकि इतवार को उनका बाप सारा दिन घर पर ही रहता है। मित्रवत् व्यवहार करने के कारण बच्चों का उस पर पूरा पूरा विश्वास जम गया है। वे उसे बहुत प्यार करते हैं। बच्चों को काबू में रखने के लिए उसे सिर्फ़ 'हाँ' या 'नहीं' कहने ही भर की जरूरत पड़ती है। बच्चों के किसी काम के विषय में ख़ुशी या नाख़ुशी ज़ाहिर करने ही भर से काम निकल जाता है। मित्रवत् व्यवहार करने के कारण उसमें इतनी काफ़ी शक्ति आ गई है कि जो कुछ वह कहता है उसे बच्चे चुपचाप करते हैं। शाम को घर आने पर यदि उसे मालूम होता है कि किसी लड़के ने शरारत की तो वह उसके साथ उतनी ही उदासीनता से पेश आता है जितनी कि लड़के की शरारत के कारण स्वाभाविक तौर पर उसके मन में उत्पन्न होती है। अर्थात् लड़के की शरारत सुन कर जितनी स्वाभाविक अप्रीति या विरक्ति उसके मन में उत्पन्न होती है उतनी ही वह प्रकट करता है। बस यही सज़ा लड़के के लिए काफ़ी होती है। तजरिबे से उसे यह मालूम हो गया है कि स्वाभाविक अप्रीति या उदासीनता दिखलाने ही से काम हो जाता है—उसी से लड़का शरारत छोड़ देता है। मामूली लाड़-प्यार बन्द कर देने से बच्चों को बहुत तकलीफ़ होती है। इससे उन्हें इतना रंज होता है कि मारने की अपेक्षा भी अधिक देर तक वे रोया करते

हैं। हमारे मित्र का कथन है कि इस नैतिक दण्ड का डर उसकी अनुप-स्थिति में भी बच्चो के दिल से दूर नहीं होता। बाप के घर पर मैाजूद न रहने पर भी इस दण्ड का ख़याल बच्चों को बराबर बना रहता है—यहाँ तक कि दिन में बहुधा वे अपनी माँ से पूछा करते हैं कि आज हमने कैसा बर्ताव किया और शाम को बाबा के घर आने पर हमारे बर्ताव के विषय में कैसी रिपोर्ट होगी। हमसे कोई अपराध तो नहीं हुआ? हमारे विषय में कोई बुरी बात तो बाबा से नहीं कही जायगी? हमारे इस मित्र का बड़ा लड़का पाँच वर्ष का है। वह स्वभाव ही से बहुत चपल और चचल है। वह ख़ूब नीरोग और सशक्त भी है। ऐसे लड़को में पशुवत् उद्दण्डता का व्यवहार करने की आदत होती है। इसी आदत के कारण, अभी हाल में, माँ की अनुपस्थिति में, इस लड़के ने कुछ नटखटपन किया। अर्थात् अपने बाप के सिगारदान से छुरा निकाल कर छोटे भाई के बालों की एक लट उसने काट ली और अपने आप को भी घायल कर लिया। शाम को घर आने पर बाप ने यह सब हक़ीकत सुनी। इससे न तो वह उस रात को लड़के से बोला और न दूसरे दिन सबेरे ही बोला। उसने लड़के से बिल-कुल ही बात न की। बस इतनी ही सजा उसने काफ़ी समझी। इसने तत्काल अपना काम किया। इससे लड़के को यहाँ तक दुःख पहुँचा कि कुछ दिन बाद एक रोज़ जब उसकी माँ कहीं बाहर जाने लगी तब उसने बड़ी अधीनता से न जाने के लिए उससे विनती की। जब उससे पूछा गया कि क्यों तुमने ऐसा किया तब उसने कहा कि मुझे डर लगा कि माँ की अनुपस्थिति में उस दिन की तरह कहीं फिर न मैं कोई वैसा ही काम कर बैठूँ।

३३—प्राकृतिक शिक्षा से माँ-बाप और सन्तति में सख्य-भाव की स्थापना।

"यदि लड़के बड़े बड़े अपराध करें तो क्या करना चाहिए"? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले ही हमने ये बातें, भूमिका के तौर पर, इसलिए कहीं जिसमें यह मालूम हो जाय कि माँ-बाप और संतान में परस्पर किस तरह का सम्बन्ध हो सकता है और किस तरह का होना चाहिए। इस

सम्बन्ध के होने से बड़े बड़े अपराधों की भी चिकित्सा सफलतापूर्वक हो सकती है। इसी लिए पूर्वोक्त बातें पहले ही कह देने की हमने जरूरत समझी। दूसरी प्रस्तावना के तौर पर अब हमें सिर्फ़ इतना ही कहना बाकी है कि जिस सम्बन्ध का यहाँ पर हमने जिक्र किया वह, हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति के अनुसार बर्ताव करने ही से, उत्पन्न होकर यथावत् बना रह सकता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि सिर्फ अपने दुष्कृत्यों के दुःखद परिणाम भोग करने के लिए यदि बच्चा छोड़ दिया जाय तो उससे और माँ-बाप से कभी विरोध न हो। अतएव माँ-बाप के विषय में बच्चे के मन में द्वेष-बुद्धि भी न पैदा हो। माँ-बाप को बच्चे जो शत्रु समझने लगते हैं वह बात न हो। अब सिर्फ़ यह दिखलाना बाक़ी है कि जहाँ हमारी निश्चित की हुई पद्धति के अनुसार शुरू से ही दृढ़ता के साथ वर्ताव होता है वहाँ माँ-बाप और सन्तान में विशेष रूप से सख्य उत्पन्न हुए विना नहीं रहता। ज़रूर मित्र-भाव उत्पन्न हो जाता है।

३४—माँ-बाप का बच्चों से परस्पर-विरोधी बर्ताव और उसका परिणाम।

आज कल की दशा ऐसी है कि लड़के माँ-बाप को शत्रु भी समझते हैं और मित्र भी। अर्थात् माँ-बाप के विषय में लड़के एक ही साथ शत्रु-मित्र-भाव दोनों रखते हैं। जिस तरह का वर्ताव माँ-बाप लड़कों के साथ करते हैं उसी तरह का संस्कार लडको के चित्त पर होता है। अर्थात् जैसा वर्ताव लडको के साथ किया जाता है वैसेही ख़याल भी उनके हो जाते हैं। और माँ-बाप का वर्ताव भी कैसा होता है। कभी तो बच्चों को लालच दिखाया जाता है; कभी रोक-टोक की जाती है, कभी लाड-प्यार किया जाता है कभी धमकी-घुड़की दी जाती है; कभी बहुत नरमी का वर्ताव किया जाता है, कभी मार-पीट से काम लिया जाता है। इसी तरह के परस्पर-विरोधी वर्ताव बच्चो के साथ होते हैं। इन्हीं विरोधी वर्तावों के झूले में बच्चे झूला करते है। अतएव माँ-बाप के विषय में बच्चों के ख़याल भी ज़रूर ही परस्पर-विरोधी हो जाते हैं। अर्थात् कभी वे उनको शत्रु समझते हैं और कभी मित्र। माँ बहुत करके अपने छोटे बच्चे से इतनाही कहना काफ़ी

समझती है कि मैं तेरी सब से बढ़ कर मित्र हूँ—मैं तेरा सबसे अधिक प्यार करती हूँ। वह यह समझती है कि बच्चों को मेरी बात पर विश्वास करना चाहिए। अतएव इस कल्पना से वह यह नतीजा निकालती है कि जो कुछ मैं कहती हूँ उसे बच्चा ज़रूर सच समझेगा। "यह सब तुम्हारे ही हित के लिए—तुम्हारे ही कल्याण के लिए—है"। "तुम्हारी अपेक्षा मैं इस बात को अधिक समझती हूँ कि कौन काम तुम्हारे लिए अच्छा है"। "तुम अभी बच्चे हो, इसलिए तुम इस बात को नहीं समझ सकते; पर जब तुम बड़े होगे तब जो कुछ मैं कह रही हूँ उसके लिए तुम मेरे कृतज्ञ होगे"। ये और इसी तरह की और भी कितनी ही बातें रोज़ दुहराई तिहराई जाती हैं। परन्तु इधर इस तरह की बातें होती हैं उधर बच्चे को रोज़ कोई न कोई वास्तविक दण्ड ज़रूर ही भुगतना पड़ता है। यह काम न कर, वह काम न कर, अमुक काम न कर, तमुक काम न कर—इस तरह हर घड़ी वह अपने मन के काम करने से रोका जाता है। "जो कुछ किया जा रहा है सब तुम्हारे ही हित के लिए है"—इस तरह के सिर्फ़ शब्द वह कानों से सुनता है; परन्तु ऐसे शब्दों के साथही साथ जो काम होते हैं उन से उसे थोड़ी बहुत तकलीफ़ मिले बिना बहुधा नहीं रहती। माँ कहती जाती है कि आगे तुम्हें इससे फ़ायदा होगा; इसके कारण आगे तुम्हें सुख मिलेगा। परन्तु माँ का मतलब समझने भर के लिए उस समय बच्चे मे बुद्धि नहीं होती। अतएव जो परिणाम उस समय उसे भुगतने पड़ते हैं उन्हीं के आधार पर वह उन कामों के भले या बुरे होने का अनुमान करता है। जब वह देखता है कि ये परिणाम बिलकुल ही सुखकारक नहीं—इन से सुख तो होता नहीं, उलटा दुःख ही होता है—तब "मैं तुम्हारा सब से अधिक प्यार करती हूँ"—माँ की इस बात में उसे शङ्का आने लगती है। वह समझने लगता है कि माँ का यह कहना व्यर्थ है। और क्या यह आशा रखना कि इसके सिवा बच्चा और कुछ समझेगा मूर्खता नहीं है? जो बातें बच्चा अपनी आँखों से देख रहा है उन्हीं के अनुरूप क्या वह अपने मन में विचार न करेगा? जो गवाही उसे मिल रही है—जो साक्ष्य उसकी आँखों के सामने आ रहा है—उसी के अनुसार क्या बच्चे को निर्णय न करना चाहिए? यदि बच्चे की जगह पर उसकी माँ होती, अथवा यह कहिए कि यदि माँ उसी स्थिति को पहुँच जाती जिस स्थिति में

बच्चा है, तो उसके भी खयाल ज़रूर ऐसेही हो जाते। वह भी इसी तरह की तर्कना करती और निश्चय भी ठीक इसी तरह के करती। यदि उसके परिचित आदमियों में से कोई ऐसा होता जो उसकी इच्छाओं का हमेशा विरोध करता, धमकी-घुडकी से हमेशा उसकी ख़बर लेता, और कभी कभी उसे प्रत्यक्ष दण्ड भी देता; पर साथ ही यह भी कहता जाता कि मुझे तुम्हारी भलाई का बहुत ख़याल है—मैं यह सब सिर्फ़ तुम्हारे कल्याण के लिए करता हूँ—तो वह इस तरह के कल्याण-चिन्तन की बहुत ही कम परवा करती। वह समझती कि यह सब बनावट है, और कुछ नहीं। फिर भला किस तरह वह यह आशा रख सकती है कि उसका बच्चा ऐसा ख़याल न करेगा?

३५—प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति के हानि-लाभ का प्रदर्शक एक उदाहरण।

अब इस बात पर विचार कीजिए कि यदि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति दृढ़ता के साथ जारी की जाय तो उससे कैसे कैसे निराले परिणाम दृष्टि-गोचर होंगे। यदि माँ बच्चे को खुद अपने हाथ से सज़ा न देकर उसके साथ मित्रवत् व्यवहार करे और समय समय पर उसे इस बात की सूचना देती रहे कि तुझे यह काम करना चाहिए, यह न करना चाहिए—इससे तुझे अमुक अमुक स्वाभाविक दुःख भोगने पड़ेंगे—तो इससे बच्चे का बहुत हित हो। एक उदाहरण लीजए। उदाहरण भी हम बहुत सीधा-सादा देते हे। इससे यह बात अच्छी तरह ध्यान मे आ जायगी कि बहुत छोटी उम्र से किस तरह हमारी शिक्षा-पद्धति व्यवहार में लाई जा सकती है। बच्चों को हर एक बात का ज्ञान प्राप्त करने की स्वभाव ही से इच्छा होती है। इसी आदत के कारण वे कभी इस चीज को देखते हैं, कभी उस चीज को; कभी किसी विषय में पूँछ-पाछ करते हैं, कभी किसी विषय में। संसार में जो अनेक प्रकार के पदार्थ देख पड़ते हे उनको ध्यान-पूर्वक देख कर और तत्सम्बन्धी जुदा जुदा प्रयोग करके सब बातों की परीक्षा और देख-भाल करने की प्रवृत्ति बच्चो में स्वाभाविक होती है। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वे हर विषय की पूँछ-पाँछ और देख-भाल करते हे। कल्पना

कीजिए कि इसी प्रवृत्ति से उत्साहित होकर कोई बच्चा कागज के टुकड़ों को दीवे से जला रहा है और यह देख रहा है कि वे टुकड़े किस तरह जलते हैं। ऐसे मौक़े पर उसकी माँ, जो बहुत ही साधारण समझ रखती है, इस डर से कि कहीं बच्चा अपना हाथ न जला ले या आस-पास की किसी चीज में आग न लगादे, उसे वैसा करने से तत्काल ही रोकती है; और यदि बच्चा उसका कहना नहीं मानता तो कागज को तुरन्त उस के हाथ से छीन लेती है। पर सौभाग्य से यदि बच्चे की माँ कुछ समझदार है और इस बात को जानती है कि कागज़ को जलते देख बच्चे को जो इतनी मौज मालूम होती है वह बहुत ही उपयोगी जिज्ञासा का परिणाम है; और बच्चे की जिज्ञासा में बाधा डालने से जो परिणाम होता है उसे समझने भर को भी यदि उसमें बुद्धि है, तो वह कभी वैसा व्यवहार न करेगी। अर्थात् न तो वह बच्चे को कागज़ जलाने हीं से रोकेगी और न उसे उसके हाथ से छीनही लेगी। वह अपने मन में इस तरह कहेगी—"यदि मैं बच्चे को कागज़ जलाने से रोकूँगी तो उसके जलाने से जो शिक्षा बच्चे को मिलेगी उससे वह वञ्चित रह जायगा। यह सच है कि कागज छीन लेने से बच्चा तत्काल जलने से बच जायगा। पर इससे लाभ ही क्या हो सकता है? एक न एक दिन बच्चा ज़रूर ही अपने हाथ को जला लेगा। अतएव उसके जीवन की रक्षा के लिए इस बात की बड़ी जरूरत है कि वह आग के गुण-धर्म्म का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा प्राप्त करे। कहीं कोई हानि न पहुँचे, इस डर से यदि आज मैं इसे कागज़ जलाने से मना करती हूँ तो किसी और मौके पर, जब कोई मना करने के लिए इसके पास मौजूद न होगा, यह अवश्य ही कागज़ जलायेगा और जिस हानि से मैं इसकी रक्षा करना चाहती हूँ उसे या उससे भी बड़ी हानि अवश्य ही उठावेगा। पर इस समय मैं इसके पास मौजूद हूँ। अतः इसी समय उससे कागज़ जलाने का तजरिबा कराना चाहिए। क्योंकि यदि इसके किसी अङ्ग पर आग गिर भी जायगी तो मैं इसे अधिक जल जाने से बचा लूँगी। इसके सिवा कागज जलाने से इसे आनन्द आता है—इसका मनोरञ्जन होता है—इस मनोरञ्जन से किसी और की कोई हानि नहीं। पर इससे इसे आग के गुण-धर्म्म-सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति ज़रूर है। अतएव इस मनोरञ्जन मे बाधा डालने से इसे ज़रूर बुरा लगेगा और मेरी तरफ़ से

थोड़ा बहुत द्वेष-भाव इसके मन मे जरूर पैदा हो जायगा। जिस तकलीफ से मैं इसे बचाना चाहती हूँ उसके विषय में यह कुछ नहीं जानता—उसका इसे कुछ भी ज्ञान नहीं। अतएव इसकी इच्छा का भङ्ग होने से जो तकलीफ़ इसे होगी उसका असर ज़रूर इसके दिल पर होगा और उस तकलीफ़ का एक मात्र कारण यह मुझे ही समझेगा। जिस दुःख का कुछ भी ख़याल इसे नहीं है—जिसकी अत्यल्प भी कल्पना इसके मन में नहीं है—अतएव इसके लिए जिसका अस्तित्त्व ही नहीं है उससे इसे बचाने का प्रयत्न मैं ऐसे ढँग से करने जाती हूँ जो इसे बहुत दुःखदायक होगा। इस कारण यह अपने मन में समझेगा कि मेरी दुःख देनेवाली यही है। अतएव मेरे लिए सबसे अच्छी बात यह है कि भावी दुर्घटना से मैं इसे सिर्फ़ सावधान करदूँ और बहुत अधिक तकलीफ़ से इसे बचाने के लिए तैयार रहूँ"। इस तरह अपने मन मे सोच-विचार करके वह बच्चे से कहेगी—"देखो ऐसा करोगे तो शायद तुम जल जावगे"। बच्चे बहुधा इस तरह की शिक्षा नहीं मानते। वे जो कुछ करते होते हैं उसे करही डालते हैं। कल्पना कीजिए कि इस बच्चे ने भी अपनी माँ की बात नहीं मानी। फल यह हुआ कि उसका हाथ जल गया। अब विचार कीजिए, इससे नतीजे कौन कौन निकले? पहला नतीजा यह निकला कि जो ज्ञान बच्चे को कभी न कभी होना हीं था और जिसकी प्राप्ति बच्चे की रक्षा के लिए जितना हीं शीघ्र हो जाय उतना हीं अच्छा, वह ज्ञान आजही उसे हो गया। दूसरा नतीजा, बच्चे को मालूम हो गया कि माँ जो मुझे ऐसा करने से मना करती थी वह मेरा कल्याण करने के इरादे से ही करती थी। इससे बच्चे के ध्यान में यह बात भी आगई कि माँ उसकी विशेष शुभचिन्तना करनेवाली है। उसे यह भी मालूम हो गया कि माँ की बात पर विश्वास करना चाहिए—वह बड़ी दयालु है। अतएव जिन कारणों से वह माँ का प्यार करता है उनमें, इस घटना से, एक और कारण की वृद्धि हुई। अर्थात् बच्चे के हृदय में अपनी माँ के विषय में अधिक प्रेम-बुद्धि उत्पन्न हो गई।

३६—अधिक भयङ्कर प्रसंगों को छोड़ कर औरों में बच्चों को मन माने काम करने से ज़बरदस्ती न रोकना चाहिए।

कभी कभी ऐसे भी मौक़े आते हैं जब बच्चों के हाथ-पैर टूट जाने या सख़्त चोट लगने का डर रहता है। ऐसे मौक़ों पर बच्चों का ज़रूर प्रतिबन्ध करना चाहिए—उन्हें ज़बरदस्ती रोकना चाहिए। परन्तु इस तरह के मौक़े हमेशा नहीं आया करते; कभी कभी आते हैं। रोज़ तो ऐसेही मौक़े आते हैं जिनमें बच्चों को थोड़ी बहुत चोट लग जाने या और कोई अत्यल्प हानि पहुँचने का डर रहता है। ऐसे प्रसङ्ग आने पर बच्चों का प्रतिबन्ध करना उचित नहीं। उन्हें भावी चोट या हानि से बचाने की कोई खटपट करना मुनासिब नहीं। उन्हें सिर्फ़ सावधान कर देना चाहिए। उनसे सिर्फ़ यह कह देना चाहिए कि अमुक काम करने से तुम्हें अमुक तकलीफ़ मिलेगी। बस इतनी हीं सूचना उनके लिए काफ़ी होगी। इस तरह का व्यवहार करने से, साधारण रीति पर, माँ-बाप से जितनी प्रीति बच्चे रखते हैं उससे बहुत अधिक रक्खेंगे। उनका मातृ-पितृ-प्रेम बहुत अधिक बढ़ जायगा। और और बातों की तरह इन बातों में भी यदि प्राकृतिक परिणाम रूपी दण्ड भोगने की रीति काम में लाई जाय, अर्थात् बाहर दौड़ने धूपने और घर में खेल-कूद सम्बन्धी तजरिबे करनें में यदि बच्चों का प्रतिबन्ध न किया जाय, तो बहुत लाभ हो। यहाँ पर हमारा मतलब उस दौड़-धूप और खेल-कूद से है जिस मे बच्चो के थोड़ी बहुत चोट लगने का डर रहता है। ऐसे मौक़ों पर जितनी चोट लगने या हानि होने की सम्भावना हो उसी की मात्रा के अनुसार कम या अधिक दृढ़ता से यदि उपदेश दिया जाय, अर्थात् जितनी ही अधिक तकलीफ़ पहुँचने का डर हो उतनी ही अधिक सख़्ती से हिदायत की जाय, तो माँ-बाप के विषय में बच्चो के हृदय में अधिक श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना न रहेगी। इस तरह के बर्ताव से माँ-बाप पर बच्चों का विश्वास ज़रूर बढ़ जायगा। उनकी यह भावना अधिकाधिक दृढ़ होती जायगी कि माँ-बाप की आज्ञा के अनुसार बर्ताव करने हीं में हमारा कल्याण है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इस तरह के व्यवहार से, सन्तान को प्रत्यक्ष दण्ड देने के कारण उनके मन में उत्पन्न हुई विरक्ति या अप्रीति का भाजन होने से माँ-बाप का बचाव होता है। पर जैसा यहाँ पर सिद्ध हुआ, इस तरीक़े से

सिर्फ़ इतना ही लाभ नहीं है। इससे माँ बाप उस अप्रीति के पात्र होने से भी बच जाते है जो यह काम न कर, वह काम न कर, इत्यादि कह कर बार बार बच्चों का प्रतिबन्ध करने से उनके मन मे उत्पन्न होती है। यही नहीं, किन्तु जो बातें माँ-बाप और सन्तान मे परस्पर झगड़े बखेड़े का कारण होती हैं वही उनमे प्रेम-भाव उत्पन्न करके प्रति दिन उसकी वृद्धि भी करती हैं। आज कल की नैतिक शिक्षा का तरीका यह है कि माँ-बाप मुँह से तो यह जाहिर करते हैं कि वे बच्चो का सबसे अधिक प्यार करते हैं—वे बच्चो के सबसे बढ़ कर मित्र है—पर काम उनके ऐसे होते हैं जिनसे बच्चो को इसकी उलटी प्रतीति होती है। उनके कृत्यो से बच्चों के मन में यह भावना हो जाती है कि हमारे माँ बाप हमसे मित्रवत् नहीं किन्तु शत्रुवत् व्यवहार करते हैं। परन्तु हमारी निश्चित की हुई शिक्षा-पद्धति का अनुसरण करने से बच्चों को अपने विषय मे माँ-बाप की प्रीति का प्रति दिन प्रत्यक्ष अनुभव होता जायगा। इससे बच्चो के हृदय मे माँ-बाप के विषय में जितना विश्वास और जितना प्रेम पैदा होगा उतना और किसी तरह से होना सम्भव नहीं।

३७—गुरुतर अपराधों के विषय में नैसर्गिक शिक्षा-पद्धति के प्रयोग का विचार।

इस प्रकार इस बात को सिद्ध करने के बाद कि हमारे बतलाये हुए तरीक़े को हमेशा काम मे लाने से किस तरह माँ-बाप और बच्चों में पारस्परिक प्रेम की वृद्धि होगी, अब हम पूर्वोक्त प्रश्न का विचार करते हैं कि—"यदि लड़के बड़े बड़े अपराध करें तो हमारी शिक्षा-पद्धति किस तरह काम में लाई जानी चाहिए?"

३८—प्राकृतिक शिक्षा की बदौलत बड़े बड़े अपराधों की संख्या और गुरुता का आप ही आप कम हो जाना।

पहले इस बात को याद रखना-चाहिए कि जो शिक्षा-पद्धति इस समय प्रचलित है उसकी जगह पर यदि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति प्रच-

लित की जायगी तो बच्चों के हाथ से उतने अधिक गुरुतर अपराध न होंगे जितने कि आज कल होते हैं और न उनका गुरुत्व ही उतना अधिक होगा। अर्थात् पहले तो बच्चे बड़े बड़े अपराध बहुत कम करेंगे और जो करेंगे उनका स्वरूप विशेष भयङ्कर न होगा। बहुत से बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध शुरू ही से अच्छा नहीं होता। वे बहुत बुरी तरह रक्खे जाते हैं। इससे उनका स्वभाव बिगड़ जाता है और वे तुनुक-मिजाज हो जाते हैं। बार बार मारे पीटे और धमकाये जाने से बच्चों के मन में भेद-भाव पैदा हो जाता है। माँ-बाप से वे दूर रहना चाहते हैं। इससे सहानुभूति कम हो जाती है। अतएव जिन अपराधों का प्रतिबन्ध सहानुभूति के कारण होता है उनका दरवाजा खुल जाता है। कुछ अपराध ऐसे है जो, माँ-बाप और बच्चों में परस्पर सहानुभूति अर्थात् हमदर्दी होने के कारण बच्चो के हाथ से होते ही नहीं। पर भेद-भाव के कारण जब सहानुभूति नष्ट या कम हो जाती है तब प्रतिबन्धकता न रहने से, वही अपराध बच्चे करने लगते है एक ही कुटुम्ब के लड़के बहुधा एक दूसरे से बुरा बर्ताव करते हैं। यह बुरा बर्ताव बहुत करके उस कठोर बर्ताव का परिणाम होता है जो घर के बड़े बूढ़े या माँ-बाप लड़को के साथ करते हैं। इसका कारण कुछ तो बड़े बूढ़ों का प्रत्यक्ष बर्ताव होता है, अर्थात् जैसा बर्ताव वे लोग बच्चों से करते है वैसा ही बर्ताव बच्चे भी अपने हमजोली के लड़को से करने लगते हैं, और कुछ घरवालो की धमकी, घुड़की और मार-पीट से बच्चों का स्वभाव ख़राब हो जाने के कारण उनमें जो बदला लेने की प्रति-हिंसा-बुद्धि जागृत हो उठती है, उससे वे ऐसा करते हैं। अतएव यह निर्विवाद है कि हमारी बतलाई हुई शिक्षा प्रणाली के प्रचार से यदि परस्पर अधिक प्रेम-भाव और सुख-साधन की प्रवृत्ति बच्चों के हृदय में उदित हो उठेगी तो वे एक दूसरे के प्रतिकूल बहुत कम अपराध करेंगे और यदि करेंगे भी तो अपराधों की गुरुता उतनी अधिक न होगी। चोरी करना और झूठ बोलना इत्यादि अपराध विशेष् निंद्य है। ऐसे अपराध भी कम हो जायँगे। जिन कारणों से बच्चो का स्वभाव सुधर जायगा उन्हीं कारणों से इस तरह के गुरुतर और निंद्य अपराधो की संख्या भी घट जायगी। घरेलू झगड़े बखेड़े ही ऐसे अपराधो की जड़ होते है—माँ-बाप और सन्तान के पारस्परिक भेद-भाव ही को इनका बीज समझना चाहिए। मनुष्य के स्वभाव से

सम्बन्ध रखनेवाली बातों का यह एक प्रधान नियम है कि जिन लोगो को ऊंचे दरजे का सुख नहीं मिलता वे नीचे दरजे के सुख की तरफ़ झुक पड़ते हैं। जो लोग सांसारिक बातें को ध्यान-पूर्वक देखते हैं उनकी दृष्टि में यह नियम आये बिना नहीं रहता। उनके ध्यान में यह बात जरूर आ जाती है। एक दूसरे के सुख-दुःख में शामिल होने, अर्थात् परस्पर सहानुभूति रखने, से जो आनन्द मिलता है वह ऊंचे दर्जे का आनन्द है। जिन लोगों को यह आनन्द नहीं प्राप्त होता वे विवश होकर स्वार्थ-साधन से प्राप्त होनेवाले नीचे दरजे के आनन्द की तरफ़ झुक जाते हैं। अतएव माँ-बाप और सन्तान मे यदि अन्योन्य-सुखसाधन की वांछा जागृत रहेगी तो स्वार्थ-साधन की इच्छा से उत्पन्न होनेवाले अपराधों की संख्या जरूर कम हो जायगी।

३६—बड़े बड़े अपराध होने पर भी प्राकृतिक परिणाम भोगवाली नीति के व्यवहार की ज़रूरत।

तथापि यदि ऐसे अपराध हों और शिक्षा-पद्धति चाहे जितनी अच्छी हो इस तरह के अपराध थोड़े बहुत जरूर ही होंगे, तो उनके लिए भी प्राकृतिक परिणाम भोगवाली युक्ति काम में लाना चाहिए। जिस विश्वास और प्रेम-बन्धन का वर्णन ऊपर किया गया वह यदि माँ-बाप और सन्तान में परस्पर विद्यमान है तो इस युक्ति से कामयाबी हुए बिना न रहेगी। वह ज़रूर कारगर होगी। जितने प्राकृतिक परिणाम हैं, उदाहरण के लिए चोरी के, सब दो तरह के होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष परिणाम वे कहलाते हैं जो विशुद्ध न्याय पर अवलम्बित रहते हैं, अर्थात् जिनको हम केवल न्याय के आधार पर स्थित पाते हैं। उदाहरण के लिए चोरी की चीज़ उसके मालिक को लौटा देना प्रत्यक्ष परिणाम है। क्योंकि जो चीज जिसकी है उसे उसको लौटा देना ही सच्चा न्याय है। जो राजा सच्चा न्यायी है वह बुरे काम का प्रायश्चित्त अच्छे काम के द्वारा कराता है। यदि किसी ने कोई असत् काम किया तो उससे सत् काम करा कर पूर्व पाप का क्षालन किये जाने की वह आज्ञा देता है। हर एक माँ-बाप को इसी तरह का सच्चा न्यायी बनने की कोशिश करना चाहिए और सन्तान के साथ

खरे न्याय का बर्ताव रखना चाहिए। यदि बच्चे किसी की चीज़ चुरालें तो या तो वह चीज़ उसके मालिक को वापस करवा कर या, यदि वह ख़र्च हो गई है तो, उसका बदला दिलवा कर, माँ-बाप को बच्चों से चोरी के असत्कर्म्म का प्रायश्चित्त कराना उचित है। यदि चीज़ के बदले उसकी क़ीमत देनी पड़े तो वह बच्चों के जेब-ख़र्च से दिलवाई जाय। चोरी का परोक्ष परिणाम माँ-बाप की विशेष नाराज़गी है। यह परिणाम अधिक संगीन है। जो लोग इतने सभ्य और समझदार हैं कि चोरी को पाप समझते हैं उनमें इस परिणाम का अस्तित्व ज़रूर पाया जाता है। बच्चों को चोरी करने का अपराधी पाकर वे ज़रूर नाराज़ होते हैं—ज़रूर अप्रसन्नता और असन्तोष प्रकट करते हैं। परन्तु, यहाँ पर, यह आक्षेप किया जा सकता है कि माँ-बाप अपनी अप्रसन्नता आज कल भी तो धमकी घुड़की देकर या मार-पीट करके प्रकट करते हैं। यह तो एक साधारण सी बात है। इसमें कोई नवीनता नहीं। फिर आपकी और वर्तमान पद्धति में भेद ही क्या रहा? बहुत ठीक है। हम मानते हैं कि इसमें कोई नयापन नहीं। हम पहले ही क़बूल कर चुके हैं कि किसी किसी बात में हमारी बतलाई हुई पद्धति का अनुसरण आप ही आप होजाता है। हम यह भी दिखला चुके हैं कि इस समय जितनी शिक्षा-पद्धतियाँ जारी हैं सब का स्वाभाविक झुकाव सच्ची शिक्षा-पद्धति ही की तरफ़ है। हम एक दफ़े पहले कह आये हैं, तथापि यहाँ पर हम अपने कहे को दोहराते हैं, कि यदि माँ बाप और सन्तान का बर्ताव परस्पर प्रीति-पूर्ण हो—यदि हमेशा मेहरबानी से काम लिया जाय—तो इस प्राकृतिक परिणाम की कठोरता ज़रूरत के अनुसार थोड़ी या बहुत होगी। अथवा यों कहिए कि उसकी कोमलता या कठोरता मनुष्यों के समाज-विशेष की स्थिति के अनुसार होगी। समाज की अवस्था हमेशा देश-काल के अनुसार होती है। जिस समय जिस समाज के आदमी असभ्य और अशिक्षित होते हैं उस समय उस समाज के बच्चे भी वैसे ही होते हैं। अतएव ऐसे समय के माँ-बाप की अप्रसन्नता का स्वरूप भी अधिक उद्दण्ड होगा। पर जिन समाजों की स्थिति कुछ अच्छी है—जिन्हों ने अपनी उन्नति कर ली है—अर्थात् जो औरों की अपेक्षा अधिक सभ्य और शिक्षित हैं उनकी सन्तति भी वैसी ही होगी। अतएव इस तरह के समाज में माँ-बाप की अप्रसन्नता

का स्वरूप उतना उग्र न होगा। क्योंकि स्थिति उन्नत होने के कारण बच्चों के लिए कोमलता का बर्ताव ही काफी होगा, सख़्ती करने की जरूरत ही न पड़ेगी। यहाँ पर हमें एक विशेष बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है। वह बात यह है कि माँ-बाप और सन्तान में परस्पर प्रेम की मात्रा जितनी होगी उसीके गौरव-लाघव के अनुसार बडे बड़े अपराधो के कारण पैदा हुए माँ-बाप के क्रोध की मात्रा कम या जियादा होगी और तदनुसार ही इस तरह के अपराधों को घटाने में वह प्रेम कम या जियादा उपयोगी होगा। जिस परिमाण में प्राकृतिक परिणाम-सम्बन्धिनी शिक्षा का उपयोग और और विषयों में किया जाता है उसी परिमाण मे उसका उपयोग इस विषय में भी करने से जरूर कार्य्य-सिद्धि होगी। इस बात की सचाई का तजरिबा हर आदमी कर सकता है। संसार की तरफ आँख उठा कर सिर्फ़ एक नजर देखने ही से इसका सबूत मिल जायगा।

१०—प्राकृतिक-परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति की छोटे बड़े सब अपराधों के लिए उपयोगिता।

जब कोई किसी का अपमान करता है तब अपमान करनेवाले को दुःख होता है। यह दुःख उसे उतना ही कम या जियादह होता है जितना कम या ज़ियादह प्रेम उसका उस अपमान किये गये आदमी पर होता है। यदि प्रेम कम है तो दुःख भी कम होता है और यदि प्रेम जियादह है तो दुःख भी ज़ियादह होता है। प्रेम से हमारा मतलब सहानुभूति, अर्थात् हमदर्दी, से है। दुःख-विषयक यह बात इतनी साधारण है कि इसे कैान नहीं जानता? हाँ, ऐसे विषयों मे यदि किसी तरह के सांसारिक हानि-लाभ का लगाव हो तो बात दूसरी है। इनको छोड़ कर और सब विषयों में दुःख की मात्रा हमेशा प्रेम की मात्रा के अनुसार ही हुआ करती है। कैान नहीं जानता कि अपमान किया गया आदमी यदि अपना शत्रु है तो उसके अपमान को देख कर दुःख के बदले मनही मन उलटा एक प्रकार का आनन्द होता है? किसे मालूम नहीं कि यदि कोई अपरिचित आदमी अप्रसन्न हो जाता है तो उसकी अप्रसन्नता की हम विशेष परवा नहीं करते; परन्तु यदि कोई ऐसा आदमी अप्रसन्न हो जाता है जिससे

हमारी ख़ूब जान पहचान है तो उसकी अप्रसन्नता का हमें बहुत ख़याल होता है? इसी तरह यदि हमारा कोई ऐसा मित्र हमसे नाराज़ हो जाता है जिसे हम आदर की दृष्टि से देखते हैं और जिस पर हमारा विशेष प्रेम है तो क्या हम उसकी नाराज़गी को अपना बहुत बड़ा दुर्भाग्य नहीं समझते और चिरकाल तक पश्चात्ताप करते नहीं बैठते? अतएव सन्तान पर माँ-बाप की अप्रसन्नता का उतना ही थोड़ा या बहुत असर होता है जितना कि उनमें परस्पर थोड़ा या बहुत प्रीति-पूर्ण सम्बन्ध पहले से होता है। अर्थात् जैसा सम्बन्ध होता है वैसा ही असर भी पड़ता है। जब माँ-बाप और सन्तान में परस्पर भेद-भाव या वैमनस्य होता है तब अपराधी लड़के को सिर्फ़ इतना ही डर लगता है कि अब मुझ पर मार पड़ेगी। उसे सिर्फ़ अपना ही ख़याल रहता है, और किसी का नहीं। मार खा चुकने पर यह ख़याल तो जाता रहता है, पर माँ-बाप के विषय में भिन्न-भाव और विद्वेष पैदा हो जाता है। इससे, पहले का वैमनस्य और भी बढ़ जाता है। परन्तु इसके प्रतिकूल यदि माँ-बाप अपने बच्चों के साथ स्नेह-शील मित्र की तरह बर्ताव रखते हैं तो बच्चों का प्रेम उन पर यहाँ तक दृढ़ हो जाता है कि कोई क़सूर या शरारत करके माँ-बाप को अप्रसन्न करना उन्हें बरदाश्त ही नहीं होता। अतएव फिर वैसा काम न करने के लिए वे बहुत ख़बरदारी रखते हैं। यही नहीं, किन्तु यह अप्रसन्नता इतनी हितकर है कि इस के कारण बच्चों के चित्त पर और भी अच्छे अच्छे असर पड़ते हैं। "जिसे मैं इतना प्यार करता हूँ और जो मेरे साथ इतना अच्छा बर्ताव रखता है उसी स्नेह-शील पिता की सहानुभूति से मैं इतनी देर के लिए वञ्चित हो गया"—इस तरह अपने मन में सोच कर पुत्र को जो मानसिक दुःख होता है वह उस शारीरिक दुःख की जगह पर है जो उसे बहुधा मार-पीट कर दिया जाता है। यह मानसिक दुःख यदि मार-पीट कर पहुँचाये गये दुःख से अधिक नहीं तो उसके बराबर ज़रूर ही कारगर होता है। इसके सिवा शारीरिक दण्ड देने से बच्चों में प्रति-हिंसा और भयवर्द्धक बुद्धि विकसित हो उठती है। उनके जी मे डर समा जाता है और बदला लेने की भी प्रवृत्ति उनमे जागृत हो जाती है। परन्तु दूसरी रीति, अर्थात् मानसिक दण्ड से, माँ-बाप को दुखी देख बच्चे भी दुखी होते हैं, उन्हें दुःख पहुँचाने के कारण वे सच्चे दिल से अफ़सोस करते है और यह अभिलाषा

रखते है कि किसी न किसी तरह हममें फिर पूर्ववत् प्रेम पैदा हो जाय। दुनिया में जितने अपराध—जितने जुर्म—होते है सबका आदि कारण स्वार्थपरता की प्रबलता है। जब मनुष्य की यह वासना बहुत प्रबल हो उठती है कि सबसे अधिक सुख हमी को मिले तभी मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित काम करता है। परन्तु हमारी शिक्षा-पद्धति के अवलम्बन से बच्चों के दिल में इस तरह की वासना—इस तरह की स्वार्थबुद्धि—नहीं पैदा होती। उसकी प्रेरणा से बच्चों मे परोपकार और परहिताचरण की वासना प्रबल हो उठती है; अतएव उससे दूसरों को क्लेश पहुँचानेवाले अपराधों की रुकावट हो जाती है। सारांश यह कि प्राकृतिक-परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति छोटे बड़े सब तरह के अपराधों के विषय में काम दे सकती है। उसका व्यवहार करने से अपराधो की सिर्फ संख्या ही नहीं कम हो जाती, किन्तु धीरे धीरे उनका सर्वतोभाव से नाश हो जाता है—उनका समूल निर्मूलन हो जाता है।

४१—शिक्षा में कठोर दण्ड देने से लाभ के बदले हानि।

बहुत विस्तार कौन करे, सच तो यह है कि सख़्ती से सख़्ती और नरमी से नरमी पैदा होती है। द्वेष से द्वेष उत्पन्न होता है और प्रीति से प्रीति। जिन बच्चो के साथ निष्ठुरता का बर्ताव किया जाता है वे निष्ठुर हो जाते हैं। पर जिनसे यथेष्ट सहानुभूति रक्खी जाती है उनमें सहानुभूति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। प्रेमपूर्ण बर्ताव करने से बच्चों में भी प्रेम का जरूर उदय होता है। राजकीय व्यवस्था की तरह कुटुम्ब-व्यवस्था में भी अत्यन्त कठोर नियम यद्यपि अपराधो को बन्द करनेही के लिए बनाये जाते हैं, तथापि बहुत से अपराध उन्हीं के कारण होते हैं। परन्तु, प्रतिकूल इसके, सौम्य और उदार नियम लड़ाई झगड़े की बहुत सी बातों को पैदा ही नहीं होने देते। वे मनुष्य के मनोविकारों को इतना शान्त और सौम्य कर देते हैं कि औरो का अपराध करके उन्हें दुःख पहुँचाने की मनुष्यो की प्रवृत्ति बहुत कम हो जाती है। सर जॉन लॉक नामक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता को यह कहे बहुत दिन हुए कि—"बच्चों को पढ़ाने लिखाने में बहुत कठोर दण्ड देने

से तादृश लाभ नहीं; हाँ उलटी हानि जरूर है । मुझे विश्वास है कि जिन लड़कों ने बचपन में अधिक मार खाई है वे, बडे होने पर, बिना किसी विशेष कारण के, बहुत करके सर्वोत्तम नहीं निकले" । इस बात की पुष्टि में हम, यहाँ पर प्यंटनविली जेल के सरकारी पादरी राजर्स साहब की, अभी हाल में दी हुई, सम्मति प्रकट करना जरूरी समझते हैं । उन्होंने अपना निज का तजरिबा सर्वसाधारण में इस तरह बयान किया है कि जिन अपराधियों ने लड़कपन में बेत खाये हैं वही बहुत करके बार बार जेल की हवा खाने आया करते हैं । विपरीत इसके प्रेमपूर्ण व्यवहार करने से बच्चो पर बहुत ही अच्छा असर पड़ता है । अभी थोड़े ही दिन हुए, पेरिस में हम एक फ़रासीसी मेम के मकान पर ठहरे थे । उस मेम ने इस विषय का एक उत्तम उदाहरण हमें सुनाया । उसके एक छोटा लड़का था । वह बहुतही शरीर और नटखट था । वह रोज ऊधम मचाया करता था । न वह घर ही में सीधी तरह रहता था और न स्कूलही में । लोग उससे आजिज़ आ गये थे । पर उसे सुधारने की किसी में शक्ति न थी । वह घर में हमेशा गडबड़ मचाये रहता था । इस कारण उस मेम ने हमसे क्षमा माँगी । उसने कहा, इस लडके के सीधा करने का कोई इलाज नहीं । मुझे डर है कि इसके बड़े भाई की तरह इसे भी इँगलैंड के किसी स्कूल में भेजना पड़ेगा । इसी तरकीब से इसका बड़ा भाई सुधरा था । अतः यही एक इलाज अब इसका करना बाक़ी है । शायद इससे कामयाबी हो । उसने कहा कि इस लड़के का बडा भाई पेरिस के कितनेहीं स्कूलों में भरती किया गया; पर कोई लाभ न हुआ । वह जैसा का तैसा बना रहा । तब लोगों ने उसे इँगलैंड भेजने की राय दी । इससे निराश होकर उसे इँगलैंड भेजना पड़ा । इँगलैंड से जब वह घर लौटा तब उसके सारे दुर्गुण जाते रहे थे । पहले वह जितना बुरा था उतनाहीं अब भला हो गया था । उस मेम ने इस विलक्षण सुधार का एक मात्र कारण फ़्रांस की अपेक्षा इँगलैंड की शिक्षा-पद्धति की कोमलता बतलाया ।

४२—प्राकृतिक शिक्षा-प्रणाली के विषय में उपदेशपूर्ण नियम देने का निश्चय।

प्राकृतिक शिक्षा-प्रणाली के मूल सिद्धान्तों का विवेचन ऊपर हो चुका। सबसे अच्छी बात अब यह होगी कि इस प्रकरण के अवशिष्ट अंश में हम थोड़े से ऐसे मुख्य मुख्य विधि-वाक्य और नियम लिखदें जो इन सिद्धान्तों से निकलते हैं। हम इस विषय को बहुत बढ़ाना नहीं चाहते। अतएव इन विधि-वाक्यों और नियमों को हम, उपदेश के ढंग पर, थोडेही मे देते हैं।

४३—बच्चे से बहुत अधिक नैतिक भलाई की आशा न रखना।

बच्चे से बहुत अधिक नैतिक भलाई की आशा मत रखिए। हम लोगों के पहले पूर्वज असभ्य और जंगली थे। अतएव प्रत्येक शिक्षित आदमी का स्वभाव बचपन मे उन्हीं असभ्य और जगली आदमियों के स्वभाव से मिलता जुलता है। जिस तरह बहुत छोटी उम्र में लड़कों की चिपटी नाक आगे को ज़ियादह खुले हुए नथने, मोटे मोटे होठ, फैली हुई आँखें, अप्रशस्त मुँह इत्यादि अवयव असभ्य आदमियों के अवयवों के सदृश होते हैं उसी तरह उनका स्वभाव भी, कुछ समय तक, असभ्यो के स्वभाव के सदृश होता है। इसीसे बचपन में चोरी करने, निर्दयता के काम करने और झूठ बोलने आदि की तरफ़ लड़कों की प्रवृत्ति अधिक रहती है। यह प्रवृत्ति साधारण तौर पर प्रायः सभी लड़कों में पाई जाती है। परन्तु जिस तरह बच्चों के अवयव धीरे धीरे आपही आप सुधर जाते हैं उसी तरह उनकी यह प्रवृत्ति भी विना शिक्षा ही के थोड़ी बहुत ज़रूर सुधर जाती है। सब लोग समझते हैं कि बच्चो का चित्त विशुद्ध होता है—वे सर्वथा निरपराध और निष्पाप होते हैं। जहाँ तक बुरी बातों से सम्बन्ध है तहाँ तक यह समझ बिलकुल सही है। बुरी बातो का ज्ञान बच्चों को ज़रूर नहीं होता। परन्तु बुरी प्रवृत्तियों के विषय में इस तरह की समझ रखना बिलकुल ग़लत है। घर में जिस समय लड़के खेल-कूद रहे हो उस समय सिर्फ़ आध घटे उनको

ध्यान से देखने से हमारे कहने की सत्यता मालूम हो जायगी। इसकी परीक्षा चाहे जो कर देखे। जब बच्चे अपनेही भरोसे पर छोड़ दिये जाते हैं, जैसा कि स्कूलों में, तब वे एक दूसरे के साथ बड़े आदमियों की अपेक्षा अधिक पशुवत् बर्ताव करते हैं। अर्थात् कोई रोक टोक करने वाला पास न रहने से वे परस्पर बड़ी ही निर्दयता से पेश आते हैं। यदि वे बहुतही छोटी उम्र में बिना प्रतिबन्ध के छोड़ दिये जाते तो उनका पशुवत् बर्ताव और भी अधिक स्पष्टतापूर्वक देखने को मिलता।

४४—नीति-विषयक असामयिक परिपक्वता से हानि।

बच्चों को ऊँचे दरजे की सदाचरण-शिक्षा देना बुद्धिमानी का काम नहीं। यही नहीं, किन्तु उत्तमाचरण रखने के लिए उन्हें बहुत अधिक लालच देना या प्रेरणा करना भी उचित नहीं। असमय में ही बुद्धि की परिपक्वता होने से बुरे परिणाम होते हैं। इस बात को तो बहुत लोग अच्छी तरह जान गये हैं; पर उन्हें अभी इस बात का जानना बाक़ी है कि असमय में नीति-विषयक परिपक्वता प्राप्त होने से भी परिणाम अच्छे नहीं होते। दोनों प्रकार की ऐसी परिपक्वतायें हानिकारक हैं। ऊँचे दरजे की हमारी मानसिक शक्तियों की तरह, ऊँचे दरजे के हमारे नैतिक मनोभाव भी बहुत कुछ पेचीदा होते हैं—बहुत कुछ परस्पर मिले हुए होते हैं। अतएव इन दोनों प्रकार की शक्तियों का विकास होने में और शक्तियों की अपेक्षा अधिक देर लगती है। यदि इनमें उत्तजना के बल से समय के पहले ही तेज़ी पैदा करदी जायगी तो भावी सदाचरणशीलता को हानि पहुँचे बिना न रहेगी। इसीसे नियम के प्रतिकूल यह बात अकसर देखी जाती है कि जो लोग बचपन में नई उत्पन्न हुई सदाचरण-शीलता के नमूने थे वे पीछे से धीरे धीरे बिगड़ गये हैं। यहाँ तक कि अन्त मे उनका आचरण साधारण आदमियों के आचरण से भी बुरा हो गया है। विपरीत इसके, बड़े होने पर, किसी किसी आदमी का आचरण यहाँ तक उत्तम हो गया है कि उसके लड़कपन के आचरण से यह ज़रा भी न मालूम होता था कि वह इतना सदाचरण-शील होगा। ऐसे विपरीत उदाहरणों का कारण लोगो को मालूम नहीं रहता। इसीसे बिना अच्छी तरह विचार किये वह उनकी समझ में नहीं आता।

४५—औसत दरजे के उपायों और परिणामों से सन्तोष।

इसीसे औसत दरजे के उपायों और औसत ही दरजे के परिणामों से सन्तोष करना चाहिए। उपाय मध्यम होने से फल भी मध्यम ही होगा। पर उसीसे कृतार्थता माननी चाहिए। याद रखिए, ऊँचे दरजे की बुद्धि की तरह ऊँचे दरजे की सारासार विचार-शक्ति भी धीरे ही धीरे प्राप्त होती है। इससे अपने लड़के में तुम्हें जो हर घड़ी नये नये दोष देख पड़ते हैं उन्हें देख कर क्रोध न आवेगा। तुम यह समझ कर चुप रहोगे कि आगे ये दोष धीरे धीरे दूर हो जायँगे। बहुत लोग अपने बच्चो की दुःशीलता से तग आकर उन्हें हमेशा धमकाते, घुड़कते और डाटते डपटते रहते हैं। "यह काम न करो; वह काम न करो"—कह कर हमेशा उन्हें मना किया करते हैं। वे समझते हैं कि ऐसा करने से उनके लड़के ख़ूब सदाचरण-शील हो जायँगे। पर ऐसी आशा रखना व्यर्थ है। इस तरह की झाड़ फटकार से बच्चे सुधरते तो नहीं, घर में चिरकाल-स्थायी कलह जरूर पैदा हो जाता है। पर हमारे कहे हुए तरीक़े से चलने और हमारी बतलाई हुई बातें याद रखने से डाट डपट करने की आदत ज़रूर कम हो जाती है। अतएव कलह भी कम हो जाता है।

४६—प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति से स्वाधीनचेता और सीधे सादे, दोनों तरह के, बच्चों को लाभ।

जिस प्रकार की कुटुम्ब-व्यवस्था का ज़िक्र हमने किया वह उदार भावों से पूर्ण है। उसे जारी करने से लोगो को अपने लड़कों की आचरण सम्बन्धी ज़रा ज़रा सी बातों पर हर घड़ी टीका-टिप्पणी करने की ज़रूरत न रहेगी। हमारी शिक्षा-पद्धति ही ऐसी है कि उससे कुटुम्ब-व्यवस्था में सौम्यभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। बच्चे को अपने किये हुए का स्वाभाविक फल हमेशा भोगने दो। बस तुम इतनाही देखो और इसी पर सन्तोष करो। इससे बच्चों को बहुत अधिक अपने काबू में रखने की जो कितनेहीं माँ-बाप भूल करते है वह तुम से न होगी। ऐसी भूल से तुम ज़रूर बचोगे। यदि तुम बच्चे को उसके निज के तजरिबे से प्राप्त होनेवाली शिक्षा या सज़ा

के भरोसे छोड़ दोगे तो कलहाग्नि से सन्तप्त घर की उस सद्गुणशीलता के हानिकारक परिणाम से वह बच जायगा जो विशेष कठोर तरीक़े से दी हुई शिक्षा के कारण सीधे स्वभाव के बच्चों के हृदय पर होता है। यदि तुम ऐसा करोगे तो बच्चा उस दुर्नीति-जनक द्वेष-भाव से भी बच जायगा जो उद्धत और स्वाधीन-प्रकृति के बच्चों के मन में पैदा होजाता है। अर्थात् यदि बच्चे का स्वभाव सीधा है तो भी उसे फ़ायदा होगा और यदि स्वाधीन है तो भी होगा।

४७—क्रोध आने पर कुछ देर ठहर जाने से अनुचित बातों का सहसा न होना।

बच्चे से उसके किये हुए कामों के स्वाभाविक-परिणाम भोग कराने की हमेशा इच्छा रखने से तुम्हें भी फ़ायदा होगा। तुम्हारे मनोविकारों की बाढ़ रुक जायगी। तुम मनोनिग्रह करना सीख जावगे। बहुत से माँ-बाप, अथवा यों कहिए प्रायः सभी, बुरी तरह से नैतिक शिक्षा देते हैं। उनकी नैतिक शिक्षा का तरीक़ा इसके सिवा और कुछ नहीं कि, क्रोध आनेपर, जो कुछ उन्हें सूझा कर उठाया। बच्चे छोटे छोटे बहुत से अपराध किया करते हैं। इनमें से कितनेहीं अपराध ऐसे होते हैं कि यदि ध्यान से देखा जाय तो उनकी गिनती अपराधों मे हो ही न सके। परन्तु ऐसे ही अपराधों के लिए माँ अकसर बच्चे को गालियाँ देती है, झिझकोरती है और चपत तक लगाती है। इस तरह के शारीरिक दण्ड को हम दण्ड नहीं समझते। माँ के मनोविकारों के ये रूपान्तर हैं। उन्हें वह क़ाबू में नहीं रख सकती। इससे वे दण्ड के रूप में प्रकट होते हैं। मनोविकार अनिवार्य्य हो उठने से, उनकी प्रेरणा के वशीभूत होकर, माँ इस तरह के दण्ड अधिक देती है; लड़के को फ़ायदा पहुँचाने की इच्छा से उतना नहीं। परन्तु लड़के के अपराध करने पर हर बार इस बात के सोचने के लिए ठहरने से कि इसका स्वाभाविक परिणाम क्या होना चाहिए, और अपराधी पर उसका असर डालने के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा कौनसा है, तुम्हें अपने मनोविकारों को क़ाबू मे रखने के लिए थोड़ा सा समय मिल जायगा—विचार और आत्मनिग्रह करने का मौक़ा मिल जायगा। लड़के के अपराध को देखने के साथ ही उसी

क्षण एकदम भड़क उठा क्रोध आदमी को अन्धा बना देता है। पर थोड़ी देर ठहरने से वह कुछ शान्त हो जाता है, उसका वेग घट जाता है। अतएव कोई अनुचित काम सहसा आदमी के हाथ से नहीं होता।

४८—न्याय्य होने से प्रसन्नता और क्रोध प्रकट करना अनुचित नहीं।

परन्तु कुछ न कुछ क्रोध आनाहीं चाहिए। चेतना-हीन निश्चेष्ट हथियारो की तरह का वर्ताव अच्छा नहीं। संसार की वस्तु-स्थिति के अनुसार बच्चे को अपने किये का फल भोगनाहीं चाहिए। उसके अनुचित कामों की यही सज़ा है। परन्तु यह भी याद रखिए कि इस प्रकार के स्वाभाविक परिणाम के सिवा तुम्हारी प्रसन्नता या अप्रसन्नता भी एक प्रकार का स्वाभाविक परिणाम है। बच्चे को सुमार्ग मे लाने के लिए जहाँ और स्वाभाविक साधन हैं वहाँ तुम्हारी ख़ुशी या नाराज़गी भी एक साधन है। ईश्वर ने जो स्वाभाविक दण्ड निश्चित किये हैं उनकी जगह माता पिता के क्रोध और उससे उत्पन्न हुए कृत्रिम दण्डों का उपयोग करना बड़ी भारी भूल है। इसी भूल का हम प्रतिवाद करते चले आरहे हैं। स्वाभाविक दण्डों के बदले कृत्रिम दण्डों से काम न लेना चाहिए। इस बात को हम दृढ़ता से कहते हैं। पर इससे हमारा यह हरगिज मतलब नहीं कि कृत्रिम दण्डों का बिलकुलही उपयोग न किया जाय। नहीं, स्वाभाविक दण्डों की जगह कृत्रिम दण्ड न दिये जायँ, पर उनके साथ दिये जायँ। अर्थात् दोनों साथ साथ रहें। स्वाभाविक दण्ड मुख्य हैं, कृत्रिम दण्ड गौण। अतएव गौण दण्डो के द्वारा मुख्य दण्डों का अधिकार छीना जाना मुनासिब नहीं। पर गौण दण्डों की योजना से मुख्य दण्डों को, एक उचित हद तक, सहायता पहुँचाना बुरा नहीं। वह सर्वथा उचित है। यदि तुम्हें क्रोध आ जाय या दुःख हो, और उसका प्रकट करना तुम्हें न्याय्य मालूम हो, तो शब्दों या वर्ताव के द्वारा तुम्हें उसे प्रकट करना ही चाहिए। तुम्हारी चित्त-वृत्ति पर किस तरह का और कितना असर पड़ेगा, यह तुम्हारे स्वभाव पर अवलम्बित रहेगा। जिस तरह का तुम्हारा स्वभाव होगा उसी तरह का असर भी तुम पर पड़ेगा। अर्थात् तुम्हारी मनो-वृत्ति को जो क्षोभ

होगा वह तुम्हारे स्वभाव के अनुसार होगा। अतएव यह बतलाते बैठना व्यर्थ है कि वह क्षोभ किस प्रकार का होगा और कितना होगा। तथापि जिस प्रकार की मनोवृत्ति धारण करना तुमको मुनासिब मालूम हो उस प्रकार की मनो-वृत्ति धारण करने का तुम यत्न कर सकते हो। परन्तु अप्रसन्नता प्रकट करने में तुम्हें दो बातों की चरम सीमा तक चले जाने से बचना चाहिए। उन दो बातों में एक तो यह है कि क्रोध आने पर उसे कितना होना चाहिए और दूसरी यह कि उसे कितनी देर तक रहना चाहिए। अर्थात् क्रोध की अवधि और उसकी इयत्ता को, पराकाष्ठा को न पहुँचा देना चाहिए। एक तो तुम्हें उस मानसिक अधीरता से बचना चाहिए जो माँ में अकसर देखी जाती है और जिसकी प्रेरणा से वह एक हाथ से बच्चे की ताड़ना करती है और दूसरे से उसका प्यार करती जाती है। एक ही दम में धमकी देना और पुचकारना अच्छा नहीं। दूसरे, तुम्हें अपनी अप्रसन्नता या अप्रीति बहुत समय तक न बनी रखना चाहिए। क्योंकि उससे बच्चे को यह ख़याल हो जायगा कि तुम्हारी प्रीति के बिना भी उसका काम चल सकता है। अतएव उस पर से तुम्हारा दबाव जाता रहेगा। तुम्हे यह सोचना चाहिए कि बच्चो के बुरे व्यवहारों को देख कर सर्वोत्तम स्वभाव के माँ-बाप की चित्त-वृत्ति किस प्रकार की होगी। फिर, बच्चे के व्यवहार के कारण क्षुब्ध हुए अपने चित्त की वृत्ति को, जहाँ तक हो सके, तुम्हें ऐसे माँ-बापो की चित्त-वृत्ति के बराबर रखना चाहिए। अर्थात् उत्तम स्वभाव के आदमियों की जैसी चित्र-वृत्ति हो सकती हो उसी का अनुकरण तुम्हें करना चाहिए।

४६—बच्चों को अपना प्रभुत्व दिखा कर आज्ञा-पालन कराना अच्छा नहीं।

जहाँ तक हो सके बच्चे को बहुत कम हुक्म दो। जब और सब साधन व्यर्थ हो जायँ या बच्चे की समझ के बाहर हों तभी हुक्म दो। रिचर साहब का कथन है कि बहुत से हुक्मों में बच्चे के फ़ायदे की अपेक्षा माँ-बाप के फ़ायदे का अधिक ख़याल रहता है। अर्थात् माँ-बाप बच्चो से आज्ञा-पालन कराने का अधिक ख़याल रखते हैं, उनके फ़ायदे-नुक़सान का

कम। बहुत पुराने ज़माने के समाज में कानून के खिलाफ काम करने से फ़ौरन ही दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड इस ख़याल से कम दिया जाता था कि कानून की आज्ञा न मानना अन्याय करना है। पर इस ख़याल से अधिक कि कानून के न मानना मानों राजा का अपमान करना है—उसके प्रतिकूल विद्रोह करना है। यही हाल कितने ही कुटुम्बो का है। उनमें बच्चों के कृतापराधो के लिए जो दण्ड दिये जाते हैं वे अधिकतर आज्ञा-भङ्ग करने के कारण दिये जाते हैं। अपराधों का प्रायश्चित्त कराने के कारण नहीं। इस विषय में लोग घर में किस तरह की बातें करते है, सो सुनिए—"तुम्हें मेरी आज्ञा न मानने का क्या अधिकार"? 'मैं तुमसे यह काम कराके छोड़ूँगा"। "मैं जल्द तुम्हें सिखला दूँगा कि मालिक कौन है"। इस तरह के वाक्यो के शब्दो का स्वर का और कहने के तरीके का तो ज़रा विचार कीजिए। उनसे यह साफ़ साबित है कि बच्चे के कल्याण की अपेक्षा उससे अपनी आज्ञा-पालन कराने ही की तरफ़ माँ-बाप का झुकाव अधिक है। आज्ञा-भङ्ग करने के कारण अपनी प्रजा में से किसी को दण्ड देने का निश्चय करने वाले किसी अन्यायी राजा के चित्त की जो दशा होती है उस में और इस तरह के माँ-बापो के चित्त की स्थिति में, उतनी देर के लिए, बहुत कम अन्तर होता है। परन्तु जिस माँ-बाप के न्यायान्याय का ख़याल है—भले बुरे का ज्ञान है—उसे, सर्व-जन-प्रिय और उदार क़ानून बनानेवाले की तरह, सख़्ती और अन्याय मे नहीं, किन्तु उन्हें बन्द करने में आनन्द होता है। बच्चों का चाल-चलन ठीक रखने के लिए यदि और साधनों से अभीष्ट सिद्ध हो सकता है तो वह कभी क़ानून से काम न लेगा; और यदि वैसा करने की ज़रूरत ही आ पड़ेगी तो उसे खेद हुए बिना न रहेगा। रिचर साहब कहते हैं—"सर्वोत्तम राजनीति वह है जिस में विशेष प्रभुता दिखाने या कठोरता से शासन करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। यही लक्षण सर्वोत्तम शिक्षा का भी है"। अपनी प्रभुता दिखलाने की जिन माँ बापों की अभिलाषा का उनके सच्चे कर्त्तव्य-ज्ञान से प्रति-बन्ध हो जाता है, अर्थात् जो अपनी प्रभुता की अपेक्षा अपने कर्तव्य को अधिक समझते हैं, वे आपही आप इस नियम के अनुसार काम करेंगे। जहाँ तक सम्भव होगा वे अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देंगे जिसमें वे ख़ुद ही अपने को अपने क़ाबू में रख सकें। क़ानून का ऐसा सख़्त बर्ताव वे तभी उनके साथ

करेंगे जब और कोई इलाज कारगर न होगा। जब और सब उपाय करके वे थक जायँगे तभी वे अपनी प्रभुता दिखावेंगे और कहेंगे कि हमारी अमुक आज्ञा का अमुक तरह से पालन करना ही होगा।

५०—ज़रूरत पड़ने पर आदेश दो, पर सङ्कोच छोड़ कर उनका पालन कराओ।

परन्तु यदि आज्ञा देने की ज़रूरत ही आ पड़े तो निश्चय के साथ आज्ञा दो और दृढ़ता से उसका पालन कराओ। आज्ञा और बर्ताव में परस्पर विरोध होना अच्छा नहीं। यदि कोई ऐसा प्रसङ्ग आजाय कि बिना आज्ञा दिये—बिना हुकूमत या शासन किये—काम ही न चले तो ज़रूर वैसा करो; परन्तु आदेश देकर—हुक्म सुना कर—फिर ज़रा भी उससे विचलित न हो। जो कुछ तुम करने जाते हो उस पर .खूब विचार कर लो; उसके सब परिणामों को अच्छी तरह तोल लो; इस बात को अच्छी तरह समझ लो कि जो काम तुम करना चाहते हो उसे पूरा करने के लिए तुममें क़ाफी दृढ़ निश्चय है या नहीं। और, यदि, अन्त में, निश्चय-पूर्वक तुम्हें किसी विषय में कोई आदेश देना ही पड़े—कोई नियम करना ही पड़े—तो, फिर, चाहे कुछ ही क्यों न हो, उसका पालन कराकर छोड़ो। तुम्हारे नियमो के परिणाम, निर्जीव सांसारिक पदार्थों की तरह, अटल और अचल होने चाहिएँ। तुम्हारी हुकूमत, तुम्हारा शासन, तुम्हारा आधि-पत्य अनिवार्य होना चाहिए। उसमें बिन्दु-विसर्ग का भी अन्तर न पड़ना चाहिए। जब बच्चा पहले पहल चिनगारियों पर हाथ रख देता है तब ज़रूर उसका हाथ जल जाता है; दूसरी दफ़े हाथ रखने से दूसरी दफ़े भी जल जाता है; तीसरी दफ़े रखने से तीसरी दफ़े भी जल जाता है। हर दफ़े यही दशा होती है। इससे बच्चा बहुत जल्द सीख जाता है कि चिनगारियों को न छूना चाहिए। तुम्हारे शासन में भी यदि इसी तरह का मेल रहे और तुम्हारे कहने के अनुसार, कि अमुक अमुक काम करने से अमुक अमुक परिणाम निश्चित रूप से वैसेही भोग करने पड़ेंगे, तो तुम्हारे निर्दिष्ट नियमों का, सृष्टि के नियमों ही की तरह, बच्चा आदर करने लगेगा। इस तरह तुम्हारा मान—तुम्हारा प्रभुत्व—एक दफ़े स्थापित हो

जाने से गृह-सम्बन्धी अनेक अनिष्ट दूर हो जायँगे। शिक्षा-सम्बन्धी भूलों में से एक बहुत बड़ी भूल यह है कि किसी बात में मेलही नहीं है। अर्थात् कहा कुछ जाता है, होता कुछ है। जिस तरह समाज में न्याय-विषयक कोई निश्चित प्रबन्ध न होने से अपराधों की संख्या बढ़ती है, उसी तरह कुटुम्ब में यथानियम दण्ड न देने या दण्ड देने में सङ्कोच करने से भी अपराधों की वृद्धि होती है। दिल की कच्ची माँ बच्चे को दण्ड देने की हमेशा धमकी दिया करती है, पर उस धमकी को शायद ही कभी पूरा करती है। वह जल्दी में झटपट नियम बना डालती है और पीछे से पछताती बैठती है। एक ही अपराध के लिए कभी वह सख़्ती करती है और कभी, मन में मौज आ गई तो, योंहीं एक आध बात कह कर टाल जाती है। इस तरह की माँ अपने और अपने बच्चे, दोनों के लिए, आपदायें इकट्ठी करती है—भावी दुःखों का बीज बोती है। वह बच्चों की दृष्टि में अपने को तुच्छ बनाती है। मनोविकारो को अपने क़ाबू मे न रखने का वह ख़ुद ही उनके लिए उदाहरण बनती है। वह उनको इस आशा पर अपराध करने के लिए उत्साहित करती है कि शायद वे दण्ड से बच जायँ—शायद किसी तरह दण्ड टल जाय। पर घर में अनन्त झगड़े बखेड़े पैदा करती है, जिससे उसका और उसके छोटे छोटे बच्चों का स्वभाव बिगड़ जाता है। वह बच्चों के मनमें नैतिक तत्त्वो को बेतरह गड़बड़ करके उन्हें बहुत ही बुरी दशा को पहुँचा देती है। इसका फल यह होता है कि, बाद में, बहुत तकलीफ़ उठाने पर भी, उनके नैतिक विचारों का सुधरना कठिन हो जाता है। इन सारी आपदाओ का एक मात्र कारण माँ को समझना चाहिए। कुटुम्ब-शासन की व्यवस्था में यदि सब बातो में मेल है तो, उसके असभ्यता-पूर्ण होने पर भी, हम उसे उस सभ्यता-पूर्ण व्यवस्था से अच्छी समझते हैं जिसकी बातों में परस्पर मेल नहीं है। अर्थात् असभ्य-समाज की व्यवस्था में मेल होने से वह सभ्य-समाज की बेमेल व्यवस्था से अच्छी है। यहाँ पर हम फिर कहते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो बच्चों के साथ सख़्ती का व्यवहार मत करो। जहाँ तक हो सके ऐसे मौक़ों को टालो। परन्तु यदि कठोर शासन की सचमुच ही ज़रूरत देख पड़े तो वैसा बर्ताव करने में ज़रा भी सङ्कोच न करो। ऐसे मौक़ो पर सचमुच ही सख़्ती से काम लो।

५१—अपना शासन आप करने के लिए बचपन ही से भले बुरे परिणामों के तजरिबे की ज़रूरत।

तुम्हारी शिक्षा का उद्देश यह होना चाहिए कि उसकी बदौलत बच्चे अपने मनोविकारो का आपही शासन कर सकें, यह नहीं कि दूसरे उनका शासन करें। यह बात तुम्हें ख़ूब ध्यान में रखनी चाहिए। यदि तुम्हारे बच्चों के भाग्य में उम्र भर ग़ुलामी करना ही लिखा होता तो बचपन मे तुम उन्हें ग़ुलामी की जितनी आदत डालते सब कम थी। पर बात ऐसी नहीं है। उन्हें धीरे धीरे स्वाधीन-प्रकृति के आदमी बनना है और उनके चाल-चलन की देख भाल रखने के लिए हर घड़ी किसी को उनके पास नहीं रहना है। अतएव जब तक वे तुम्हारी आँख के सामने हैं तब तक तुम उनको अपनी व्यवस्था आपही करने की—अपने मनोविकारों को अपने ही क़ाबू में रखने की—जितनी ही अधिक आदत डालो उतना ही अच्छा है। हम लोग, इस समय, इँगलैंड में, जिस सामाजिक स्थिति को पहुँच गये हैं उसके लिए प्राकृतिक परिणामों के द्वारा शिक्षा देने की यह रीति विशेष उपयोगी है। पुराने ज़माने में जब देश की दशा और तरह की थी और जब प्रत्येक नागरिक को अपने वरिष्ठ प्रभु के क्रुद्ध हो जाने का डर लगा रहता था तब लड़को के साथ बचपन में सख़्ती का बर्ताव ही शासन करने का प्रधान उपाय था। पर अब वह बात नहीं है। अब नागरिक लोगों को औरो से कुछ भी डर नहीं। सरकार को छोड़ कर और आदमियों से डरने का अब कोई विशेष कारण नहीं रह गया। अब तो वह समय लगा है कि जो भला या बुरा परिणाम आदमी को भोग करना पड़ता है वह वस्तु-स्थिति के अनुसार उसी के किये हुए कृत्यों का फल होता है। अतएव अब हर आदमी को चाहिए कि बचपन ही से तजरिबे के द्वारा वह वे भले या बुरे परिणाम सीखना शुरू कर दे जो भिन्न भिन्न प्रकार के कामों से स्वाभाविक तौर पर पैदा होते हैं। किस काम का क्या नतीजा होगा, इस बात को पहले ही से जान कर अपने आप को क़ाबू मे रखने की शक्ति जैसे जैसे बच्चे मे आती जाय वैसे ही वैसे माँ-बाप के शासन की मात्रा कम होती जानी चाहिए। भावी परिणामों का ख़याल रख कर बच्चे को उनके अनुसार

वर्ताव करने का ज्ञान होते ही माँ-बाप को चाहिए कि उस पर हुकूमत करना बन्द कर दें। हाँ, बहुत ही थोड़ी उम्र के दुधपिये बच्चों पर अधिक शासन करने की जरूरत रहती है। बुरे परिणामों से बचाने के लिए उनकी देख भाल अधिक करनी पड़ती है। खुले हुए उस्तुरे से खेलनेवाले तीन वर्ष के बच्चे को यह अनुमति नहीं दी जा सकती कि ऐसे खेल के परिणाम से वह शिक्षा ग्रहण करे; क्योंकि उसका परिणाम बहुत ही भयङ्कर हो सकता है। परन्तु बच्चों की बुद्धि जैसे जैसे अधिक होती जाय वैसे वैसे उन के बीच में पड़ कर उनके काम में दख़ल देना कम किया जा सकता है; और, कम किया जाना ही चाहिए। इस तरह कम करते करते जब बच्चे वयस्क हो जायँ तब उनके काम में दख़ल देना और उन पर शासन करना बिलकुल ही बन्द कर देना चाहिए। इस उद्देश को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाना बहुत भयङ्कर है; और कुटुम्बी जनों के प्रतिबन्ध की स्थिति से प्रतिबन्धहीन संसार में प्रवेश करना तो अत्यन्त ही भयङ्कर है। इसी से जिस शिक्षा-पद्धति की हम सिफारिश करते हैं उसके अनुसार काम करने की बड़ी जरूरत है। लड़के को बचपन ही से धीरे धीरे आत्मसंयम करने—अपने आपको क़ाबू में रखने—की आदत डालने से उसकी आत्मसंयमशक्ति क्रम क्रम से बढ़ती जाती है। इस आदत को बढ़ाते जाने से एक दिन ऐसा आता है कि बिना किसी दूसरे की मदद के बच्चा अपना मनोनिग्रह आपही आप स्वतन्त्रता-पूर्वक करने के योग्य हो जाता है। उसकी मनोनिग्रह-शक्ति इस तरह क्रम क्रम से इस स्थिति को पहुँच जाने से, अकस्मात् होनेवाले उस भयङ्कर स्थिति-परिवर्तन के पेंच से वह बच जाता है, जिसमें लड़कपन के बाहरी शासन का उल्लंघन करके वयस्क होने पर अपनो शासन आपही करने की स्थिति में प्रवेश करते समय फँसना पड़ता है। कुटुम्बीय शासन-प्रणाली का इतिहास राजनैतिक शासन-प्रणाली का एक छोटा सा नमूना होना चाहिए। अर्थात् राज्य-व्यवस्था में जैसे फेरफार होते हैं वैसे ही घर की शिक्षण-व्यवस्था में भी होने चाहिए। शुरू शुरू में, जहाँ दूसरों के पूरे पूरे शासन की जरूरत हो वहाँ, वैसाही शासन किया जाय। धीरे धीरे राज्य-नियमानुसारी शासन जारी किया जाय जिसमें प्रजा की स्वतंत्रता थोड़ी बहुत स्वीकार की जाती है। फिर प्रजा की स्वतन्त्रता क्रम क्रम से बढ़ाई जाय। अन्त में प्रजा पूरे तौर पर स्वतन्त्र कर दी जाय। इसी राज-नीति को नमूना मान कर

माँ-बाप को चाहिए कि पहले वे अपनी सन्तति पर पूरा पूरा शासन करें। फिर सन्तति को थोड़ी सी स्वतन्त्रता देकर उसकी मात्रा को बढ़ावें और अन्त में उसका शासन करने से बिलकुल ही हाथ खींच लें।

५२—लड़कों में हठ और स्वेच्छाचार स्वाधीनता के अङ्कुर हैं।

यदि बच्चे बहुत अधिक हठ या स्वेच्छाचार करें तो तुम्हें रंज न करना चाहिए। आज कल की शिक्षा-प्रणाली में कठोर बर्ताव का कम उपयोग किया जाता है। यह हठ और स्वेच्छाचार उसी कोमल शिक्षा-प्रणाली का फल है, क्योंकि इसके कारण बच्चों में स्वतन्त्रता का अङ्कुर उग आता है। एक तरफ़ कठोर शासन करने की प्रकृति कम होने से दूसरी तरफ़ स्वतन्त्रता-पूर्वक काम करने की प्रवृत्ति बढ़नीही चाहिए। माँ-बाप जब बच्चों पर कम सख़्ती करेंगे तब बच्चे ज़रूर ही अधिक स्वाधीनचेता हो जायँगे। ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ इस बात का सबूत हैं कि जिस शिक्षा-पद्धति का हम पक्ष कर रहे हैं उसी की तरफ़ लोग धीरे धीरे जा रहे हैं—उसीके अनुसार शिक्षा देना आरम्भ कर रहे हैं। इस पद्धति का प्रचार होने से बच्चों को स्वाभाविक परिणाम भोग करने पड़ेंगे। इससे उन्हें तजरिबा होता जायगा और अपने आपको प्रति दिन अधिकाधिक क़ाबू में रखने की योग्यता प्राप्त होती जायगी। ये दोनों प्रवृत्तियाँ हम लोगों की उन्नत सामाजिक स्थिति के साथ साथ रहती है। अतएव शिक्षा-पद्धति में इनका स्थान पाना सर्वथा स्वाभाविक है। स्वतन्त्र स्वभाव का अँगरेज लड़का स्वतन्त्र-स्वभाव के अँगरेज आदमी का बाप है। अर्थात् लड़के स्वतन्त्रता से प्रेम रखते हैं; इसी से वयस्क आदमियों में भी स्वतन्त्रता पाई जाती है। यदि लड़के स्वधीनचेता न होते तो आदमी कभी स्वधीनचेता न हो सकते। जर्मनी के अध्यापक कहते हैं कि हम एक दरजन जर्मन लड़कों को क़ाबू में रख सकते हैं; पर एक अँगरेज़ लड़के को क़ाबू में नहीं रख सकते। अतएव क्या हम लोगों की यह इच्छा होनी चाहिए कि हमारे लडके जर्मन लड़को की तरह भोले भाले, और वयस्क जर्मन लोगों की तरह दीन और राजनीति के दास हो

जायँ ? या जिन गुणों से आदमी में स्वाधीनवृत्ति जागृत होती है उनके अङ्कुर को अपने लड़कों में बना रहने दें और तदनुकूल अपने वर्ताव और चाल चलन में फेरफार करें ?

५३—उत्तम शिक्षा-पद्धति के लिए अध्ययन, कल्पना-चातुर्य्य, शान्ति और आत्म-निग्रह की ज़रूरत ।

अन्त में, यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि ठीक ठीक शिक्षा देना सीधा और सरल काम नहीं; किन्तु बहुत ही टेढ़ा और कठिन है। हम तो यह समझते हैं कि प्रौढ़ वय में आदमी को जो काम करने पड़ते हैं उनमें यह सबसे अधिक कठिन है । विषम और अपरिणामदर्शी गृह-शिक्षण या कुटुम्ब-शासन का भार अत्यन्त निकृष्ट और अत्यन्त शिक्षित बुद्धि के आदमी भी अच्छी तरह अपने ऊपर ले सकते हैं । लड़कों को बुरा काम करते देख चपत लगा कर या गालियाँ देकर उनकी ख़बर लेना ऐसा दण्ड है जो जंगली से भी जंगली असभ्यों और मूर्ख से भी मूर्ख अहीर, गड़रिये आदि किसानों को भी, बिना किसी के बताये, सूझ जाता है । किम्बहुना, पशु तक इस तरह का दण्ड एक दूसरे को देते हैं । तुमने देखा होगा कि जब कोई पिल्ला अपनी माँ को बहुत तग करता है तब कुतिया ग़ुर्रा कर धीरे से उसे काटती है । अर्थात् नीच से भी नीच पशु इस तरह की असभ्य शासन-पद्धति काम में लाते हैं । परन्तु यदि तुम्हारी इच्छा उचित और सभ्यसम्मत पद्धति के द्वारा सफलता प्राप्त करने की हो तो तुम्हें तदनुकूल बहुत कुछ मानसिक परिश्रम करने के लिए तैयार रहना चाहिए । अर्थात् तुम्हे चाहिए कि तुम विशेष बुद्धिमानी से काम लो । अध्ययन, कल्पनाचातुर्य्य, शान्ति और आत्म-निग्रह का थोड़ा थोड़ा अंश तो जरूरही तुम में होना चाहिए । बिना इसके हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति व्यवहार में नहीं लाई जा सकती । बड़ी उम्र में किस काम का क्या परिणाम होता है, इस बात पर तुम्हें हमेशा ध्यान देना होगा । फिर तुम्हें ऐसी युक्ति से काम लेना होगा जिसमें वही काम यदि तुम्हारे लड़के करें तो उन के परिणाम भी वैसेही हों । इस बात की छान बीन की प्रतिदिन ज़रूरत होगी कि बच्चे ने जो अमुक काम किया उसमें उसका उद्देश क्या था । उसके

हर काम का उद्देश जानकर यह देखना होगा कि यथार्थ में अच्छे काम कौन से हैं, और निकृष्ट मनोविकारों की प्रेरणा से उत्पन्न हुए परन्तु ऊपर से देखने में अच्छे कौन से हैं। एक बहुत बड़ी भूल अकसर लोगो से हो जाया करती है। उससे बचने का तुम्हें हमेशा यत्न करना होगा। अर्थात् कुछ काम ऐसे हैं जो न अच्छे ही हैं न बुरे। पर लोग उन्हें बुरे समझ कर उनकी गिनती अपराधों में कर लेते हैं। इसी तरह बच्चों के किसी किसी काम में उनका जितना उद्देश रहता है बहुधा लोग उससे अधिक उद्देश मान लेते हैं। इस तरह की भूलें बड़ी भयङ्कर हैं। अतएव तुम्हें उनसे बहुत साव-धान रहना चाहिए। जिस तरीक़े से तुम बर्ताव करना चाहते हो उसमें तुम्हें हर एक बच्चे के स्वभाव के अनुसार थोड़ा बहुत फेरफार ज़रूर करना चाहिए। यही नहीं, किन्तु जैसे जैसे हर एक बच्चे का स्वभाव नये नये ढग का होता जाय तैसे तैसे अपने बर्ताव के तरीक़े में तुम्हें और भी अधिक फेर-फार करने के लिए भी ज़रूर तैयार रहना चाहिए। कभी कभी ऐसा होगा कि जिस तरीक़े से तुम बर्ताव करोगे उससे बच्चे पर बहुत कम असर होगा या बिलकुल ही न होगा। पर इससे घबरा कर तुम्हें उस तरीक़े को छोड़ न देना चाहिए। उसे वैसेही कुछ दिन तक जारी रखना चाहिए। जिन लड़कों की शिक्षा शुरू से ही बुरी तरह से हुई है उनसे यदि साबिक़ा पड़ेगा तो बहुत दिन तक धीरज के साथ तुम्हें अपने तरीक़े के अनुसार बर्ताव जारी रखना होगा। अतएव इसके लिए तुम्हें पहलेही से ख़ूब तैयार रहना चाहिए और यदि एक विशेष समय तक ठहरने पर भी कामयाबी के कोई चिह्न न देख पड़ें तो उससे अच्छे तरीक़े को ढूँढ़ना चाहिए। उसके पहले नहीं। जिन लड़कों के मन की स्थिति शुरू से ही अच्छी हो गई है उन्हें भी इस तरीक़े से शिक्षा देने में कठिनता का सामना करना पड़ता है। तब जिनके मन की स्थिति पहले ही से ख़राब हो रही है उन्हें इस तरीक़े से शिक्षा देने में जरूरही दूनी कठिनता से काम पड़ेगा। तुम्हें हमेशा सिर्फ़ अपने लड़कों ही के उद्देशो की छान बीन न करनी पड़ेगी, किन्तु ख़ुद अपने भी उद्देशो की छान बीन करनी पड़ेगी। तुम्हें इस बात का अच्छी तरह निर्णय करना होगा कि तुम्हारे अन्तःकरण की मनोवृत्तियों में से कौन सी वृत्तियाँ सच्चे पितृवात्सल्य से पैदा हुई हैं और कौनसी ख़ुद तुम्हारी ही स्वार्थपरता, तुम्हारी ही सुखैषणा और तुम्हारी ही अधिकार-

तृष्णा से पैदा हुई हैं। फिर इससे भी अधिक कठिन और सहनशीलता का काम तुम्हें यह करना पड़ेगा कि अपनी नीच मनोवृत्तियों का सिर्फ़ पताही न लगाना पड़ेगा, किन्तु, उनका निग्रह भी करना पड़ेगा—उन्हें वहीं काट देना पड़ेगा। सारांश यह कि तुम अपने बच्चो को भी शिक्षा देते जाव और उसके साथ ख़ुद अपनी भी ऊंचे दरजे की शिक्षा जारी रक्खो। संसार में, तुम्हारे बच्चो में और ख़ुद तुममें जिस मनुष्य-स्वभाव और जिस मनुष्य-धर्म्म के नियमों के अनुसार सब बातें होती है वह बहुतही कठिन समस्या है। तुम्हें चाहिए कि बुद्धि की सहायता से उसका ज्ञान प्राप्त करके तुम उसकी ऐसी उन्नति करो जिसमे उसका फल कल्याणकारक हो। सारासार-विचार-शक्ति की सहायता से तुम्हें अपने उच्च मनोविकारो से हमेशा काम लेते रहना और नीच मनो-विकारो को दबाये रखना चाहिए। सन्तति के साथ माँ-बाप का जो सम्बन्ध है उसके अनुसार जब तक माँ-बाप अपने कर्तव्य को पूरे तौर पर न करेंगे तब तक प्रत्येक स्त्री और प्रत्येक पुरुष की मानसिक उन्नति कभी सबसे ऊँचे दरजे तक न पहुंचेगी। और किसी तरह उसकी सर्वोच्च उन्नति होने ही की नहीं। यह बात बिलकुल सच है। पर इसकी तरफ़ लोगो का ध्यान अभी तक नहीं गया। जब उनका ध्यान इस तरफ़ जायगा और वे इस बात की सचाई को स्वीकार कर लेंगे तब उन्हें मालूम हो जायगा कि सृष्टि की व्यवस्था कैसी अद्भुत है। इसी प्राकृतिक व्यवस्था की बदौलत मनुष्यो के मनोविकार अत्यन्त प्रबल होकर इस बात की प्रेरणा करते है कि जो परमावश्यक शिक्षा उन्हें और किसी तरह नहीं मिल सकती उसे इन विकारों के वशीभूत होकर वे प्राप्त करें। अर्थात् प्राकृतिक संकेतों के अनुसार माता-पिता के मन मे सन्तान सम्बन्धी प्रेम इतना उत्कट हो उठता है कि केवल उसी की उत्तेजना से मनुष्यो को परमावश्यक शिक्षा मिलती है। यदि माँ-बाप के मन में प्रबल-प्रेमरूपी मनोविकार न जागृत हो तो ऐसी शिक्षा और किसी तरह कभी मनुष्य को न मिल सके।

५४—यह शिक्षा-पद्धति माँ-बाप और सन्तान दोनों के लिए मङ्गलजनक है।

इस विषय में कि शिक्षा कैसी होनी चाहिए, जो कुछ हमने यहाँ पर

कहा उसमें किसी किसी को सन्देह होगा। कोई कोई उसकी सत्यता में शङ्का करेंगे। अतएव उसके अनुसार बर्ताव करने के लिए उन्हें उत्साह भी न होगा। परन्तु जिस शिक्षा-प्रणाली का हमने वर्णन किया वह सबसे ऊँचे दरजे की है—वह शिक्षा का सर्वोच्च नमूना है। इससे, हम समझते हैं, कि कुछ आदमियों को जरूर इसकी सत्यता के विषय में सन्देह न होगा। अतएव वे इसको स्वीकार करने में भी आगा पीछा न करेंगे। जो लोग चञ्चल-वृत्ति, निर्दय और अदूरदर्शी हैं उनकी समझ में हमारी शिक्षा-प्रणाली की यथार्थता नहीं आ सकती। उसे समझने के लिए मनुष्य-स्वभाव-सम्बन्धी उच्च कोटि के गुणों की ज़रूरत है। अर्थात् जिनकी बुद्धि और सारासार-विचार-शक्ति ख़ूब विकसित है वही इस बात को समझ सकेंगे। अतएव समझदार आदमियों को हमारी शिक्षा-पद्धति में इस बात का सबूत मिलेगा कि जो जन-समाज विशेष उन्नत और विशेष शिक्षित अवस्था को पहुँच गया है सिर्फ़ उसी के लिए यह पद्धति उपयोगी है। इसके अनुसार शिक्षा देने में यद्यपि बहुत श्रम पड़ता है और स्वार्थ-त्याग भी करना पड़ता है; तथापि उसके बदले, जल्द या देरी से, कभी न कभी, विशेष सुख-प्राप्ति होती है। अर्थात् इस शिक्षा का परिणाम अवश्य सुखकर होता है। समझदार आदमियों के ध्यान में यह बात भी आजायगी कि बुरी शिक्षा-पद्धति से माता-पिता और सन्तान दोनों को हानि पहुँचती है। अतएव उससे दुहरा अनिष्ट होता है। परन्तु अच्छी शिक्षा-पद्धति से दुहरा इष्ट-साधन होता है। क्योंकि उसकी कृपा से शिक्षा पानेवाले और शिक्षा देनेवाले दोनो का कल्याण होता है।

चौथा प्रकरण ।

—•••—

शारीरिक शिक्षा ।

जानवरों को पालने, उन्हें सधाने, और उनकी वंश-वृद्धि करने का अधिकांश आदमियों को शौक़ होता है ।

अमीर आदमियों के यहाँ खाना खा चुकने के बाद, स्त्रियों के भीतर चले जाने पर, या खेत-खलिहान और हाट-बाज़ार का काम हो चुकने के बाद किसान आदमियों के इकट्ठे होने पर, या नशे-पानी के बाद गाँव में किसी ख़ास जगह बैठक होने पर, वर्तमान राजकीय विषयों से सम्बन्ध रखने वाली बातें ख़तम होते ही गाय, बैल, भैंस इत्यादि जानवरों की बातें करने में लोगों का बहुत दिल लगता है। उस समय सब लोग यही बातें करते हैं और बड़े चाव से करते हैं। शिकार खेल चुकने पर, घर लौटते समय, शिकारी लोग घोड़ों की वंश-वृद्धि और उनके गुण-दोषों की ज़रूर आलोचना करते हैं और कभी उनके किसी गुण की प्रशंसा करते हैं कभी किसी की। यदि शिकारी लोग एक विशेष प्रकार की ज़मीन में शिकार खेलने गये तो बहुत करके कुत्तों के विषय में बात-चीत हुए बिना नहीं रहती। पास पड़ोस के खेतों में खेती करनेवाले लोग जब गिरजाघर से लौटते समय खेतों से होकर सब एक साथ निकलते हैं तब पादरी साहब की उपदेशपूर्ण वक्तृता की आलोचना करते करते मौसिम, फसल, हवा-पानी और धान्यसञ्चय इत्यादि की ज़रूर आलोचना करते हैं। इसके बाद चारा-पानी की बात छिड़ जाती है और इसका विचार होने लगता है कि कौन चारा पशुओं के लिए कितना अच्छा होता है। मुतुआँ और घुनुआँ अहीर

अपने अपने मालिक की गाय, भैंस इत्यादि के विषय में बात-चीत करके यह ज़ाहिर करते हैं कि वे उन्हें किस तरह रखते हैं और उनके रखने के तरीक़े से क्या हानि अथवा क्या लाभ है। यही नहीं कि सिर्फ़ देहाती ही श्वानशाला, गोशाला, अस्तबल, और गाय, बैल, भेड़, बकरी इत्यादि के बाड़े के विषय की बात-चीत को पसन्द करते हैं; किन्तु शहरों में अनेक प्रकार के व्यवसाय करनेवाले कारीगर जो कुत्ते पालते हैं, अमीर आदमियों के नवयुवक लड़के, जिन्हें कभी कभी शिकार खेलने का शौक़ होता है, अधिक उम्रवाले उनके बड़े बूढ़े जो कृषि की उन्नति के विषय में बात-चीत करते हैं, या जो म्यकी साहब की वार्षिक रिपोर्टें और टाइम्स नाम के समाचारपत्र में छपी हुई केर्ड साहब की चिट्ठियाँ पढ़ते हैं उनकी भी आदत इस तरह की बातें करने की होती है। इन सब नगर-निवासियों को मिला लेने से इस तरह के आदमियों की संख्या और भी बढ़ जाती है। यदि देश के सभी बालिग़ आदमी हिसाब में लिये जायँ तो मालूम होगा कि उनमें अधिकांश आदमी जानवरों की वंश-वृद्धि करने, या उन्हें पालने, या उन्हें सधाने और सिखलाने में से किसी न किसी बात का शौक़ ज़रूर रखते हैं।

२—अपने बच्चों के खाने पीने आदि की देख-भाल करना प्रायः लोग पुरुषत्व में बट्टा लगाना समझते हैं।

जानवरों के पालने पोसने इत्यादि के विषय में तो इतनी बात-चीत और इतनी आलोचना होती है; परन्तु भोजन हो चुकने अथवा और ऐसेही मौक़ों पर, गपशप करते समय, क्या कभी किसी ने आदमी के बच्चों के पालने पोसने के विषय में भी वार्तालाप होते सुना है? देहाती सज्जन प्रति दिन सवेरे ख़ुदही अपने अस्तबल की तरफ़ जाते हैं और ख़ुदही इस बात को देखते हैं कि घोड़ों के खिलाने पिलाने और उनके औषध-पानी का ठीक ठीक प्रबन्ध है या नहीं। इसके बाद अपनी गाय, भैंस और बकरी आदि की देख-भाल करके उनको अच्छी तरह रखने के विषय में भी वे ख़ुदही नौकर-चाकरों से ताकीद करते हैं; पर उनसे कोई पूछे कि क्यों साहब! यह सब तो-

आप करते हैं, परन्तु जहाँ आपके लड़के रहते हैं वहाँ जाकर भी क्या कभी आप इस बात की देख-भाल करते है कि कब और किस तरह का खाना उन्हें मिलता है, उनके रहने का कमरा कैसा है और उसमें साफ़ हवा आने का भी मार्ग है या नहीं? कभी नहीं। ऐसे लोगों के पुस्तकालय की आलमारियों मे ह्वाइट, स्टिफेन्स और निमरोद की बनाई हुई अश्वचिकित्सा, खेती और शिकार-विषयक दो एक पुस्तकें शायद जरूर मिलेंगी और बहुत सम्भव है कि उनमें लिखी हुई बातों से इन लोगों का थोड़ा बहुत परिचय भी हो। परन्तु शैशव और कौमार अवस्था के लड़कों के पालन-पोषण और रक्षण आदि के विषय की कितनी पुस्तकों से इन लोगों का परिचय रहता है? एक से भी नहीं। खली खाने से पशु ख़ूब मोटे ताज़े हो जाते हैं। सूखी घास और भूसे के गुणों में क्या अन्तर है? एकही प्रकार का बहुत अधिक चारा खिलाने से क्या हानि होती है? ये ऐसी बातें हैं कि इन्हें प्रत्येक ज़मीँदार, प्रत्येक किसान और प्रत्येक देहाती आदमी थोड़ा बहुत ज़रूर जानता है। परन्तु उनमें फ़ी सदी कितने आदमी इस बात की पूछ पाछ करते हैं कि जो खाना वे अपने लड़कों और लड़कियों को खिलाते हैं वह, उनकी वाढ़ के ख़याल से, उनकी शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करता है या नहीं? यह बात कितने आदमियों को मालूम रहती है कि जैसे जैसे उनके बच्चे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे उनको किस तरह का खाना खिलाने की ज़रूरत है? लोग शायद यह कहेंगे कि इस तरह के आदमियों को अपने काम-धन्धे हा से छुट्टी नहीं मिलती, लड़कों के खाने पीने इत्यादि की बातों का वे कैसे विचार कर सकते है? पर यह कारण सत्य और युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि और लोगों का भी तो यही हाल है। जो लोग इस तरह के काम-धन्धे में नहीं लगे रहते वही कहाँ इन बातों का विचार करते हैं। दाना, घास खा चुकने के बाद घोड़े को तुरन्त ही न जोतना चाहिए—यह एक ऐसी बात है कि इसे बीस नगर निवासियों में से, यदि न जानते होंगे तो, दो ही एक न जानते होंगे। पर यदि यह मान लीजिए कि इन बीस आदमियों में सभी के लड़के वाले हैं तो इनमें से शायद एक भी आदमी आपको ऐसा न मिलेगा जिसने इस बात का विचार किया हो कि उसके बच्चों के खाना खा चुकने के बाद फिर पाठ शुरू करने तक जो समय उन्हें मिलता है वह काफ़ी है या नहीं। सच तो यह है कि यदि जिरह की जाय—यदि टेढ़े-मेढ़े

प्रश्न पूछे जायँ—तो यह मालूम होगा कि प्रायः हर आदमी अपने मन में यही समझता है कि बच्चों के खिलाने पिलाने और उनके आराम-तकलीफ़ का ख़याल रखना उसका काम नहीं। शायद वह यह जवाब देगा कि—"अजी, ये काम मैंने स्त्रियों को सौंप रक्खे हैं"। और बहुत करके उसके जवाब देने के तरीक़े से सुननेवाले को यह भासित होगा कि ऐसे कामों की देख-भाल रखना पुरुषों के योग्य काम नहीं। वह स्त्रियों ही का काम है। पुरुषों को ऐसे काम करना मानों अपने पुरुषत्व में बट्टा लगाना है।

३—जानवरों के पालन-पोषण में बेहद चाव और अपने बाल-बच्चों के पालन-पोषण में बेहद बेपरवाही।

कितने आश्चर्य्य की बात है कि अच्छे और बलवान् बैल पैदा करने की फ़िक्र में तो पढ़े लिखे आदमी प्रसन्नता-पूर्वक न मालूम कितना समय ख़र्च करते हैं और न मालूम कितना मन लगाते हैं; पर मनुष्य के समान उच्च श्रेणी के प्राणी को, पालन-पोषण और रक्षण करके, सबल बनाने का काम वे अपने योग्य ही नहीं समझते। ऐसी समझ रखना सब लोगों की आदत हो गई है। इसी से ऐसी दुरवस्था देख कर भी लोगों को आश्चर्य्य नहीं होता; किसी बुरी चाल के चल जाने से आश्चर्य्य न मालूम होना और बात है; पर इस तरह की अव्यवस्था है ज़रूर आश्चर्य्य-कारक। माताओं को साधारण तौर पर भाषा का ज्ञान, गाना-बजाना और सभ्यतानुकूल व्यवहार करना छोड़ कर और कुछ बहुत ही कम सिखलाया जाता है। रहीं दाइयाँ, सो उनकी समझ सबसे अधिक बेढँगी होती है।—वे सिर पैर की पुरानी बातें कूट कूट कर उनके मग़ज़ में भरी रहती हैं। ऐसी ही दाइयों की मदद से ये मातायें बच्चों के खाने-पीने, कपड़े-लत्ते, और घुमाने-फिराने इत्यादि का प्रबन्ध करने के योग्य समझी जाती हैं। इधर इस तरह की अयोग्य मातायें और दाइयाँ बच्चों के पालन-पोषण का गुरुतर भार उठाती हैं; उधर बाप समाचार-पत्र, मासिक पुस्तकें और अनेक प्रकार की किताबें पढ़ा करते हैं, कृषि-सम्बन्धी सभा-समाजों में जाते हैं, तरह तरह के तजरिबे करते हैं, और अनेक प्रकार के वाद-विवाद करके अपना मग़ज़ ख़ाली करते हैं। यह सब इस लिए कि कोई ऐसा तरीक़ा उन्हें मालूम हो जाय जिसमें उनके पशु ख़ूब

मोटे हो जायँ और किसी प्रदर्शिनी से उन्हें इनाम मिले। इस मूर्खता का कहीं ठिकाना है! हम रोज़ अपनी आँखों से देखते हैं कि डरबी की घुड़-दौड़ में बाज़ी मारने के इरादे से एक अच्छा घोड़ा तैयार करने के लिए लोग जी जान लड़ा कर परिश्रम करते हैं और न जाने कितनी तकलीफ़ उठाते हैं। पर वर्तमान समय के योग्य एक अच्छा पहलवान तैयार करने की तरफ़ कोई ज़रा भी ध्यान नहीं देता। अँगरेज़-ग्रन्थकार स्विफ्ट ने "गलिवर के प्रवास" नामक एक विचित्र पुस्तक लिखी है। यदि उसमें लपूटा नामक द्वीप के निवासियों के विषय में गलिवर यह लिखता कि वे और जानवरों के बच्चो को सबसे उत्तम रीति से पालने की तरकीब सीखने में तो एक दूसरे से चढ़ा ऊपरी करते हैं, पर इस बात की वे बिलकुल ही परवा नहीं करते कि अपने निज के बच्चो के पालने की सब से अच्छी तरकीब कौन है, तो जो कितनी ही और बे सिर पैर की बेहूदा बातें उसने वहाँ पर लिखी हैं उन्हीं में यह भी खप जाती—और ख़ूब खपती।

४—जीवन-निर्वाह के कामों में मेहनत बढ़ती जाती है। उसे सह सकने के लिए सुदृढ़ शरीर की ज़रूरत।

पर यह बात योंही उड़ा देने की नहीं है। यह बड़े महत्त्व की है। जो काल्पनिक मुक़ाबला हमने यहाँ पर किया—जो विपरीत-भाव हमने यहाँ पर दिखलाया—उसे सुन कर हँसी आये बिना न रहेगी। पर उसका परिणाम कम भयङ्कर न समझिए। एक मार्मिक ग्रन्थकार लिखता है कि सांसारिक कामों में कामयाबी प्राप्त करने के लिए सबसे पहली शर्त यह है कि—"शरीर ख़ूब दृढ़ होना चाहिए"। इसी तरह देश के अभ्युदय के लिए देश-वासियों के शरीर का सुदृढ़ और बलवान् होना भी पहली शर्त है। सिर्फ़ लड़ाई का परिणाम ही बहुत करके सिपाहियों की शरीर-सम्पत्ति और वीरता पर अवलम्बित नहीं रहता, किन्तु व्यापार में कामयाब होना भी व्यापार की चीजें पैदा करने वाले के शरीर में मेहनत करने की शक्ति होने पर ही बहुत कुछ अवलम्बित रहता है। लड़ने-भिड़ने और व्यापार में दूसरे देशवालों के साथ अपना बल आजमाने में यद्यपि अभी तक हमें डरने का कोई कारण नहीं देख पड़ता, तथापि इस बात के चिह्न

कम नहीं दिखाई दे रहे कि इस विषय में बहुत शीघ्र हमें अपना हद से जियादह बल ख़र्च करना पड़ेगा। आज कल जीवन-निर्वाह करने के लिए सब लोग आपस में इतनी अधिक चढ़ा ऊपरी कर रहे हैं कि थोड़े ही आदमी ऐसे होंगे जो बिना शरीर को हानि पहुँचाये यथेष्ट मेहनत कर सकते होंगे। हज़ारों लोग काम के भारी बोझ से दब कर अभी से कुचले जा रहे हैं। यदि यह बोझ इसी तरह बढ़ता गया जैसा कि मालूम होता है, तो बलवान् और मज़बूत से भी मज़बूत आदमियों की शरीर-सम्पत्ति को हानि पहुँचे बिना न रहेगी। इस लिए लड़कों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिसमें अपना कठोर कर्तव्यपालन करने के लिए उनकी बुद्धि में यथेष्ट योग्यता आ जाय। यही नहीं, किन्तु उस कर्त्तव्य-पालन की मेहनत और उससे पैदा हुई थकावट सह सकने के लिए उनका शरीर भी यथेष्ट दृढ़ हो जाय।

५—शारीरिक शिक्षा की तरफ़ लोगों का ध्यान अब कुछ कुछ जाने लगा है।

सौभाग्य से लोगों का ध्यान अब इस तरफ़ जाने लगा है। प्रसिद्ध ग्रन्थकार किंग्ज़ले ने लड़कों से पढ़ने लिखने में बहुत अधिक मेहनत लेने के विरुद्ध जो लेख लिखे हैं उनसे यह बात साफ़ जाहिर है। इन लेखों में शायद अत्युक्ति का अंश बहुत अधिक है; पर ऐसे विषयों में बहुत करके अत्युक्ति हुआ ही करती है। समाचारपत्रों में कभी कभी इस विषय पर जो चिट्ठियाँ और लेख प्रकाशित होते हैं उनसे भी मालूम होता है कि शारीरिक शिक्षा की बातों में लोग मन लगाने लगे हैं। अब एक स्कूल खोला गया है जिस का नाम—"बल-वर्धक ईसाईपन" है। यह नाम तिरस्कार-सूचक है; पर है ख़ूब सार्थक। इससे भी यह मालूम होता है कि लोगों के ध्यान में अब यह बात अधिकाधिक आने लगी है कि लड़कों को शिक्षा देने की वर्तमानपद्धति में उनकी शरीर-रक्षा का पूरे तौर पर ख़याल नहीं किया जाता। इससे स्पष्ट है कि अब यह विषय वाद-विवाद करने योग्य अवस्था को पहुँच गया है। अब इसकी स्थिति ऐसी हो गई है कि इसका विचार किया जा सके।

६—लड़कों की शारीरिक शिक्षा वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार होनी चाहिए ।

आज कल के विज्ञान-शास्त्र की सहायता से जो बातें जानी गई हैं—जो सिद्धान्त स्थिर हुए हैं—उन्हीं के अनुसार हम लोगो को बच्चों के पालन-पोषण और विद्याभ्यास के नियम बनाने चाहिए। इसी की इस समय बड़ी ज़रूरत है। रसायन-शास्त्र-सम्बन्धिनी नई नई बातों के ज्ञान से अपनी भेड़ों और बैलों को जो लाभ हम पहुँचा रहे हैं उस लाभ में हमें अपने बच्चों को भी साझी कर लेना चाहिए। जो कृपा हम भेड़ और बकरियों पर कर रहे हैं उससे हमें अपने बच्चों को वञ्चित न रखना चाहिए। घोड़ों के सिखाने और भेड़, बकरी, सुअर आदि पालने के विरुद्ध हम कुछ नहीं कहते। उनके पालने-पोसने और सिखाने की ज़रूरत है या नहीं, इस तरह का प्रश्न हम नहीं करते। इन बातों की निस्संदेह ज़रूरत है। हम सिर्फ़ इतना ही कहते हैं कि बच्चों को अच्छी तरह पाल-पोस कर ख़ूब मजबूत स्त्री-पुरुष बनाने की भी तो थोड़ी बहुत ज़रूरत है। अतएव विचार और अनुभव से उपयोगी सिद्ध होने पर जिन बातों से हम पशुओं के पालने-पोसने में काम लेते हैं उन्हीं से मनुष्यो के पालने-पोसने में भी काम लेना चाहिए। सब कहीं एक ही प्रकार के नियमों का वर्ताव क्यों न किया जाय? इन बातों को सुन कर शायद बहुत आदमियों को आश्चर्य्य होगा—सम्भव है, उन्हें क्रोध भी आजाय। परन्तु यह निर्विवाद है कि जिन नियमों के अनुसार पशु आदि नीच श्रेणी के प्राणियों के इन्द्रिय-व्यापार होते हैं उन्हीं नियमों के अनुसार मनुष्य के भी इन्द्रिय-व्यापार होते हैं। दोनों के इन्द्रिय-व्यापार-विषयक नियम तुल्य हैं। यह बात सर्वथा सच है, अतएव इसे हमे माननाही चाहिए। कोई शरीर-शास्त्र का ज्ञाता, कोई प्राणि-शास्त्र का ज्ञाता, कोई रसायन-शास्त्र का ज्ञाता एक पल के लिए भी इस बात को मान लेने में सङ्कोच न करेगा कि जिन साधारण नियमों के अनुसार पशु आदि नीच योनि के जीवो का जीवन-व्यापार होता है उन्हीं नियमों के अनुसार मनुष्य का भी जीवन-व्यापार होता है। दोनों की जीवन-सम्बन्धिनी मुख्य मुख्य बातें एक सी हैं। उनमें कोई भेद नहीं।

इस बात को सच्चे दिल से मान लेने ही से लाभ है। अच्छी तरह देखने-भालने और शास्त्रीय रीति से तजरिबा करने से नीच योनि के पशु आदि जीवों के विषय मे जो सर्वसाधारण नियम निश्चित किये गये हैं वही मनुष्य मात्र के लिए भी लाभदायक हो सकते हैं। जीवन-शास्त्र कल का बच्चा है—अभी वह बाल्यावस्था में है। तथापि इन्द्रिय-विशिष्ट पदार्थों का जीवन जिन नियमों पर अवलम्बित रहता है उनमें से कितने ही प्रारम्भिक नियमों का पता इस शास्त्र के ज्ञाताओं ने लगा लिया है। मनुष्य का भी जीवन इन्हीं नियमों पर अवलम्बित रहता है। अब हमें सिर्फ़ इस बात का पता लगाना है कि बचपन और जवानी में मनुष्य की शरीर-रक्षा से इन नियमों का क्या सम्बन्ध है। अतएव इसे जानने के लिए अब हम कुछ प्रयत्न करना चाहते हैं।

७—संसार की कोई स्थिति एकसी नहीं रहती। उसमें हमेशा चढ़ाव-उतार लगा रहता है।

सामाजिक जीवन के जितने दरजे हैं सबमें एक प्रकार का उतार चढ़ाव देख पड़ता है। अथवा यों कहिए कि संसार की स्थिति, सङ्गीत के स्वरों की तरह, उतरती चढ़ती रहती है। जब किसी स्थिति की चढ़ती कला होती है तब वह उसकी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। वहाँ पहुँच कर उसे उसकी विरोधी दशा प्राप्त हो जाती है और वह उतरने लगती है। उतरते उतरते एक दिन उसके उतार की भी पराकाष्ठा हो जाती है। उदाहरणार्थ–राज्यक्रान्ति के बाद प्रजापीडन ज़रूर होता है। इसका उदाहरण हम लोगों में भी पाया जाता है। देखिए, कुछ काल तक लोग नये नये सुधार करने मे तन्मय हो जाते हैं। पर उसके बाद ऐसा समय आता है कि पुरानी ही बातों का लोग बेतरह पक्षपात करने लगते हैं। इसी तरह सुधार के बाद प्राचीन-पद्धति-प्रीति का उदय होता है और प्राचीन-पद्धति-प्रीति के बाद सुधार का। इसी प्रवृत्ति के कारण कभी लोग विषयोपभोग में लीन हो जाते हैं और कभी सारे विषयों से विरक्त होकर तपस्वी बन जाते हैं। व्यापार में भी इसी प्रवृत्ति के कारण कभी किसी चीज़ का व्यवसाय बेहद बढ़ जाता है और कभी बेहद घट जाता है।

इसी तरह घटती के बाद बढ़ती और बढ़ती के बाद घटती लगी रहती है। शौक़ीन आदमियों की चाल-ढाल मे भी इसका उदाहरण मिलता है। इस तरह के आदमी कभी एक प्रकार के बेहूदा फ़ैशन के दास बन जाते हैं; कभी उसे छोड़ कर उसके विरोधी फ़ैशन के पीछे पागल बन बैठते हैं। इस चढ़ा-उतरी के क्रम ने हमलोगो के खाने-पीने की रीति-रस्मों तक का पीछा नहीं छोड़ा। यह वहाँ भी पाया जाता है। बच्चों के खाने-पीने में भी इसका प्रभाव अटल है। जब बड़े आदमियों की भोजन-व्यवस्था में इस विरोधी क्रम का प्राबल्य देखा जाता है तब बच्चों की भोजन-व्यवस्था में भला क्यों न देखा जाय? कुछ दिन पहले वह समय था जब लोग खाने-पीने ही में मस्त रहते थे—पेट-पूजाही को सब कुछ समझते थे। पर अब संयम-शीलता का समय आया है। अब लोग मादक चीज़ो के पीने और मांस खाने को बहुत बुरा समझते हैं। इससे सूचित होता है कि खाने पीने की पहली अघोर-पंथी रीति के वे बहुत ख़िलाफ़ हैं। बड़े आदमियों की भोजन-व्यवस्था में हुए इस फेर-फार के साथ ही बच्चों की भोजन-व्यवस्था में भी फेर-फार हो गया है। किसी समय लोगों को यह विश्वास था कि बच्चों को जितनाहीं अधिक खिलाया पिलाया जाय उतनाहीं अच्छा। खेती-पाती करनेवाले किसानों का अब भी यही विश्वास है। उन्हीं का नहीं, किन्तु दूर दूर के ज़िलों में, जहाँ पुरानी बातों का ख़याल जल्द आदमियों के दिल से दूर नहीं होता, और लोग भी ऐसे कितनेहीं मिल सकते है जो अपने बच्चो को गले तक खा लेने का लालच दिलाया करते हैं। परन्तु पढ़े लिखे शिक्षित आदमियों का विश्वास ऐसा नहीं। वे अल्पाहारही को अच्छा समझते हैं। उनकी प्रवृत्ति विशेष करके उसी की तरफ़ है। वे अपने लड़कों को अधिक खिलाने की अपेक्षा थोड़ा खिलाने की कोशिश करते हैं। पुराने ज़माने में जो लोग आकण्ठ भोजन करनेहीं को सब कुछ समझते थे उनसे आज कल के शिक्षित आदमी घृणा करते हैं। उनकी यह घृणा अपने बाल-बच्चों की मिताहार-व्यवस्था के विषय में विशेष स्पष्टतापूर्वक देख पड़ती है; पर ख़ुद अपनी आहार-व्यवस्था में उतनी स्पष्टतापूर्वक नहीं देख पड़ती। अर्थात् लड़कों को स्वल्पाहारी बनाने का उन्हें विशेष ख़याल रहता है, अपना नहीं। इसका कारण यह है कि उनकी निज की स्वल्पाहार-विषयक तापस-वृत्ति का ढोंग चल नहीं सकता।

ख़ूब भूक लगने पर डट कर खाये विना उनसे नहीं रहा जाता। उनको ढोंग रक्खा ही रहता है। पर लड़कों के लिए स्वल्पाहार के नियम बनाने में निज-सम्बन्धिनी कोई बाधा तो आती ही नहीं। इससे उस विषय में वे अपनी इस ढोंगी तापसवृत्ति से ख़ूब काम लेते हैं।

८—अधिक खाजाने की अपेक्षा भूखे रहना विशेष हानिकारी है।

कम खाना भी बुरा है और अधिक खा जाना भी बुरा है। यह बात सर्वथा सच है और सबको मालूम भी है। पर भूखे रहना, अधिक खाजाने से भी बुरा है। एक बहुत प्रामाणिक ग्रन्थकार लिखता है कि—"कभी कभी अधिक खाजाने से कम हानि होती है और उस हानि को दूर करने के उपाय भी सहज ही में हो सकते हैं। पर भूखे रहने के परिणाम बहुत भयंकर होते हैं और उनसे बचने के लिए प्रयत्न भी बहुत बड़े बड़े करने पड़ते हैं"। इसके सिवा एक बात यह भी है कि यदि बच्चों के खाने पीने में कोई अनुचित हस्ताक्षेप नहीं करता तो बच्चे शायदही कभी ख़ूब डट कर खाते हैं। "गले तक खाजाने की भूल विशेष करके बड़े आदमियों ही से होती है, बच्चों से नहीं। यह दोष बड़ोंहीं में पाया जाता है, बच्चो में बहुत कम। बच्चों के पालक यदि इस विषय में भूल न करें, और ज़बरदस्ती लड़कों को ज़ियादह न खिला पिला दें, तो वे कभी शायदही खाऊ और उदरपरायण हो जायँ"। अनेक माँ-बाप यह समझते हैं कि कम खाना—भूखे रहना—लड़कों के लिए बहुत ज़रूरी है। इसी लिए खाने पीने में वे बच्चों की रोक टोक करते हैं। इसका कारण यह है कि वे लोग संसार की स्थिति का अच्छी तरह विचार नहीं करते। वे नहीं देखते कि संसार में क्या होरहा है। जिन कारणों की प्रेरणा से वे रोक-टोक करते हैं वे कारण ही भ्रान्ति-पूर्ण हैं। बच्चों के खाने पीने के सम्बन्ध में भी क़ायदे-क़ानून का रेल-पेल है और देश में राजकीय बातों के सम्बन्ध में भी रेल-पेल है। दोनों विषयों में मतलब से ज़ियादह नियम बना डाले गये हैं। इन नियमों में सब से अधिक हानिकारक नियम बच्चों के भोजन की मात्रा का नियमित करना

है। बच्चों को सिर्फ़ इतनाही खाना तोल कर खाना चाहिए, इस तरह का नियम बहुतही हानिकारक है।

९—भूख भर खाने से हानि नहीं। खाने के विषय में पशु, पक्षी, मनुष्य, बाल, वृद्ध, युवा सबकी मार्ग-दर्शक क्षुधा है।

"तो क्या बच्चों को गले तक खा लेने देना चाहिए? क्या उन्हें ख़ूब स्वादिष्ठ खाना पेट भर खाकर बीमार पड़ने देना चाहिए? इस तरह डट कर खाने से भला वे बीमार होने से कभी बच सकेंगे? कभी नहीं। वे ज़रूर बीमार पड़ जायँगे"। इस तरह के प्रश्न का सिर्फ़ एकही उत्तर हो सकता है। पर इस तरह का प्रश्न करना माना जिस बात का विचार हो रहा है उसे पहलेही से मान लेना है। हम बल-पूर्वक कहते हैं कि पशु, पक्षी आदि नीच योनि के जितने जीव हैं, खाने पीने के विषय में, क्षुधा अर्थात् खाने की इच्छा ही उन सबकी उत्तम पथदर्शक है; यहीं नहीं, किन्तु गोद के दुध-पिये बच्चे की भी वह उत्तम पथदर्शक है, बीमार आदमियों की भी उत्तम पथदर्शक है; भिन्न स्थिति और भिन्न भिन्न देश में रहनेवाली मनुष्य-जातियों की भी उत्तम पथदर्शक है; और जितने वयस्क अर्थात् बालिग़ आदमी स्वस्थ और नीरोग हैं उन सबकी भी उत्तम पथदर्शक है। अतएव बिना किसी खटके के इससे यह नतीजा निकलता है कि वही क्षुधा बच्चो के भी खाने पीने में उत्तम पथदर्शक है। और सबके विषय में क्षुधा की कसौटी विश्व-सनीय समझी जाकर यदि सिर्फ़ बच्चोही के विषय में अविश्वसनीय समझा जाय तो निःसन्देह आश्चर्य्य की बात होगी। भूख भर खाने से कभी हानि नहीं हो सकती।

१०—खाने पीने में बच्चों की रोक टोक करने से हानियाँ।

सम्भव है, कोई कोई इस उत्तर को पढ़ कर अधीर हो उठेंगे—उनकी चित्तवृत्ति क्षुब्ध हो उठेगी। वे समझते होंगे कि जो कुछ हमने यहाँ पर

कहा उसके बिलकुलही प्रतिकूल उदाहरण वे दे सकते हैं -ऐसे उदाहरण जिनके ख़िलाफ़ हम कुछ कही नहीं सकते । और यदि हम कहें कि उनकी बातें प्रकृत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं तो एक तरह का बेहूदापन होगा । परन्तु यह एक प्रकार का असत्याभास मात्र है । जो बात हमने कही है वह ऊपर से देखने में तो ठीक नहीं मालूम होती; पर अच्छी तरह विचार करने से उसके ठीक होने में कोई शंका नहीं रह जाती । सच तो यह है कि अधिक खाजाने से पैदा हुई बुराइयों के जो उदाहरण इन लोगों के मन में होंगे वे बहुत करके उसी रोक टोक के नतीजे होंगे जिसे वे ठीक समझते हैं । वे समझते हैं कि लड़कों को अधिक खाने पीने न देना चाहिए—यदि वे बहुत खाना चाहें तो उन्हें रोकना चाहिए । पर उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि अधिक खा जाना यथेच्छ भोजन न करने देने हीं का नतीजा है । रोक टोक करके बच्चों से तापस वृत्ति धारण करानेहीं से उनके मनोभावों में विपर्य्यय हो जाता है और मौक़ा मिलते ही वे इतना खा जाते हैं कि हज़म नहीं कर सकते । लोग बहुधा कहा करते हैं कि जिन लड़कों के साथ बचपन में सख़्ती का बर्ताव किया जाता है वे बड़े होने पर (बे-लगाम के घोड़े की तरह) बहुत ही उद्दण्ड आचरण करने लगते हैं और परिमिताचार से कोसों दूर जा पड़ते हैं । यह बात बहुत ठीक है । इसकी यथार्थता ऊपर के उदाहरण से, थोड़े ही में, सिद्ध है । ये उदाहरण उन भयंकर घटनाओं की तरह के हैं जो रोमन कैथलिक सम्प्रदायवाले क्रिश्चियन लोगों के मठों में, किसी समय, अधिकता से होती थीं । वहाँ कठोर तापसवृत्ति से छूट कर जन्म-जोगिनी स्त्रियाँ एक दमही महा-घोर पैशाचिक कर्म्मों में प्रवृत्त हो जाया करती थीं । । इन उदाहरणों से सिर्फ़ यह प्रकट होता है कि वासनाओं को बहुत दिनों तक दाब रखने से, मौक़ा पातेही, वे बे तरह उच्छृङ्खल हो कर क़ाबू के बाहर हो जाती हैं । विचार कीजिए कि किन चीज़ों को बच्चे अधिक चाहते हैं और उन चीज़ों के विषय में उनसे किस तरह का बर्ताव किया जाता है । मीठी चीज़ें बच्चो को विशेष अच्छी लगती हैं । प्रायः सभी बच्चों में यह बात पाई जाती है । शायदही कोई बच्चा ऐसा हो जिसे मिठाई पसन्द न हो । पर सौ में से निन्नानबे आदमी यह समझते हैं कि यह सिर्फ़ चटोरपन है, और कुछ नहीं । अतएव इन्द्रियजन्य दूसरी वासनाओं की तरह इसे भी रोकना चाहिए । परन्तु प्राणिशास्त्र के ज्ञाता को

इसमें शङ्का होती है। लड़कों के मिठाई अधिक पसन्द करने का कारण सर्वसाधारण जैसा समझते हैं वैसा समझने में उसे संकोच होता है। वह अपने मन में कहता है कि चटोरपन के सिवा इसका जरूर और कोई कारण होगा। क्योंकि प्राणि-विद्या-विषयक बातों के अभ्यास से जो नये नये आविष्कार होते रहते हैं उससे सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में उसका प्रेम प्रति दिन बढ़ता ही जाता है। इस कारण वह इस बात की जाँच करता है। जाँच से उसे मालूम हो जाता है कि मेरा तर्क सच्चा है। बच्चे मिठाई को जो पसन्द करते हैं, इसका कारण चटोरपन नहीं है। जाँच करने से उसे इस बात का पता लगता है कि जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलने के लिए बच्चों के शरीर को मिठास की बड़ी जरूरत रहती है। जिन चीजों में मिठास होता है और जिनसे चरबी पैदा होती है वे शरीर में जाकर आक्साइड नाम का पदार्थ बन जाती हैं। इससे शरीर में उष्णता पैदा होती है। कुछ और भी चीजें ऐसी हैं जो रूपान्तर होने पर शकर हो जाती हैं और उष्णता पैदा करती हैं। इस तरह शरीर के भीतर गई हुई चीजों का शकर में रूपान्तर होना बराबर जारी रहता है। पाचन-क्रिया के समय निशास्ता अर्थात् अन्न का पिष्टमय अंश ही शकर नहीं बन जाता; किन्तु क्लाड बरनार्ड नाम के फरासीसी विद्वान् ने इस बात को सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है कि यकृतरूपी कारख़ाने में ख़ुराक के अन्यान्य अंश भी शकर बन जाते हैं। शरीर के लिए शकर की इतनी जरूरत है कि जब और कोई पदार्थ नहीं मिलते तब नाइट्रोजन वाले पदार्थों से ही यकृत को शकर बनानी पड़ती है। अच्छा, तो शरीर में उष्णता उत्पन्न करनेवाली मीठी चीज़ें लड़के बहुत पसंद करते हैं। पर आक्साइड बनते समय जिनसे बहुत अधिक उष्णता बाहर निकलती है उन्हें, अर्थात् चर्वी बढ़ानेवाली चीजों को, वे बहुधा बिलकुल ही नहीं पसन्द करते। इन बातों का विचार करने से यह तात्पर्य्य निकलता है कि चर्वी बढ़ानेवाली चीजों के कम खाने से उष्णता में जो कमी आ जाती है उसे लड़के मीठी चीजें अधिक खाकर पूरी कर लेते हैं। अतएव सिद्ध है कि लड़कों के शरीर के लिए शकर की ज़ियादह ज़रूरत रहती है; क्योंकि चर्वी पैदा करनेवाली चीज़ें लड़के कम खाते हैं। इसके सिवा लडकों को तरकारियाँ बहुत अच्छी लगती हैं। फल तो उनको प्राणों से भी अधिक प्यारे मालूम होते हैं। उन्हें पाने पर लड़कों की

.खुशी का ठिकाना नहीं रहता। यदि उन्हें अच्छे फल नहीं मिलते तो वे झरबेरी के कच्चे बेर और खट्टे से खट्टे करोंदे या जंगली सेब खा जाते हैं। तरकारियों और फलों में जो खटाई रहती है वह वैसी ही पौष्टिक होती है जैसी कि खनिज पदार्थों की खटाई पौष्टिक होती है—पौष्टिक ही नहीं, किन्तु यह कहना चाहिए कि अत्यन्त पौष्टिक होती है। ये पदार्थ यदि बहुत अधिक न खा लिये जायँ तो शरीर को विशेष लाभ पहुँचाते हैं। एक बात और भी है कि यदि ये पदार्थ अपनी प्राकृतिक स्थिति में—अर्थात् जिस हालत में ये पैदा होते हैं उसी हालत में—खाये जायँ तो इनके खाने से और भी कितने ही लाभ होते हैं। डाक्टर ऐंड्रू कोम्बा कहते हैं कि—"इँगलैंड की अपेक्षा योरप में और सब कहीं पक्के फल अधिक खाये जाते हैं। विशेष करके जब पेट साफ़ नहीं रहता तब फलों से बहुधा बहुत अधिक लाभ होता है"। अच्छा तो अब यह देखिए कि बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और उनके साथ पालन-पोषण-सम्बन्धी जो व्यवहार किया जाता है उसमें कितना भेद है। बच्चों को दो चीज़ें अच्छी लगती हैं—जिन दो तरह के पदार्थों का वर्णन यहाँ पर किया गया उन्हें वे बहुत पसन्द करते हैं। इससे बहुत करके यह प्रकट होता है कि उनकी शरीर-रक्षा के लिए किन चीज़ों की ज़रूरत होती है। पर यही नहीं कि ये चीज़ें बच्चों के खाने पीने में नहीं आतीं; किन्तु बहुधा लोग इनका खाना ही बन्द कर देते हैं। उनके मारे बच्चे इन्हें खाने ही नहीं पाते। सवेरे दूध और रोटी; और शाम को चाय, रोटी और मक्खन, या इसी तरह का और कोई फीका खाना बच्चों को दिया जाता है और इस बात की सख़्ती की जाती है कि इनके सिवा और कोई चीज़ उन्हें खाने को न मिले। लोग यह समझते हैं कि बच्चों को स्वादिष्ठ भोजन देना—उनकी रुचि के अनुसार उन्हें चीजें खिलाना—ज़रूरी बात नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु बच्चों की रुचि के अनुसार खाना खिलाना वे बुरा समझते हैं। अब देखिए, इस तरह की रुचि का परिणाम क्या होता है? जब तिथि-त्योहार के दिनों में अच्छी अच्छी चीज़ें घर में अधिकता से होती हैं, जब जेब-ख़र्च मिलने पर हलवाइयों की दुकान तक बच्चों की पहुँच हो जाती है, या घूमते घामते जब किसी फलदार बाग़ में बिना किसी रोक टोक के उनका प्रवेश हो जाता है, तब पुरानी कसर सब एक दम निकल जाती है। तब बहुत दिन की अपूर्ण इच्छायें .खूब उच्छृंखल

हो उठती है और मननानी चीज़ें गले तक खाकर बच्चे उन्हें तृप्त करते हैं। कुछ तो इस तरह की अच्छी अच्छी चीज़ें खाने के पिछले प्रतिबन्ध के कारण, और कुछ यह समझ कर कि कल से अब फिर बहुत दिनों तक उपास करना है, बच्चे वृकोदर का ऐसा व्यवहार करते है—खाने के सिवा उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं। और जब इस बे हिसाब खाने की ख़राबियाँ देख पड़ने लगती हैं तब लोग यह कहना शुरू करते हैं कि खाने पीने की ज़िम्मेदारी बच्चों पर ही न छोड़नी चाहिए—उन्हें जो चीज जितनी मन में आवे न खाने देना चाहिए; क्षुधा बच्चों की विश्वसनीय पथदर्शक नहीं! अस्वाभाविक रोक टोक के कारण जो ये ऐसे दुःखदायक परिणाम होते हैं उन्हीं को उदाहरण मान कर लोग इस बात को साबित करते हैं कि अभी और रोक टोक की जरूरत है। इसी से हम कहते हैं कि रोक टोक के इस तरीके को सच्चा साबित करने के लिए जो कारण बतलाया जाता है—जो दलील पेश की जाती है—वह बिलकुल ही पोच है। इसी से हम जोर देकर कहते हैं कि बच्चों की शरीर-रक्षा के लिए जिन स्वादिष्ठ चीजो की जरूरत है वे यदि उन्हें प्रति दिन बिना रोक टोक के दी जायँ तो शायद ही कभी वे भूख से ज़ियादह खा जायँ, जैसा कि वे इस समय मौक़ा हाथ आते ही किया करते हैं। डाक्टर कोम्बी की राय है कि फलों को, नियमित खाने का एक अंश समझना चाहिए और यदि वे बच्चों को बीच में, और किसी समय नहीं, किन्तु भोजन करते समय दिये जायँ, तो जंगली सेब और झरबेरी के कच्चे पक्के फल खा जाने की इच्छा कभी बच्चो को न हो। और बातो का भी यही हाल समझना चाहिए।

११—भोजन का परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता। उसकी सच्ची माप बच्चों की क्षुधा है।

जिन चीजो के खाने की इच्छा बच्चों को हो उन्हें खाने देने में उनकी क्षुधा पर पूरा विश्वास करना चाहिए। अर्थात् भूख भर उन्हें खा लेने देना चाहिए। इसके कारण बहुत ही युक्तियुक्त और दृढ़ है। पर भूख पर विश्वास न करके बच्चो को उनकी अभीष्ट चीजें न खाने देने के पक्ष में जो कारण बतलाये जाते हैं वे बिलकुल ही निर्जीव हैं। यही नहीं, किन्तु बच्चों

की इच्छा—बच्चो की भूख—को छोड़ कर इस विषय का विश्वसनीय निर्णय करनेवाला और कोई मार्ग ही नहीं है। किस चीज़ को खाने देना चाहिए और किसको न खाने देना चाहिए, इस विषय का फ़ैसला करने में यदि किसी पर विश्वास किया जा सकता है तो बच्चों की इच्छा पर—बच्चों की भूख पर। लोग समझते हैं कि इस विषय में माँ-बाप की राय भी विश्वास-योग्य मानी जा सकती है। पर माँ-बाप की राय की क़ीमत ही कितनी? जब बच्चा कहता है कि अभी मैं और खाऊँगा तब माँ या दाई कहती है—"बस, और नहीं"। भला इस "बस, और नहीं" का आधार क्या है? वह सिर्फ ख़याल करती है कि बच्चे ने मतलब भर के लिए खा लिया है। यह एक कल्पना मात्र है। इस तरह की कल्पना के लिए क्या वह कोई कारण भी बतला सकती है? क्या वह बच्चे के पेट का हाल किसी गुप्त रीति से मालूम कर लेती है? क्या उसे कोई ऐसी विद्या मालूम है जिससे वह यह समझ जाती है कि बच्चे के शरीर के लिए किन किन चीज़ो की ज़रूरत है? यदि इनमें से कोई बात नहीं, तो किस बुनियाद पर वह बेधड़क कह देती है कि—"बस, और नहीं"? क्या उसे यह बात न मालूम होनी चाहिए कि एक नहीं, अनेक पेचीदा कारणों से शरीर के लिए भोजन की ज़रूरत होती है? न्यूनाधिक भूख लगने के सैकड़ों कारण हो सकते हैं। हवा की गरमी, सरदी या बिजली की मात्रा के अनुसार भूख में न्यूनाधिकता हो जाती है। इसी तरह व्यायाम (कसरत) के अनुसार, सबसे पिछले भोजन के समय खाये हुए अन्न के प्रकार और परिमाण के अनुसार, और उसके पाचन में लगे हुए कम या अधिक समय के अनुसार भी भूख में न्यूनाधिकता हो जाती है। इन सब कारणों के मेल से होनेवाले परिणाम का ज्ञान उसे किस तरह हो सकता है? हमने एक पाँच वर्ष का लड़का देखा। यह लड़का अपनी हमजोली के लड़कों से इतना ऊँचा था कि और लड़के उसके कन्धे ही तक पहुँचते थे। औरों की अपेक्षा वह विशेष सुदृढ़, सशक्त और चालाक भी मालूम होता था। उसके बाप को एक दफ़े हमने यह कहते सुना कि—"मेरे पास कोई ऐसी माप नहीं जिससे मैं यह जान सकूँ कि इसे कितना खाना खिलाना चाहिए। इस विषय में मैं कोई नियम नहीं निश्चित कर सकता। यदि मैं कहूँ कि इतना भोजन कर लेना इस के लिए बस होगा तो यह अटकल मात्र है। और अटकल सच भी

हो सकती है, झूठ भी हो सकती है । अतएव, अटकल पर मेरा विश्वास न होने के कारण, मैं इसे पेट भर खा लेने देता हूँ" । परिणामों को ध्यान में रख कर विचार करने से हर आदमी को यह ज़रूर मानना पड़ेगा कि इस बाप ने पूर्वोक्त बर्ताव करके बड़ी बुद्धिमानी का काम किया । सच तो यह है कि बहुत आदमी, जो अपने विश्वास के बल पर बच्चों के मेदे (आमाशय) के विषय में नियम बना देते हैं वे, इस बात का सबूत देते हैं कि हम प्राणि-धर्म्म शास्त्र से बिलकुल ही परिचित नहीं । यदि इस शास्त्र का इन लोगों को थोड़ा भी ज्ञान होता तो विश्वास के बल पर ये इतना ऊँचा उड़ान न भरते—इतना घमण्ड न करते । "विज्ञान का घमण्ड अज्ञान के घमण्ड के मुकाबले में है क्या चीज़? उसकी हकीकत ही कितनी"? यदि कोई यह जानने की इच्छा रखता हो कि मनुष्य की सम्मति पर कितना कम, और परम्परा से प्राप्त हुई वस्तु-स्थिति पर कितना अधिक, विश्वास करना चाहिए तो उसे अनुभवहीन वैद्यों के उतावले उपचारों का मुक़ाबला अनुभव-शील वैद्यों के ख़ूब सावधानता-पूर्वक किये गये उपचारों से करना चाहिए । अथवा उसे चाहिए कि वह इँगलैंड के प्रसिद्ध डाक्टर सर जॉन फार्ब्स की "रोगों के दूर करने में प्रकृति और चिकित्सा-शास्त्र की उपयोगिता" नामक पुस्तक पढ़े । इससे उसे मालूम हो जायगा कि मनुष्यों को जैसे जैसे जीवन-सम्बन्धी नियमों का अधिकाधिक ज्ञान होता जाता है वैसे ही वैसे उन्हें अपनी राय—अपनी समझ—पर कम और प्रकृति वस्तु-स्थिति या सृष्टि-क्रम पर अधिक विश्वास होता जाता है ।

१२—बच्चों को हलका और अपौष्टिक भोजन देने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति के कारण ।

बच्चों को कितना खाना खिलाया जाता है—उनके भोजन का परिमाण कितना होता है, इसका विचार हो चुका । अब हम इस बात का विचार करना चाहते हैं कि किस प्रकार का भोजन बच्चों को दिया जाता है—कौन कौन सी चीज़ें उन्हें खाने को मिलती हैं । इस बात के विचार में भी हम, लोगों को तपस्वियों की ऐसी वृत्ति

की तरफ झुका हुआ पाते हैं। वे समझते हैं कि बच्चों का भोजन परिमित ही न हो, किन्तु हलका भी हो। अर्थात् पहले तो बच्चे पेट भर खाने को न पावें, फिर जो कुछ पावें वह पौष्टिक न हो। बच्चों के लिए लोग यही हितकर समझते हैं। आज कल लोगो की राय यह हो रही है कि बच्चों को पौष्टिक भोजन (मांस) बहुत कम देना चाहिए। जान पड़ता है, मध्यम स्थिति के लोगों ने किफ़ायत के ख़याल से यह राय निश्चित की है। क्योंकि मन में किसी इच्छा के पैदा होने के बाद उसे पूरा करने के साधनों की कल्पना होती है। अथवा यो कहना चाहिए कि कल्पना की उत्पादक इच्छा है। मध्यम स्थिति के लोगो में माँ-बाप अधिक मांस नहीं मोल ले सकते। इस कारण बच्चों के माँगने पर वे यह उत्तर देते हैं कि—"छोटे छोटे बच्चो को मांस खाना अच्छा नहीं"। यह उत्तर, जो पहले बहुत करके एक सीधा सादा बहाना था, बार बार के प्रयोग से धीरे धीरे विश्वासपूर्ण मत हो गया। परन्तु जिन लोगो को ख़र्च का ख़याल नहीं, अर्थात् जो अच्छी दशा में हैं, उन्होने जब देखा कि अधिक आदमियों की राय ऐसी है तब उनकी देखा-देखी वे भी इसी मत के अनुयायी हो गये। उनके यहाँ जो दाइयाँ रहती हैं वे नीच स्थिति के कुटुम्बो से ली जाती हैं। उनकी राय भी मध्यम स्थिति के आदमियों ही की सी होती है। अतएव इन दाइयों की राय का भी कुछ असर इन उच्च स्थिति के लोगों पर पड़ा। इसके सिवा पहले जमाने के लोगो के पेटू-पन का ख़याल करके उसके विपरीत आचरण करने, अर्थात् कम खाने, की तरफ़ स्वभाव ही से उनकी प्रवृत्ति हो गई। इन्हीं कारणों से उच्च स्थिति वालों की भी राय ने मध्यम स्थिति वालों की राय का अनुसरण किया।

१३—सिर्फ़ बहुत छोटे बच्चों के लिए मांस उपयोगी ख़ूराक नहीं।

परन्तु, यदि, हम इस बात की जाँच करते हैं कि लोगों की जो यह राय हो गई है उसका आधार क्या है—उसकी बुनियाद क्या है—तो हमें उसका बहुत ही कम पता चलता है, अथवा यो कहिए कि कुछ भी पता नहीं चलता। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसकी पुनरावृत्ति लोग, प्रमाण

या आधार की कुछ भी परवा न करके, बराबर करते आ रहे हैं। यही नहीं, किन्तु उसका अनुसरण भी वे करते हैं। हजारों वर्ष तक लोगों का यह आग्रह था कि गोद के बच्चों के बदन पर कपडे की पट्टियाँ बाँधनी चाहिए—उन्हें चीथड़ों से लपेटे रखना चाहिए। जिस व्यवस्था का हम जिकर कर रहे हैं वह भी इसी तरह की है। वह भी एक ऐसा ही आग्रह-पूर्ण मत है। बच्चों का मेदा बहुत कमजोर होता है। उसके स्नायु सशक्त नहीं होते। परन्तु मांस का रस बन कर अच्छी तरह हज़म होने के लिए पेट में बहुत देर तक घर्षण-क्रिया की ज़रूरत होती है। अतएव बहुत छोटे बच्चो के मेदे के लिए मांस उपयुक्त ख़ूराक नहीं है। सम्भव है, बच्चे मांस को अच्छी तरह न हजम कर सकें। परन्तु यह एतराज उस मांस के विषय में नहीं किया जा सकता जिसके रेशे निकाल डाले गये हैं, और न उन बच्चो हीं के विषय में किया जा सकता जिनकी उम्र दो तीन वर्ष की हो चुकी है। इतनी उम्र के बच्चों के स्नायु बहुत कुछ मजबूत हो जाते हैं। इससे उनके मेदे की कमजोरी पहले की अपेक्षा बहुत कम हो जाती है। अतएव सर्व-साधारण के इस आग्रहपूर्ण मत की पोषक जो बातें कही जाती हैं वे सिर्फ़ बहुत ही छोटे बच्चो के विषय में ठीक हैं। सो भी पूरे तौर से नहीं। बड़े लड़को के विषय में तो वे बिलकुल ही ठीक नहीं। परन्तु उनके साथ भी छोटे बच्चो हीं का ऐसा बर्ताव किया जाता है। पौष्टिक भोजन के सम्बन्ध में छोटे बड़े सब उम्र के लड़के बहुधा एकही लाठी से हाँके जाते हैं। यह तो इस मत के पक्ष की बात हुई। परन्तु जब हम इसके विपक्ष की बातों का विचार करते हैं तब अनेक सबल और निश्चित कारण हमें इसके प्रतिकूल मिलते हैं। विज्ञान इस सार्वजनिक आग्रह के बिलकुल ही ख़िलाफ़ है। वैज्ञानिक रीति से विचार-पूर्वक निश्चित किये गये सिद्धान्त इस मत के पूरे विरोधी हैं। हमने दो प्रसिद्ध डाक्टरों और प्राणिधर्मशास्त्र के कितनेहीं नामी नामी विद्वानों से इस विषय में प्रश्न किया। उन्होने एकवाक्य होकर निश्चित रूप से यह मत स्थिर किया कि बड़े आदमियों को जैसा अन्न दिया जाता है उससे कम पौष्टिक अन्न बच्चों को न देना चाहिए। किम्बहुना, यदि हो सके, तो बच्चो को बड़े आदमियों से अधिक पौष्टिक अन्न देना उचित है।

१४—बड़े आदमियों की अपेक्षा बच्चों को ख़ूराक की अधिक ज़रूरत रहती है ।

जिस आधार पर यह निर्णय किया गया है, बिलकुलही स्पष्ट है और इसकी सिद्धि भी बहुतही सीधी सादी दलीलो से की जा सकती है । इसके लिए बड़े आदमी की जीवन-क्रिया की तुलना सिर्फ़ लड़के की जीवन-क्रिया से करने की ज़रूरत है । इससे मालूम हो जायगा कि वयस्क आदमी की अपेक्षा लड़के को पौष्टिक पदार्थ खाने की अधिक ज़रूरत रहती है । किस लिए आदमी अन्न खाता है ? किस निमित्त मनुष्य को खाना खाने की ज़रूरत पड़ती है ? मनुष्य का शरीर प्रति दिन थोड़ा बहुत ज़रूर क्षीण होता है—कुछ न कुछ कमी उसमे ज़रूर होती है । शारीरिक परिश्रम करने से हाथ-पैर आदि में, मानसिक परिश्रम करने से ज्ञान-तन्तुओं में, और अनेक प्रकार के जीवन-व्यापार-सम्बन्धी परिश्रम करने से शरीर के भीतरी अवयवो में कुछ न कुछ क्षीणता ज़रूर आ जाती है । इस तरह जो क्षीणता आती है उसे पूरा करना पड़ता है । इस प्रकार की कमी की पूर्ति होनी ही चाहिए । दीप्ति-विकिरण के द्वारा बहुत सी उष्णता मनुष्य के शरीर से प्रति दिन बाहर निकला करती है । परन्तु जीवन-व्यापार अच्छी तरह जारी रहने के लिए जितनी उष्णता शरीर को दरकार है उतनी ज़रूर ही उसमें रहनी चाहिए । अतएव क्षीण हुई उष्णता को बार बार पूरा करना पड़ता है । इस लिए शरीर के कुछ अवयवों का संयोग हमेशा आक्सिजन से हुआ करता है—उनके संयोग से हमेशा उष्णता उत्पन्न हुआ करती है । अतएव दिन भर में शरीर का जितना अंश क्षीण हो जाता है उसे पूरा करने, और जितनी उष्णता बाहर निकल जाती है उसे पैदा करने के लिए काफ़ी ईंधन पहुँचाने, के लिए ही वयस्क आदमी को खाना खाने की ज़रूरत होती है । अच्छा अब लड़के की स्थिति का विचार कीजिए । वह भी काम करता है । अतएव उसका भी शरीर क्षीण होता है । उसकी लगातार दौड़-धूप का ख़याल करने से यह बात ध्यान मे आये बिना नहीं रह सकती कि यद्यपि उसका शरीर छोटा है तथापि बहुत करके वह उतनाही क्षीण होता है जितना बड़े आदमी का शरीर क्षीण होता है । अर्थात् बच्चे

के शरीर का आकार यद्यपि छोटा होता है तथापि दिन भर वह हाथ-पैर चलाया ही करता है—कुछ न कुछ किया ही करता है। इससे उसे इतनी मेहनत पड़ती है कि बिना बाहर उसका शरीर क्षीण होता है। किरण-विकिरण के कारण लड़के के शरीर से भी उष्णता बाहर निकला करती है। लड़के के पिण्ड या विस्तार को देखते बड़े आदमी के शरीर का जितना अंश खुला रहता है उसकी अपेक्षा लड़के के शरीर का अधिक अंश खुला रहता है। इससे बड़े आदमी की अपेक्षा लड़के के शरीर की उष्णता अधिक शीघ्रता से बाहर निकला करती है। अतएव उष्णता पैदा करनेवाले जितने भोजन की ज़रूरत बड़े आदमी के लिए होती है, अपने गात के हिसाब से बच्चे के लिए उससे भी अधिक की ज़रूरत होती है। इससे सिद्ध है कि जो जीवन-व्यापार बड़े आदमी को करने पड़ते हैं, यदि सिर्फ़ वही बच्चे को भी करने पड़ें, और कोई नहीं, तो भी अपने डील डौल के अनुसार—अपने गात के अनुसार—उसे वयस्क आदमी की अपेक्षा अधिक पौष्टिक भोजन की ज़रूरत हो। परन्तु शरीर को दुरुस्त रखने—उसकी क्षीणता की पूर्ति करने—और अपेक्षित उष्णता को बना रखने के सिवा बच्चे को बढ़ना भी पड़ता है। अपने शरीर के कुछ अंश को उसे नया भी बनाना पड़ता है। प्रति दिन की क्षीणता और उष्णता की कमी को पूरा करने के बाद जो भोजनांश बच रहता है वह शरीर को बढ़ाने में काम आता है। इसी बचे हुए भोजनांश की बदौलत बच्चे की यथानियम बाढ़ सम्भव है। कभी कभी इस भोजनांश के न बचने पर भी बच्चे की बाढ़ होती है। परन्तु इस तरह की बाढ़ शरीर के अच्छी स्थिति में न होने का लक्षण है। यन्त्रविद्या का एक नियम बहुत पेचीदा है। इससे उसका विवरण यहाँ पर नहीं दिया जाता। तात्पर्य्य उसका यह है कि छोटा यन्त्र बड़े यन्त्र की अपेक्षा अधिक दिन चलता है और घिसने वग़ैरह के कारण कम ख़राब होता है। अर्थात् बड़े की अपेक्षा छोटे यन्त्र की गति में विशेष बाधा नहीं आती। यह एक ऐसी विशेषता है कि बाढ़ का सारा दारोमदार इसी पर है। यदि यह बात न होती तो बढ़नाही असम्भव हो जाता। इस विशेषता को मान लेने से यह बात ज़रूर सिद्ध होती है कि बच्चे के खाने पीने के विषय में चाहे जितनी बेपरवाही की जाय उसके शरीर में कुछ न कुछ भोजनांश बचही रहता है। अर्थात् बड़े आदमी की अपेक्षा बच्चे का शरीर,

शक्ति को कम करनेवाले व्यवहार अधिक सहन कर सकता है। पर इससे यह बात भी सिद्ध होती है, और बहुत स्पष्टतापूर्वक सिद्ध होती है, कि बुरे व्यवहार के कारण जितना भोजनांश बचना चाहिए उसमें ज़रूर कमी हो जायगी। अतएव बच्चे की बाढ़ में भी जरूर बाधा आवेगी और उसका शरीर जितना दृढ़ और सशक्त होना चाहिए उतना न होगा। जो शरीर बढ़ रहा है उसके लिए खाने पीने की बहुत अधिक ज़रूरत होती है। यही कारण है जो मदरसे में पढ़नेवाले लड़कों को इतनी तेज़ भूख लगती है जितनी कि बड़ी उम्र के आदमियों को कभी नहीं लगती। यही नहीं कि लड़कों को बहुत तेज़ भूख लगती हो; नहीं, उन्हें बहुत जल्द जल्द भी भूख लगती है। यदि हमारे दिये हुए इन प्रमाणों से किसी का जी न भरे तो हम और प्रमाण भी दे सकते हैं। बच्चों को अधिक ख़ूराक की जरूरत का यह भी एक प्रमाण है कि ज़हाजों के डूबने अथवा और ऐसे ही अनर्थ होने से जब भूखों मरने का प्रसङ्ग आता है तब बच्चे ही पहले प्राण छोड़ते हैं। यदि भूख बरदाश्त करने की शक्ति उनमें होती—यदि उन्हें बड़े आदमियों की अपेक्षा अधिक भूख न लगती—तो वे कभी इस तरह न मरते।

१५—बच्चों को हलका भोजन अधिक परिमाण में देना चाहिए या पौष्टिक भोजन थोड़े परिमाण में।

जो कुछ यहाँ तक लिखा गया उससे यह सिद्ध हुआ, और सिद्ध होना ही चाहिए, कि बड़े आदमियों की अपेक्षा लड़कों को भोजन की अधिक ज़रूरत है। अतएव अब इस बात का विचार करना है कि इस ज़रूरत को रफ़ा करने के लिए किस तरह का भोजन बच्चों को दिया जाना चाहिए—हलका भोजन अधिक परिमाण में दिया जाय या पौष्टिक भोजन थोड़े परिमाण में? पाव भर मांस खाने से शरीर को जितनी पुष्टता होती है उतनी के लिए पाव भर से अधिक रोटी खाने की ज़रूरत होती है और उतनी रोटी से भी अधिक आलू खाने की ज़रूरत होती है। अर्थात् मांस विशेष पुष्टिकारक है, रोटी उससे कम और आलू रोटी से भी कम। यही हाल और चीज़ों का भी है। कोई चीज़ कम पुष्टिकारक है, कोई अधिक। जो चीज़ जितनी कम पुष्टिकारक है, ज़रूरत को पूरा करने के लिए उसे उतनी ही

अधिक देना चाहिए। तो फिर शरीर की बाढ़ के लिए बच्चों को जो अधिक भोजन की ज़रूरत होती है उसे रफ़ा करने के लिए क्या उन्हें वैसाही अच्छा भोजन देना चाहिए जैसा बड़ों को दिया जाता है? या, इस बात की परवा न करके कि बच्चों के मेदे को यह अच्छा भोजन भी अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में हज़म करना पड़ता है, उन्हें कम पैाष्टिक भोजन और भी अधिक परिमाण में देकर उनके मेदे के लिए उसे हज़म करने का काम और भी कठिन कर देना चाहिए?

१६—बच्चों को पैाष्टिक, पर जल्द हज़म होनेवाला, खाना खिलाना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर सहज ही में दिया जा सकता है। हज़म करने में जितनी ही कम मेहनत पड़ती है, शरीर को बढ़ाने और दूसरे शारीरिक व्यापार चलाने के लिए शक्ति की उतनी ही अधिक बचत होती है। स्नायु-सम्बन्धिनी शक्ति और रुधिर के अधिक ख़र्च हुए बिना मेदे और अँतड़ियों के काम अच्छी तरह नहीं चल सकते। ख़ूब डट कर भोजन करने के बाद शरीर में जो एक प्रकार की शिथिलता आ जाती है उससे बड़ी उम्र के हर एक सज्ञान आदमी को मालूम होना चाहिए कि उस समय स्नायु-सम्बन्धिनी शक्ति और रुधिर की भरती शरीर के और अवयवों में कम होकर—उन्हें हानि पहुँचा कर—मेदे की मदद करती है। शरीर के पोषण के लिए आवश्यक पुष्टता, यदि कम पुष्टिकारक भोजनों के अधिक परिमाण को हज़म करके, प्राप्त करनी पड़ती है तो मेदे आदि को विशेष पैाष्टिक भोजनों के कम परिमाण को हज़म करने की अपेक्षा अधिक मेहनत करनी पड़ती है। इस तरह की मेहनत जितनी ही अधिक पड़ती है उतनी ही अधिक हानि शरीर को पहुँचती है। इसका फल यह होता है कि या तो लड़के कमज़ोर हो जाते हैं, या उनकी बाढ़ मारी जाती है, या दोनों दोष उनमें आ जाते हैं। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जहाँ तक हो सके बच्चों को ऐसा भोजन दिया जाना चाहिए जो पैाष्टिक भी हो और जल्द हज़म भी हो जाय।

१७—वानस्पतिक पदार्थ खाने वालों की अपेक्षा मांस खाने वालों के लड़के अधिक सशक्त और बुद्धिमान् होते हैं।

लड़के लड़कियों का शरीर-पोषण प्रायः, अथवा बिलकुल ही, वानस्पतिक भोजन से हो सकता है। कन्द, मूल, फल, तरकारी और भिन्न भिन्न प्रकार के धान्यों से ही वे पाले जा सकते हैं। यह सच है; इसमें कोई सन्देह नहीं। अमीर आदमियों के घरों में ढूँढ़ने से ऐसे भी लड़के मिल सकते हैं जिनको अपेक्षाकृत कम मांस दिया जाता है। तिस पर भी वे मज़े में बढ़ते हैं और देखने में हृष्ट पुष्ट मालूम होते हैं। मेहनत मज़दूरी करके पेट पालने वाले लोगों के बच्चों को शायद ही कभी मांस चीखने को मिलता होगा। फिर भी वे ख़ूब स्वस्थ रहते हैं और बढ़ कर जवान हो जाते हैं। इन उदाहरणों में जो विरोध जान पड़ता है वह ऊपरी दृष्टि से देखने ही से मालूम होजाता है। वह विरोधाभास मात्र है। ऐसे उदाहरणों को साधारण तौर पर लोग जितना महत्त्व देते हैं उतना महत्त्व पाने के वे हरगिज़ लायक़ नहीं। पहले तो इन उदाहरणों से यह नतीजा नहीं निकलता कि जो लड़के बचपन में रोटी और आलू खाकर पलते हैं वे अन्त में अच्छे जवान होते हैं। किसानी का काम करनेवाले इँगलिस्तान के मज़दूरों और अमीरों का, और फ़्रांस के मध्यम और नीच स्थिति के आदमियों का, परस्पर मुक़ाबला करने से यह मालूम हो जायगा कि वानस्पतिक भोजन उतना लाभदायक नहीं। दूसरे, यह बात सिर्फ़ शरीर के आकार को देखने ही से सम्बन्ध नहीं रखती, उसके गुणों से भी सम्बन्ध रखती है। नरम और ढीला ढाला मांसल शरीर वैसा ही अच्छा मालूम होता है जैसा कि गठीला शरीर मालूम होता है। स्थूल दृष्टि से देखनेवाले की निगाह में भरे हुए, पर पिलपिले, पट्ठोंवाले और ख़ूब गंठे हुए चुस्त पट्ठोंवाले बच्चे के शरीर में कोई भेद न मालूम होगा। पर उन दोनों की शक्ति की परीक्षा करने से उनका भेद तत्काल मालूम हो जायगा। अर्थात् दोनो से कोई ऐसा काम कराने से जिसमें शक्ति की ज़रूरत है, उनके शरीर की मज़बूती का अन्तर ध्यान में आये बिना न रहेगा। वयस्क आदमियों में अधिक मोटेपन का होना बहुत करके कमज़ोरी का लक्षण समझना चाहिए। कसरत करने से

आदमी के बदन का वजन घट जाता है। अतएव कम पौष्टिक अन्न खाने वाले लड़कों की शकल-सूरत को देख कर उन्हें सशक्त समझना भूल है। उनकी शकल सिर्फ़ देखने भर को है। तीसरे, आकार के सिवा हमें काम-काज करने की क्षमता-शक्ति को भी देखना चाहिए। मांस खानेवालों के लड़कों और रोटी और आलू खानेवालों के लड़कों में क्षमता-सम्बन्धी बहुत बड़ा फर्क होता है। शरीर के फुरतीलेपन और बुद्धि की तीव्रता, दोनो बातों में, ग़रीब किसान का लड़का अमीर आदमी के लड़के से बहुत हीन होता है।

१८—परिश्रम करने की शक्ति भोजन की पौष्टिकता पर अवलम्बित रहती है।

यदि हम जुदा जुदा तरह के जानवरो का या जुदा जुदा तरह की मनुष्य-जातियों का परस्पर मुकावला करें, अथवा एकही तरह के जानवरों और एकही जाति के आदमियों का, जुदा जुदा तरह का खाना खिला कर, मुकावला करें, तो इस बात का हमें और भी अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलेगा कि काम करने की क्षमता—परिश्रम करने की शक्ति—का परिमाण सर्वथा भोजन की पौष्टिकता ही पर अवलम्बित रहता है।

१९—पौष्टिक ख़ूराक खानेवाले जानवर घास-पात खानेवाले जानवरों से अधिक चुस्त और चालाक होते हैं।

गाय घास खाती है जो बहुतही कम पुष्टिकारक चारा है। इसीसे उसे बहुत जियादह घास खानी पड़ती है और उसे हज़म करने के लिए बहुत बड़े मेदे इत्यादि की भी जरूरत होती है। यदि पाचन-क्रिया करनेवाले शरीर के भीतरी यन्त्र अधिक विस्तृत न हों तो वह इतनी घास हजमही न कर सके। शरीर की अपेक्षा गाय के पैर इत्यादि अवयव छोटे होते हैं। अत-एव उन पर शरीर का बहुत बोझ पड़ता है। इस इतने बड़े शरीर को उठाने और इतना ज़ियादह चारा हजम करने में गाय की बहुत सी शक्ति ख़र्च हो जाती है। अतएव गाय में जो इतनी सुस्ती और शिथिलता देख

पड़ती है वह शरीर में शक्ति के बहुत कम रह जाने का कारण है। घोड़े के शरीर की बनावट बहुत करके गाय के शरीर ही के सदृश होती है। परन्तु घोड़े को गाय की अपेक्षा अधिक सारवान्, अर्थात् पैाष्टिक, खाना मिलता है। अब यदि आप घोड़े का मुक़ाबला गाय से करेंगे तो मालूम होगा कि घोड़े का शरीर, विशेष करके पेट, उसके पैर आदि अवयवों के परिमाण के हिसाब से, बहुत बड़ा नहीं है। इसीसे उसे पेट इत्यादि का बहुत अधिक बोझ नहीं उठाना पड़ता और न बहुत अधिक ख़ूराक ही हज़म करनी पड़ती। यही कारण है जो घोड़ा बहुत तेज़ चल सकता है और बहुत चुस्त और चालाक होता है। यदि हम घास-पात खानेवाली भेड की शिथिलता और सुस्ती का मुक़ाबला मांस, या रोटी इत्यादि, या दोनों तरह की ख़ूराक खानेवाले कुत्ते से करते हैं तो वही बात हमें यहाँ भी देख पड़ती है। किम्बहुना इस मुक़ाबले में दोनों का पारस्परिक भेद और भी अधिकता से देख पड़ता है। अच्छा, यदि आप किसी अजायबघर या चिड़ियाख़ाने के बाग़ की सैर को जाइए और जंगली जानवरों के पिंजड़ों के पास से होकर निकलिए तो आप देखेंगे कि मांस-भक्षी जानवर किस बे-चैनी से अपने पिंजड़े में इधर से उधर और उधर से इधर चक्कर लगा रहे हैं। इससे आप के ध्यान में फ़ौरन ही यह बात आजायगी कि घास-पात खानेवाले जानवरों में यह विलक्षणता नहीं पाई जाती और आप यह भी समझ जायँगे कि इस तरह की चुस्ती और चालाकी, सारवान् पैाष्टिक खाना खाने ही की बदौलत है। इस चुस्ती और पैाष्टिक ख़ूराक में जो कार्य्यकारण-भाव है उसे समझने में आपको ज़रा भी देरी न लगेगी।

२०—यह भेद शरीर-रचना के कारण नहीं; पैाष्टिक या अपैाष्टिक ख़ूराक के कारण है।

कोई कोई शायद यह कहेंगे कि यह भेद, जो देख पड़ता है, शरीर-रचना में भेद होने के कारण है। इसका कारण जुदा जुदा तरह की ख़ूराक नहीं है। परन्तु इस तरह की तर्कना मे कोई अर्थ नहीं। जिस जानवर का शरीर जैसा है वह उसी के अनुकूल चारा पानी खाने के लिए बनाया गया है और इस भेद का प्रत्यक्ष कारण जानवरों के खाने पीने की चीज़ों में भिन्नता

ही है। इसका सबूत यह है कि यह भेद एकही जाति के जुदा जुदा किस्म के जानवरो में भी पाया जाता है। घोड़े एक तरह के नहीं होते, कई तरह के होते हैं। उनमें हमारे निर्णय का अच्छा उदाहरण मिलता है। गाड़ियो में जोता जानेवाला बड़े पेट का सुस्त और मरियल घोड़ा लीजिए और उसका मुकाबला छोटी कोख के, पर ख़ूब चालाक, शिकारी या घुड़दौड़ के घोड़े से कीजिए। तब आप इस बात को याद कीजिए कि पहले की अपेक्षा दूसरे घोडे की ख़ूराक कितनी पौष्टिक होती है। अथवा मनुष्य ही का उदाहरण लीजिए। आस्ट्रेलिया के आदिम निवासी, आफ़्रीक़ा के जगली बुशम्यन और अन्यान्य महा असभ्य जातियाँ, जो कन्द, मूल, फल और कभी कभी कीड़े मकोड़े आदि अभक्ष्य जन्तु खाकर अपना निर्वाह करती हैं, और मनुष्य-जातियों की अपेक्षा अधिक खर्वाकार होती हैं। उनके पेट बडे बड़े होते हैं। स्नायु भी उनके पिलपिले होते हैं और पूरे तौर पर बढ़े बिनाही रह जाते है। ये लोग लड़ने, भिडने या देर तक मेहनत का काम करने में योरपवालों की बराबरी नहीं कर सकते। पर उत्तरी अमेरिका के इंडियन, दक्षिणी अमेरिका के पेटागोनियन और आफरीका के काफिर आदि जगली आदमियो को देखिए। वे ख़ूब ऊँचे, चालाक और मजबूत होते है। आप जानते हैं वे क्या खाते हैं? वे मांसही अधिक खाते हैं। पौष्टिक अन्न न खाने-वाले हिन्दू मांस-भक्षी अँगरेजो का मुकाबला नहीं कर सकते। शारीरिक और मानसिक दोनों बातों में वे अँगरेज़ो से हीन हैं। साधारण तौर पर हम तो यह समझते हैं कि यदि ससार का इतिहास देखा जाय तो यह मालूम होगा कि जिन लोगों का खाना ख़ूब पौष्टिक होता है वही अधिक सशक्त होते हैं और वही औरों पर प्रभुत्त्व भी करते हैं। *

२१—जानवरों की ख़ूराक जितनी अधिक पौष्टिक होती है उतनी ही अधिक मेहनत वे कर सकते हैं।

जिस जानवर की ख़ूराक जितनी कम या अधिक पौष्टिक होती है उतनी ही कम या अधिक मेहनत भी वह कर सकता है। यह ऐसा उदाहरण है

* यदि हिन्दुओं ने नहीं तो जापानियों ने तो स्पेन्सर के इस मत को जरूर बहुत कुछ भ्रामक सिद्ध कर दिया है। अनुवादक।

जिससे हमारे सिद्धान्त को और भी अधिक दृढ़ता आती है। यह बात घोड़े के दृष्टान्त से प्रमाणित हो चुकी है। सिर्फ़ घास खाने वाला घोड़ा मोटा तो हो जाता है—उसके बदन में चर्बी तो बढ़ जाती है—पर उसकी शक्ति ज़रूर कम हो ज़ाती है। उससे सख़्त मेहनत का काम कराने से इस बात की सत्यता का प्रमाण शीघ्र ही मिल जाता है। "घोड़ों को घास चरने के लिए छोड़ देने से उनके शरीर के स्नायु कमज़ोर हो जाते हैं"। "यदि किसी बैल को स्मिथ-फील्ड नामक नगर की मंडी में ले जाकर बेचना हो तो उसके लिए घास बहुत अच्छा चारा है; क्योंकि घास खाने से वह ख़ूब मोटा हो जायगा। पर शिकारी घोड़े के लिए यह बहुत हानिकारी है"। पुराने ज़माने के लोग इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि गरमी की ऋतु में बाहर खेतों में खेती-किसानी का काम करने के बाद शिकारी घोड़ों को कई महीने तक अस्तबल में बाँध कर खिलाने पिलाने की ज़रूरत होती है। तब कहीं वे शिकारी कुत्तों के साथ शिकार के पीछे दौड़ सकते हैं। वे यह भी अच्छी तरह जानते थे कि अगली वसन्तु ऋतु आये बिना शिकारी घोड़ों की हालत अच्छी नहीं होती। अपरले नामक एक विद्वान् का कथन है कि "गरमी के मौसम में शिकारी घोड़ों को घास चरने के लिए कभी न छोड़ना चाहिए। यही नहीं, किन्तु यदि विशेष सुभीता और विशेष अच्छा प्रबन्ध न हो तो उन्हें बिलकुल ही बाहर न निकालना चाहिए"। मतलब यह कि घोड़ों को कभी हलका खाना मत दो। ख़ूब पौष्टिक और कसदार ख़ूराक बराबर देते रहने ही से घोड़ों में विशेष शक्ति आती है और तभी वे देर तक मेहनत के काम कर सकते हैं। यह सर्वथा सच है। अपरले साहब ने इस बात को साबित कर दिखाया है कि यदि मँझले दरजे के घोड़े को बहुत दिन तक अच्छी ख़ूराक दी जाय तो वह अपने काम-काज और करतबों में मामूली ख़ूराक खाने वाले ऊँचे दरजे के घोड़े की बराबरी कर सकता है। ये सब प्रमाण तो हैं ही। इनमें एक बात और जोड़ दीजिए। इसे सब लोग जानते हैं। वह यह है कि जब किसी घोड़े से दूना काम लेने की ज़रूरत होती है तब उसे लोबिये की तरह का बीन नामक धान्य दिया जाता है। घोड़े की मामूली ख़ूराक जई की अपेक्षा लोबिये में नायट्रोजन अधिक रहता है। और नायट्रोजन वह चीज़ है जिससे मांस की वृद्धि होती है।

———

२२—मांस न खानेवाले आदमियों की शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तिओं में क्षीणता आ जाती है।

इस विषय में बस अब एक ही बात और कहनी है। जो प्रमाण जानवरों के विषय में दिये गये उनकी यथार्थता मनुष्य-मात्र में उतनी ही अथवा उसकी भी अपेक्षा अधिक स्पष्टता से देख पड़ती है। हम उन लोगों के विषय में कुछ नहीं कहते जिन्हें शक्ति के बड़े बड़े काम करने के लिए शिक्षा दी जाती है—जिन्हे कसरत के बड़े बड़े कर्तब दिखाने की तालीम दी जाती है। उनका खाना पीना तो पूरे तैार पर पूर्वोक्त नियम के अनुसार होता ही है। हम, जो लोग रेल के महकमे में ठेकेदारी करते हैं उनके और उनके मज़दूरों के तजरिबे की बात कहते हैं। इस बात को सिद्ध हुए बरसें हो चुकीं कि मांस अधिक खाने वाली इँगलिस्तान की सामुद्री सेना गेहूँ का आटा खानेवाली योरप की सामुद्री सेना की अपेक्षा काम करने की अधिक शक्ति रखती है; इतनी अधिक शक्ति कि योरप में रेल की ठेकेदारी करनेवाले अंगरेज़ ठेकेदार अपने साथ इँगलिस्तान ही से वहाँ मजदूर ले जाते हैं। ऐसा करने से उन्हें बहुत बचत होती है। इँगलिस्तान के मज़दूरों में अधिक शक्ति का होना भिन्नजातित्व का कारण नहीं, भिन्न प्रकार की ख़ूराक का कारण है। यह बात अब स्पष्टतापूर्वक साबित हो गई है। क्योंकि जब योरप के दूसरे देशों की सामुद्री सेना उसी तरह अपना जीवन निर्वाह करती है जिस तरह कि इँगलिस्तान की सेना निर्वाह करती है तो शक्ति के काम करने में वह थोड़े ही दिनों में इँगलिस्तान की सामुद्री सेना की थोड़ी बहुत बराबरी ज़रूर करने लगती है। इस विषय में हम अपने निज के तजरिबे से एक और प्रमाण देना चाहते हैं। हमने ६ महीने तक मांस विरहित केवल वानस्पतिक भोजन किया। उससे हमें यह तजरिबा हुआ कि मांस न खाने से शरीर और मन दोनों की शक्ति कम हो जाती है। अर्थात् शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों में क्षीणता आ जाती है।

२३—पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि लड़कों के लिए पौष्टिक भोजन की बड़ी ज़रूरत है।

लड़कों के खाने पीने के विषय में जो कुछ हमने कहा उसकी पुष्टि क्या इन अनेक प्रमाणों से नहीं होती? यदि यह मान भी लिया जाय कि पौष्टिक और अपौष्टिक, दोनों तरह के, भोजनों से जितनी बाढ़ और पुष्टता होनी चाहिए उतनी होती है, तो भी क्या इन प्रमाणों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि अपौष्टिक भोजन से जिस शरीर का पोषण होता है उसमें विशेष सार नहीं होता—उसके पट्ठे ख़ूब मज़बूत नहीं होते? क्या इन प्रमाणों से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि यदि शक्ति और बाढ़ दोनों अपेक्षित हों तो सिर्फ़ अच्छा खाना खाने ही से यह बात हो सकती है? जिस लड़के से मानसिक या शारीरिक काम लेने की कोई विशेष ज़रूरत नहीं उसे यदि गेहूँ की रोटी या और कोई ऐसा ही सादा भोजन दिया जाय तो भी उसकी बाढ़ में विघ्न नहीं आता। परन्तु जिस लड़के को प्रति दिन बढ़ना और शरीर में नूतन धातुओं को पैदा ही नहीं करना पड़ता, किन्तु बहुत अधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम के कारण होनेवाली क्षीणता की भी पूर्ति करनी पड़ती है उसका भोजन ज़रूर ही ऐसा होना चाहिए जिसमें पुष्टि-कारक पदार्थों का अंश अधिक हो। अच्छा, आप ही बतलाइए, जो कुछ इस विषय में हमने कहा उससे क्या इसके सिवा और कोई नतीजा निकल सकता है? क्या वह इसी नतीजे को नहीं दृढ़ करता? और, क्या इससे साफ़ साफ़ यही बात नहीं प्रमाणित होती कि अच्छा पौष्टिक भोजन न मिलने से, शरीर-रचना और अन्य सापेक्ष बातों के अनुसार, या तो बाढ़ में बाधा आवेगी या शारीरिक किंवा मानसिक शक्तियों को हानि पहुँचेगी? हमें विश्वास है कि जिसे समझ है—जो तर्कना करना जानता है—वह इस में कुछ भी सन्देह न करेगा। इसके प्रतिकूल मत देना मानों उन लोगों की भूल को, पोशीदा तौर पर, स्वीकार करना है जो अखण्ड गति उत्पन्न कर देना चाहते थे। अर्थात् जो यह समझते थे कि बिना कुछ ख़र्च किये ही यांत्रिक शक्ति उत्पन्न हो सकती है। अथवा यों कहिए कि शून्य से शक्ति उत्पन्न की जा सकती है।

२४—बच्चों के खाने में फेर फार न करते रहना बहुत बड़ी भूल है।

खाने पीने की बात समाप्त करने से पहले एक और ज़रूरी विषय, अर्थात् खाने की चीज़ों में फेर-फार, पर हम कुछ कहना चाहते हैं। जो अन्न हम लोग खाते हैं उसमें हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए। परन्तु बच्चो के खाने में फेर-फार नहीं किया जाता। यह बहुत बड़ी भूल है। हमारी फ़ौज के सिपाहियों की तरह यद्यपि हमारे बच्चों को बीस वर्ष तक उबला हुआ मांस खाने की सज़ा नहीं दी जाती, तथापि उन्हें बहुत करके एकही तरह का अन्न खाना पड़ता है। यद्यपि इस विषय में बच्चो के साथ सिपाहियों की ऐसी सख़्ती नहीं की जाती, और न उनकी तरह बीस बीस वर्ष तक एकही तरह की ख़ूराक ही दी जाती, तथापि जो कुछ उन्हें खाने को दिया जाता है वह आरोग्य रक्षा के नियमों के विरुद्ध ज़रूर है। यह सच है कि दोपहर को जो भोजन लड़कों को मिलता है उसमें बहुधा कई चीज़ें थोड़ी बहुत मिली हुई रहती है और प्रति दिन फेर फार भी उसमें हुआ करता है। परन्तु सबेरे के कलेऊ में हफ़्तों, महीनों, बरसों तक वही दूध रोटी या जई के आटे की कढ़ी मिलती है। योंहीं शाम को भी किसी एक तरह के नियमित भोजन—दूध-रोटी, या चाय और मक्खन-रोटी की पुनरावृत्ति करा कर लड़कों का पेट भर दिया जाता है।

२५—खाने की चीज़ों में हमेशा फेर फार करते रहना चाहिए।

यह दस्तूर प्राणिधर्म्मशास्त्र के नियमों के विरुद्ध है। जो लोग यह समझते हैं कि एक ही तरह का खाना बार बार खाने से जो अरुचि पैदा हो जाती है और जिस खाने का स्वाद बहुत दिन तक जीभ को नहीं मिलता उसे मिलने से जो समाधान होता है उसमें कोई अर्थ नहीं वे भूलते हैं। नहीं, उसमें ज़रूर अर्थ है। ये बातें मतलब से ख़ाली नहीं। कई तरह की चीज़ें बदल बदल कर खाना आरोग्यकारी है। अतएव इस तरह रुचि-परि-

वर्त्तन की इच्छा होना बहुत अच्छी बात है। उससे आरोग्यवर्द्धक वस्तुओं के खाने की उत्तेजना मिलती है। यथेष्ट रीति से जीवन-व्यापार चलने के लिए जो अन्नांश उचित परिमाण या उचित रूप में दरकार होते हैं वे सब किसी एकही तरह की ख़ूराक में नहीं पाये जाते, फिर वह ख़ूराक चाहे जितनी अच्छी क्यो न हो। इस बात की परीक्षा सैकड़ों तरह के तजरिबे से की गई है और वह सच निकली है। इससे सिद्ध है कि उचित परिमाण में सब तरह के अन्नांशो की प्राप्ति के लिए खाने की चीज़ो में हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए प्राणिधर्म्मशास्त्र के जाननेवालें ने एक और बात का भी पता लगाया है कि जो चीज आदमी को अधिक पसन्द होती है उसे खाने से शरीर के भीतर की सारी नाड़ियाँ उत्तेजित और उल्लसित हो उठती हैं। इससे हृदय-व्यापार जल्दी जल्दी होने लगता है, अर्थात् रक्ताशय अपना काम पहले की अपेक्षा अधिक तेज़ी से करने लगता है। अतएव रुधिराभिसरण का वेग बढ़ जाता है और अन्न हज़म होने में बहुत मदद मिलती है। पशुओ के पालने के सम्बन्ध मे आज कल जिन नियमें के अनु-सार काम होता है उन नियमों से ये बातें बिलकुल मिलती हैं। तदनुसार पशुओ की ख़ूराक म हमेशा अदल बदल करना चाहिए।

२६—खाना खाते समय कई तरह की चीज़ें खाने की ज़रूरत।

यही नहीं कि खाने में सिर्फ़ समय समय पर फेरफार करने ही की ज़रूरत हो। नहीं, जिन कारणों से इस सामयिक फेरफार की ज़रूरत है उन्हीं कारणों से हर दफे कई चीज़ें मिला कर खाने की भी बड़ी ज़रूरत है। ऐसा करने से मेदे को सब तरह के अभीष्ट अन्नांश पहुँचते रहते हैं और नाड़ियाँ उत्तेजित बनी रहती हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इससे बहुत फ़ायदा होता है; चित्त प्रसन्न रहता है; रुधिराभिसरण अच्छी तरह होता है; और खाना सहज ही में हज़म हो जाता है। यदि इस बात का प्रमाण माँगा जाय तो हम उदाहरण के तौर पर फ़्रांसवालें के खाने का प्रमाण देंगे। फ़्रांसवाले दो पहर को बहुत सा खाना खाते हैं; पर उसमें जुदा जुदा तरह की न मालूम कितनी चीज़ें होती हैं। इसीसे उनका मेदा इतना

अधिक खान सहज ही मे हज़म कर सकता है। इस बात पर शायद ही किसी को एतराज होगा कि एक ही तरह का इतना अधिक खाना फिर चाहे वह जितनी अच्छी तरह से पकाया गया हो इतना सहज में हजम नहीं हो सकता। यदि किसी को इस विषय मे और भी अधिक प्रमाण दरकार हो तो वे पशु-प्रबन्ध सम्बन्धी आज कल की प्रत्येक पुस्तक में मिल सकते हैं। यदि पशुओ को खाने के समय कई चीजे मिला कर दी जाती हैं तो उनसे बड़ा लाभ होता है—पशु ख़ूब मोटे ताजे हो जाते हैं। गॉस और स्टार्क आदि विद्वानों ने इस विषय मे जो तजरिबे किये हैं उनसे " इस बात का विश्वसनीय प्रमाण मिलता है कि मेदे का काम ख़ूब अच्छी तरह चलने के लिए जिस तरह का रस-मिश्रण दरकार होता है उसके लिए खाने में कई चीजें मिला कर देना बहुत लाभकारी अथवा यो कहिए कि बहुत ज़रूरी है"।

२७—बच्चों के खाने मे अदल बदल करने और हर दफ़े कई तरह की चीज़ें खिलाने की तकलीफ़ ख़ुशी से उठानी चाहिए।

यदि कोई यह कहे, और, सम्भव है, बहुत लोग कहेंगे, कि बच्चो के खाने में अदल बदल करते रहना और हर दफ़े कई तरह की चीजें खिलाना बहुत तकलीफ़ का काम है तो हमारा जवाब यह है कि बच्चो की मानसिक उन्नति के लिए चाहे जितनी तकलीफ़ उठानी पडे उसे तकलीफ़ही न समझना चाहिए। उनके भावी कल्याण के लिए उनके शरीर के दृढ़ और नीरोग होने की तो इतनी अधिक जरूरत है कि उसकी सिद्धि के लिए आदमी को भारी से भी भारी तकलीफ़ो को कुछ न समझना चाहिए। सुवरों के खाने पीने का ख़ूब अच्छा प्रबन्ध करके उनको मोटा ताजा बनाने के लिए जो तकलीफ़ लोग ख़ुशी से सहते हैं वही तकलीफ बच्चो के पालने पोसने में यदि असह्य मालूम हो तो क्या यह अफसोस और आश्चर्य्य की बात नहीं?

२८—भोजन-सम्बन्धी तीन सिद्धान्त।

खाने पीने के विषय में हमारे बतलाये हुए नियमो के अनुसार बर्ताव

करने की जिनकी इच्छा हो उनके लिए, सूचना के तौर पर, हम दो चार सतरें श्रैार लिखने की ज़रूरत समझते हैं। बच्चों के खाने में एकदम परिवर्तन करना अच्छा नहीं। क्योंकि लगातार हलका अन्न खाते रहने से बच्चों का शरीर इतना क्षीण हो जाता है कि वे पैाष्टिक अन्न सहसा नहीं हज़म कर सकते। अपैाष्टिक श्रैार हलका अन्न .खुद ही अजीर्ण पैदा करता है। पशुओ तक मे यह बात पाई जाती है। कृषि-सम्बन्धी एक प्रामाणिक पुस्तक मे लिखा है कि—"यदि बछड़ों को मलाई निकाला हुआ दूध, या मठा, या श्रैार कोई अपैाष्टिक हलकी चीजें खिलाई जाती हैं तो उन्हें अजीर्ण हो जाने का डर रहता है"। अतएव शरीर में शक्ति कम होने के कारण पैाष्टिक खाना खाने की आदत धीरे धीरे डालनी चाहिए—क्रम क्रम से पैाष्टिक चीज़ें खिला कर खाने में परिवर्तन करना चाहिए। जैसे जैसे शक्ति बढ़ती जाय वैसेही वैसे अधिक पैाष्टिक चीज़ें खाने को देना चाहिए। इसके सिवा यह बात भी याद रखनी चाहिए कि पैाष्टिक चीजो की मात्रा बहुत ही कम न कर दी जाय। उनके ठीक परिमाण का ज़रूर ख़याल रखना चाहिए। पेट भर खाने ही का नाम भोजन है। यदि पेट ख़ाली रह गया तो उसे भोजन ही नहीं कह सकते। अच्छा खाना खानेवाले शिक्षित आदमियों की पचनेन्द्रियों का आकार बुरा खाना खानेवाले असभ्य जगली आदमियों की पचनेन्द्रियों के आकार की अपेक्षा यद्यपि छोटा होता है; श्रैार यद्यपि भविष्यत् मे उसके श्रैार भी छोटे होने की सम्भावना है; तथापि, तब तक, उनकी पचनेन्द्रियों के—उनके मेदे के—आकार के ही अनुसार इसका निश्चय होना चाहिए कि उन्हें कितना खाना खिलाना मुनासिब है। इन दोनो बातों को ध्यान में रख कर, हमारे यहाँ तक के प्रतिपादन से ये सिद्धान्त निकलते हैं कि (१) बच्चों का भोजन .खूब पैाष्टिक होना चाहिए; (२) प्रत्येक भोजन के समय कई तरह की चीजें खिलाना श्रैार साधारण तैार पर भोजनों मे हमेशा अदल बदल करते रहना चाहिए; श्रैार (३) .खूब पेट भर खाने को देना चाहिए।

२६—मनोवृत्तियों को दबाना न चाहिए। सारे मानसिक और शारीरिक व्यापार उनके अनुकूल करने चाहिएँ।

खाने पीने की तरह कपड़े लत्ते के विषय में भी लोगों का झुकाव कमी की ही तरफ़ है। यह भी अनुचित है। लड़कों को काफी कपड़े न पहनाना अच्छा नहीं। पर लोग उन्हें कपड़े लत्ते के विषय में भी तपस्वी बनाना चाहते हैं। आज कल लोगों की समझ ने, इस विषय में, विलक्षण रूप धारण किया है। वे समझते हैं कि मनोवासनाओं की परवा न करना ही अच्छा है। उनको मारने ही में भलाई है। इस समझ ने यद्यपि अभी तक सिद्धान्त का रूप नहीं पाया तथापि वह एक अनिश्चित रूप में दृढ़ जरूर हो गई है। सब लोगों को कुछ ऐसा विश्वास हो गया है कि जितनी वासनायें हैं कोई भी सुपथदर्शक नहीं। सब कुपथदर्शक हैं। उनको पथदर्शक मान कर तद-नुसार व्यवहार न करना चाहिए। मनोवृत्तियों को तृप्त करना मुनासिब नहीं। वे हम लोगों को सुपथ से भ्रष्ट करने ही के लिए हैं। लोगों की इस समझ का मूल पर्य्यन्त विचार करने से यही नतीजा निकलता है कि उसका कारण उनका अन्ध-विश्वास है। यह बहुत बड़ी भूल है। परमेश्वर ने हमारे शरीर के निर्म्माण करने में जो कौशल दिखाया है उससे उसकी अपार दयालुता सूचित होती है। नाना प्रकार के जो शारीरिक क्लेश हमें सदा सहन करने पड़ते हैं उनका कारण मनोजन्य वासनाओं का आज्ञा-पालन नहीं किन्तु उनकी आज्ञाओं का अपरिपालन है। भूख लगने पर भोजन करना बुरा नहीं। बुरा है बिना भूख भोजन करना। प्यास में पानी पीना अनुचित नहीं। अनुचित है प्यास बुझ जाने पर भी पानी पीते चले जाना। जिस स्वच्छ हवा में साँस लेना प्रत्येक स्वस्थ आदमी को अच्छा लगता है उसमें साँस लेने से हानि नहीं होती। हानि होती है उस गन्दी हवा में साँस लेने से जिसमें, फेफड़ों के मना करने पर भी, लोग साँस लेते हैं। उस घूमने फिरने अथवा कसरत करने से अहित नहीं होता जिसके लिए आपही आप तबीयत चलती है। उसकी इच्छा तो मनुष्य को स्वभावही से होती है। उसे सर्वथा स्वाभाविक समझना चाहिए। देखिए न, बचपन में लड़के ख़ुशी से कैसे उछला कूदा करते हैं। यह स्वाभाविक

प्रेरणा का सबूत है। इस तरह की दौड़ धूप से अहित नहीं होता। अहित होता है स्वाभाविक प्रेरणाओं के अनुसार काम न करने के अत्यन्त आग्रह से। जिस बात के करने को जी चाहे उसे न करने ही से हानि होती है, करने से नहीं। जो मानसिक काम ख़ूब उमङ्ग से किये जाते हैं और जिन्हें करने से आनन्द मिलता है उनसे हानि की सम्भावना नहीं। मस्तक गरम हो जाने या सिर दर्द करने पर भी जो काम जारी रक्खे जाते हैं. हानि की सम्भावना उन्हीं से है। सिर मे गरमी चढ़ जाना या दर्द पैदा हो जाना मानें काम बन्द कर देने की आज्ञा है। हानि ऐसेही आज्ञाभङ्ग से होती है। शारीरिक श्रम जब तक अच्छा लगे, अथवा जब तक न अच्छाही लगे और न बुराही, तब तक करने से अपाय नहीं होता। थकावट मालूम होने के बहाने श्रम बन्द करने की आज्ञा मिलने पर भी उसे बन्द न करने से अपाय होता है। यह सच है कि जिन लोगो का शरीर बहुत दिनों से नीरोग नहीं—जो चिररोगी हैं—उनकी मनोवासनायें विश्वसनीय नहीं। उनके इच्छानुसार बर्ताव करने से ज़रूर हानि होती है। जो लोग बरसो घर से बाहर नहीं निकलने. प्रायः भीतरही पड़े रहते हैं; जो लोग दिन रात मानसिक श्रम किया करते है, शायदही हाथ-पैर हिलाकर कभी शारीरिक श्रम करते हैं; जो लोग अपने मेदे के ख़ाली या भरे होने की परवा न करके अपने घड़ी-घंटे की परवा करते है—खाने का वक्त नहीं टलने देते—वे, बहुत सम्भव है, अपनी दूषित मनोवासनाओं के अनुसरण से हानि उठावें। परन्तु उनको याद रखना चाहिए कि यदि वे पहले से अपनी मनोवासनाओं की आज्ञा मानते—तदनुकूल व्यवहार करते—तो कभी ऐसा न होता। वासनाओं के अनुकूल काम न करनेही से उनमे दोष आ जाता है। यदि वे लड़कपनही से अपने शारीरिक प्रवृत्ति रूपी शिक्षक की आज्ञा न उल्लघन करते तो कभी उन्हें धोखा न होता। अन्त तक वह उन्हें विश्वसनीय शिक्षक की तरह सन्मार्ग से कभी च्युत न होने देता।

३०—गरमी और सरदी का ख़याल रख कर बच्चों को यथेष्ट कपड़े न पहनाने से ज़रूर हानि होती है।

जो मनोवासनायें या मनोवृत्तियाँ हमारे लिए पथदर्शक का काम करती

है, जाड़े और गरमी का ज्ञान उत्पन्न करनेवाली वृत्तियाँ उन्हीं में से हैं। अत-एव बच्चो के कपड़े-लत्तो से सम्बन्ध रखनेवाली व्यवस्था यदि इन प्रवृत्तियो के अनुसार न हो तो उससे जरूर हानि होती है। इस तरह की अस्वा-भाविक व्यवस्था कभी उचित नहीं मानी जा सकती। बहुत लोगों की यह समझ है कि लड़कपन मे कपड़े लत्ते कम पहनने की आदत डालने से बच्चे मज़बूत और श्रमसहिष्णु हो जाते हैं। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है। कितनेहीं बच्चे तो मज़बूत और श्रमसहिष्णु बननेही बनते स्वर्ग को सिधार जाते हैं। और, जो बच जाते हैं, उनकी बाढ़ या तो हमेशा के लिए बन्द हो जाती है, अर्थात् वे जन्म भर ठिंगनेही बने रहते हैं, या उनके शरीर की बनावट को हमेशा के लिए हानि पहुँच जाती है। डाक्टर कोम्बी का मत है कि—' लड़कों की नाज़ुक और कमज़ोर सूरत शकल इस बात का प्रमाण है कि उनको इस तरह मजबूत और श्रमसहिष्णु बनाने का यत्न करनेहीं की बदौलत उनकी यह दशा हुई है। जो माँ-बाप बहुतही बेपरवाह हैं उन्हें भी, लड़को को बार बार बीमार पड़ते देख, इस बात की शिक्षा लेनी चाहिए कि कम कपड़े लत्ते पहना कर लड़कों को मज़बूत बनाने की व्यर्थ चेष्टा हानिकारी है"। जिस भित्ति पर—जिस दलील पर—लड़कों को मज़बूत बनाने के ख़याल ने जोर पकड़ा है वह बिलकुलही निर्जीव है। उसमें कोई अर्थ नहीं। अमीर आदमी ग़रीब किसानों के छोटे छोटे बच्चो को बाहर सर्दी में बिना अच्छी तरह कपडे लत्त पहनेही खेलते कूदते देखते हैं। वे यह भी देखते हैं कि इन बच्चों के मेहनत मज़दूरी करनेवाले माँ-बाप (किसान और मजदूर आदि) ख़ूब नीरोग और सशक्त होते हैं। अतएव इससे वे यह नतीजा निकालते हैं कि उनकी नीरोगता और दृढ़ता इस तरह अर्ध-दिगम्बर रूप में बाहर घूमने फिरनेहीं का फल है। इसी से वे अपने लड़कों को भी उन्हीं के लड़कों की तरह रखना चाहते हैं। पर यह उनकी भूल है। इससे यह नतीजा नहीं निकलता। वे इस बात को बिल-कुलही भूल जाते हैं कि इन लड़को के लिए, जो बाहर देहात मे हरे हरे खेतों और मैदानों में घूमा करते हैं, और भी कितनीहीं बातों का सुभीता है जो अमीर आदमियों के लड़कों को नसीब नहीं। उनके ध्यान में यह बात नहीं आती कि किसानों और मज़दूरों के लड़के बहुत करके सारा दिन

खेल कूदही में बिताते हैं; हमेशा ख़ूब ताज़ी हवा में साँस लेते हैं; और बहुत अधिक मानसिक श्रम के कारण उनके शरीर को कभी पीड़ा नहीं पहुँचती। उनके शरीर के मज़बूत और सशक्त रहने का कारण कपड़े लत्ते की कमी नहीं। उसके और कारण हैं। इसीसे इस कमी के रहते भी उनकी शरीर-सम्पत्ति नहीं बिगड़ती। हमे विश्वास है कि जो नतीजा हमने निकाला है वह यथार्थ है; और, बदन पर यथेष्ट कपड़े न होने से, शरीर से बहुत अधिक गरमी निकल जाने के कारण, हानि हुए बिना नहीं रह सकती।

३१—सरदी में बदन खुला रहने से मनुष्य का क़द ज़रूर छोटा हो जाता है।

यदि शरीर सरदी-गरमी बरदाश्त करने भर के लिए सशक्त है तो उसे खुला रखने से मज़बूती आती है; परन्तु बाढ़ ज़रूर बन्द हो जाती है। यह बात मनुष्यो और पशुओ दोनों में एकसी पाई जाती है। शटलेंड टापू के टट्टू दक्षिणी इँगलिस्तान के घोड़ों की अपेक्षा सरदी अधिक बरदाश्त कर सकते हैं; पर वे बहुत छोटे होते हैं। उन्हे बहुत सरदी सहनी पड़ती है। इसीसे उनकी बाढ़ रुक जाती है और वे ठिंगने रह जाते हैं। स्काटलेंड की पहाड़ी भेड़ें और गाय. बैल आदि बहुत सर्द आबो हवा में रहते हैं। इस कारण वे इँगलिस्तान की भेड़ों और गाय-बैलों की अपेक्षा डील-डौल में छोटे होते हैं। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के आस पास के टापुओं के आदमियों की उँचाई और लोगों की साधारण उँचाई से कम होती है। लापलेंड और ग्रीनलेंड के निवासी बहुतही छोटे होते हैं। टयरा डल फयगो के निवासी, जो प्रचण्ड सर्दी में नंगे घूमा करते हैं, अत्यन्तही बौने और कुरूप होते हैं। उनके विषय में डारविन साहब ने लिखा है कि—"उनको देख कर इस बात पर कठिनता से विश्वास किया जा सकता है कि वे भी हम लोगो ही की तरह मनुष्य हैं"

३२—विज्ञान इस बात का प्रमाण है कि शरीर से अधिक गरमी निकलने ही से आदमी ठिगना हो जाता है।

विज्ञान-शास्त्र पुकार कर कह रहा है कि इस ठिँगनेपन का कारण शरीर से अधिक गरमी निकल जाना है। वह इस बात का प्रमाण है कि खाना पीना और दूसरी बातें यथास्थित होने पर भी शरीर से अधिक गरमी निकलने से आदमियों का क़द जरूर ही ठिँगना हो जाता है। क्योंकि, जैसा पहले हम कह चुके है, शरीर से जो गरमी निकला करती है उसकी कमी को पूरा करने के लिए—उसके कारण पैदा हुई सरदी को दूर करने के लिए यह बहुत जरूरी है कि जो कुछ हम खायं उसमें ऐसी चीजे हों जिनके योग से आक्सिजन का बनना बराबर जारी रहे। और आक्सिजन बनने के लिए जिन चीजो की जरूरत है वे उतनी ही अधिक हों जितनी अधिक गरमी शरीर से निकलती हो। परन्तु खाये हुए अन्न को हज़म करनेवाले अवयवो की शक्ति नियमित है। इससे, शरीर की गरमी कम न होने देने के लिए जब उन्हें गरमी पैदा करनेवाले रस की मात्रा अधिक तैयार करनी पड़ती है तब शरीर की बाढ़ होने के लिए जो उसी तरह का रस दरकार होता है उसकी बहुत ही थोड़ी मात्रा वे तैयार कर सकते हैं। इस तरह शरीर को गरम रखने के लिए गरमी पैदा करनेवाली चीज, ईंधन के तौर पर, बहुत अधिक ख़र्च हो जाने से और कामो के लिए वह जरूर ही कम रह जाती है। नतीजा यह होता है कि या तो आदमी का कद छोटा हो जाता है, या शरीर की बनावट मे हीनता आ जाती है, या एकही साथ दोनों दोष पैदा हो जाते है।

३३—शरीर को गरम रखने के लिए कपड़े-लत्ते भी एक अंश में अन्न ही का काम देते हैं।

इसीसे हम कपडे-लत्ते को इतना महत्त्व देते हैं। लीबिग साहब कहते हैं—"शरीर की गरमी के ख़याल से हमारे कपड़े-लत्ते अन्न के एक अंश-विशेष का काम देते है"। अर्थात् जो काम अन्न से होता है वही काम, थोड़ी

मात्रा में, कपड़ों से भी होता है। कपड़े लत्ते से शारीरिक गरमी की कमी कम होती है। अतएव गरमी को बना रखने के लिए अन्न-रस-रूपी जो ईंधन दरकार होता है वह कम लगता है। मेदे को यदि इस ईंधन के तैयार करने का काम कम करना पड़ता है तो उसे और चीज़ें तैयार करने में विशेष सुभीता होता है। जो लोग गाय, बैल, बकरी आदि पशु पालते हैं और उनका प्रबन्ध करते हैं उनके तजरिबे से इन बातों की सत्यता अच्छी तरह साबित होती है। यदि पशुओं को सरदी खानी पड़ती है तो चरबी, पट्ठे, या बाढ़, इनमें से एक आध को हानि पहुँचे बिना नहीं रहती। मार्टन साहब की बनाई हुई कृषि-सम्बन्धी एक किताब में लिखा है कि—"जिन पशुओं को ख़ूब मोटे करना हो उन्हें सर्द जगह में रखना अच्छा नहीं। क्योंकि ऐसी जगह में रखने से या तो उनकी बाढ़ को हानि पहुँचेगी या उनके चारा पानी के लिए अधिक ख़र्च उठाना पड़ेगा"। आपरले साहब इस बात को बहुत ज़ोर देकर कहते हैं कि शिकारी घोड़ों को ख़ूब अच्छी हालत में रखने के लिए तबेले को गरम रखने की बड़ी ज़रूरत है। और, जो लोग घुड़दौड़ के घोड़े पालते हैं उनका तो ऐसे घोड़ों को सरदी से बचाना एक प्रकार का सिद्धान्त सा हो गया है।

३४—बड़े आदमियों की अपेक्षा लड़कों को गरमी पैदा करनेवाली चीज़ें दूनी खानी चाहिए।

इस प्रकार इस वैज्ञानिक सिद्धान्त के सच होने का प्रमाण नर-वंश-विद्या दे रही है। भिन्न भिन्न आदमियों की भिन्न भिन्न स्थितियों का विचार करने से इसके सच होने में सन्देह नहीं। किसान और शिकारी इसे मानते ही हैं। तो यही सिद्धान्त बच्चों के विषय में क्यों न माना जाय? उनके विषय में तो इसके अनुसार व्यवहार करने की दूनी ज़रूरत है। बच्चे जितने ही छोटे होते हैं और जितनी ही अधिक उनकी बाढ़ होती है सरदी से उन्हें उतनी ही अधिक हानि पहुँचती है। फ़्रांस में नवजात बच्चों को उनके जन्म की रजिस्टरी कराने के लिए मेअर नामक एक अधिकारी के दफ़्तर में ले जाना पड़ता है। इससे जाड़े के दिनों में अकसर बच्चे राह में ही मर जाते हैं। क्वेटिलेट साहब ने लिखा है कि—"बेलजियम में छोटे छोटे बच्चे

जितने जुलाई में मरते हैं उसके दूने जनवरी मे मरते हैं"। रूस की तो कुछ पूछिए ही नहीं। वहाँ नवजात बच्चों की मृत्यु-संख्या बहुत ही भयङ्कर है। प्रायः जवान हो जाने तक भी बाढ़ पूरी न होने के कारण शरीर खुला रखने से हानि होती है। उस समय तक भी शरीर सरदी नहीं बरदाश्त कर सकता। उदाहरणार्थ, जिन लड़ाइयों में बहुत तकलीफ़ें झेलनी पड़ती हैं उनमें जवान सिपाही कितना जल्द मरते हैं। उनसे गरमी, सरदी और भूख, प्यास कम बरदाश्त होती है। इसी से वे बहुत जल्द मर जाते हैं। हम पहले ही बयान कर चुके हैं कि बच्चो के डील डौल और उनके शरीर के बाहरी भाग के सम्बन्ध में न्यूनाधिकता होने के कारण, बड़े आदमियों के शरीर की अपेक्षा बच्चों के शरीर से अधिक गरमी निकला करती है। यहाँ पर हमें सिर्फ़ इतना ही कहना है कि इस तरह बहुत अधिक गरमी निकल जाने से बच्चो को जो हानि पहुँचती है उसे थोडी न समझना चाहिए। इस विषय मे लेमन साहब कहते हैः—"बच्चो और छोटे छोटे जानवरो के बदन से जो कारबोनिक आसिड बाहर निकलती है उसका यदि हिसाब लगाया जाय तो मालूम होगा कि बड़े आदमियों के शरीर के उतने ही वजनी भाग से जो आसिड निकलती है उसकी अपेक्षा दूनी आसिड बच्चे पैदा करते हैं। कल्पना कीजिए कि किसी बच्चे का वजन आठ सेर है। अब वयस्क आदमी के बदन का कोई उतना ही वजनी भाग लीजिए। ऐसा करने से आप देखेंगे कि उस उतने भाग से जितनी कारबोनिक आसिड निकलेगी उसकी अपेक्षा दूनी आसिड बच्चे के बदन से निकलेगी। अब देखिए कि जिस परिमाण में शरीर में गरमी पैदा होती है प्रायः उसी परिमाण में यह कारबोनिक आसिड भी शरीर से बाहर निकलती है। अतएव यह सिद्ध है कि शरीर के लिए किसी तरह की कमी या असुविधा न होने पर भी, यथेष्ट गरमी पैदा करनेवाली चीजें, लड़कों को बड़े आदमियों की अपेक्षा दूनी खानी चाहिए।

३५—बच्चों को यथेष्ट कपड़ा न पहनाने से उनकी बाढ़ या शरीर की बनावट को हानि पहुँचे बिना नहीं रहती।

अतएव छोटे बच्चों को कम कपडे पहनाना कितनी मूर्खता है। जिसकी बाढ़ पूरे तौर पर हो चुकी है, जिसके बदन से बच्चे की अपेक्षा कम शीघ्रता

से गरमी निकलती है, और दैनंदिन होनेवाली क्षीणता को पूर्ण करने के सिवा जिसे अपने शरीर को सुस्थ रखने के लिए और किसी बात की जरूरत नहीं है ऐसा कौन बाप अपने हाथ, पैर और गर्दन को खुली रख कर बाहर इधर उधर घूमना लाभदायक समझेगा? हम पूछते हैं कि क्या कोई बाप ऐसा होगा जो इस तरह अपने बदन को नंगा रख कर बाहर निकलना पसन्द करेगा? परन्तु जो काम करने से वह ख़ुद डरता है, जिसे वह ख़ुद पसन्द नहीं करता, वही काम, अपने छोटे छोटे बच्चों के शरीर में उसे सहन करने की बहुत कम शक्ति होने पर भी, वह उनसे कराता है! यदि कदाचित् वह खुद उनसे यह काम नहीं कराता तो औरों को उनसे कराते देखता है, पर मना नहीं करता। उसे याद रखना चाहिए कि एक एक पैसे भर अन्न-रस, जो शरीरमें यथेष्ट गरमी बनी रखने के लिए व्यर्थ ख़र्च होता है, उस अन्न-रस की मात्रा से घट जाता है जो बच्चों के शरीर की बाढ़ के काम आता है। और यदि बच्चे जुकाम, ख़ाँसी इत्यादि बीमारियों से बच भी गये तो भी इस विषय में माँ-बाप की बेपरवाही के कारण या तो उनकी बाढ़ में जरूर बाधा आ जाती है या उनके शरीर की बनावट में थोडी बहुत ज़रूर कमी हो जाती है।

३६—बच्चों को कपड़े-लत्ते पहनाने के विषय में डाक्टर कोम्बी की राय।

"हमारी राय मे कपड़ों के विषय में एक ही निश्चित नियम के अनुसार काम करना मुनासिब नहीं। सब हालतों में एकही नियम से काम नहीं चल सकता। बच्चों को ऐसे कपड़े पहनाने चाहिए जिसमे सरदी से—फिर चाहे वह कितनी ही थोड़ी क्यो न हो—उनकी अच्छी तरह रक्षा हो। किस तरह के और कितने कपड़े पहनाने चाहिए, इस विषय का कोई निश्चित नियम नहीं किया जा सकता। माँ-बाप को सिर्फ़ यह देखना चाहिए कि जो कपड़े हम बच्चों को पहनाते हैं वे सरदी से उनका अच्छी तरह बचाव कर सकते हैं या नहीं। बस"। यह वचन डाकृर कोम्बी का है और बड़े महत्त्व का है। इसके महत्त्व को उन्होने इसे बड़े बड़े अक्षरों मे लिख कर सूचित किया है। डाकृर कोम्बी से, इस विषय में, बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता और डाकृर

सहमत है। जो लोग इस सम्बन्ध में राय देने की योग्यता रखते हैं—जिन्हें इस सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकार है—उनमें से एक भी आदमी हमें ऐसा नहीं मिला जिसने यह न कहा हो कि बच्चों के बदन का खुला रखना बहुत बड़ी भूल है। दुनिया में सबसे बढ़ कर यदि कोई काम ऐसा है जिसमें महाहानिकारी पुरानी रीति के छोड़ने की ज़रूरत है तो वह काम बच्चों के बदन को ख़ुला रखना है।

३७—बच्चों के कपड़ों के विषय मे मूर्खता-वश फ्रांस-वालों की नक़ल की जाती है। इससे बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पड़ती हैं।

बच्चों की माताओ को अनर्थ-कारिणी रीतियों की दासी बन कर अपनी सन्तति की शरीर-प्रकृति को सख़्त हानि पहुँचाते देख सचमुच बड़ा अफ़सोस होता है। अपने पड़ोसियो को मूर्खता से भरी हुई रीतियों का प्रचार करते देख उनकी देखा देखी ख़ुद भी उनकी प्रत्येक मूर्खता का अनुकरण करने दौड़ना बहुत बुरी बात है। जो कपड़े वे पहनाते हैं वे बच्चों के लिए योग्य और यथेष्ट हैं या नहीं, इस बात का कुछ भी विचार न करके, नये नये तर्ज़ के कपड़ों की तसवीरें छापनेवाले फ़्रांस के अख़बारो को देखकर अपने बच्चो को मॉ-बाप का भड़कदार और दिखाऊ कपड़े पहनाना अजब पागलपन है। इस तरह के कपड़ों से बच्चो को थोड़ी बहुत तकलीफ़ ज़रूर होती है। वे बहुधा बीमार पड़ जाते हैं। या तो उनकी बाढ़ रुक जाती है या शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है। कभी कभी तो उनकी अकाल-मृत्यु तक हो जाती है। ये सब आपदायें झेलनी किस लिए पड़ती हैं? इस लिए कि सनक में आकर अपने मन-मौजीपन के कारण फ़्रांसवाले जिस कपडे और जिस काट और नाप के कोट बनाने लगते हैं उन्हीं की नकल करना जरूरी समझा जाता है! इस तरह फ़्रांसवालों की नकल करके मातायें अपने बच्चो को काफ़ी कपड़े न पहना कर उन्हें दण्ड देती हैं। इस दण्ड के कारण बच्चो को अनेक आपदायें भोगनी पड़ती हैं। पर माताओ को इतनेहीं से सन्तोष नहीं होता। वे अपने बच्चो के साथ कुछ और भी सलूक करती हैं। नकल करने की सनक मे आकर वे ऐसे बजे कते

के कपड़े बच्चों को पहनाती हैं कि बच्चों का बदन जकड़ सा जाता है। अतएव वे आरोग्यवर्धक खेल-कूद से वञ्चित हो जाते हैं। उनके बदन में कपड़े ऐसे कस जाते हैं कि फिर वे दौड़-धूप नहीं कर सकते। सिर्फ़ देखने में अच्छे लगने के कारण मातायें ऐसे रंगीन कपड़े पहनाती हैं जो लड़कों के प्रतिबन्धहीन खेल-कूद के तड़ाके को बरदाश्त नहीं कर सकते। फिर वे मनमाना खेल-कूद करने से बच्चो को इस लिए रोकती हैं कि कहीं कपड़े ख़राब न हो जायँ। जो बच्चा ज़मीन पर लोट रहा है, या खेल रहा है, उसे हुक्म दिया जाता है—"फ़ौरन खडे हो जाव; तुम्हारा अच्छा अच्छा साफ़ कोट मैला हो जायगा"। हवा खाने के लिए बाहर निकलने पर यदि कोई बच्चा रास्ता छोड़ कर किसी टीले पर चढ़ना चाहता है तो बच्चों की देख भाल करनेवाली दाई फ़ौरन ही चिल्ला उठती है—"अभी लौटो, तुम्हारे मोजे मैले हो जायँगे"। इससे दूनी हानि होती है। पहले तो बच्चो को सिर्फ़ इस लिए थोड़े और बुरी वज़ क़ते के कपड़े पहनाये जाते हैं जिसमें वे अपनी माँ की तरह ख़ूबसूरत मालूम हों और जो लोग अपने घर भेंट-मुलाक़ात करने आवें वे उनकी तारीफ़ करें। फिर, ज़रा से धक्के में फटने वाले इन कपड़ों को साफ़ सुथरा बना रखने और फटने न देने का हुक्म दे कर अत्यन्त स्वाभाविक और आवश्यक खेल-कूद से बच्चे रोके जाते हैं। बदन पर कपड़े काफ़ी न होने के कारण खेलने कूदने और व्यायाम करने की दूनी जरूरत होती है। पर वह इस लिए रोकी जाती है कि कहीं कपडे न ख़राब हो जायँ। क्या ही अच्छा होता यदि वे लोग, जो इस बुरी रीति को नहीं छोड़ते, इसके भयङ्कर परिणामों को समझ सकते। हमें यह कहते ज़रा भी सङ्कोच नहीं होता कि इस बाहरी दिखाव पर इतनी अविवेकपूर्ण श्रद्धा रखने के कारण हर साल हजारों आदमी अकालही में काल का कौर होकर, माँ के झूँठे आत्माभिमानरूपी दानव के निमित्त बलिदान होने से यदि बच भी जाते हैं, तो भी शारीरारोग्य बिगड़ जाने, शक्ति क्षीण होजाने और रोज़गार-धन्धे में कामयाबी न होने के कारण संसार-सुख से वे हाथ ज़रूर धो बैठते हैं। इस विषय में हम कठोर उपायों की योजना की सलाह नहीं देना चाहते; पर ये आपदायें सचमुचही इतनी गुरुतर हैं कि इन्हें दूर करने के इरादे से बापों का इस काम में हस्ताक्षेप करना मुनासिब ही नहीं, बहुत ज़रूरी भी है।

३८—कपड़ों के विषय में चार बातों का ख़याल।

अतएव यहाँ तक हमने जो प्रतिपादन किया उससे ये नतीजे निकलते हैं:—

(१) बच्चों के कपड़े कभी इतने जियादह न होने चाहिएँ कि बहुत अधिक गरमी पैदा होने के कारण उन्हें तकलीफ़ हो; पर इतने जरूर हों कि साधारण तौर पर सरदी की बाधा बच्चों को न हो* ।

(२) रुई के, सन के, या इन दोनों के मेल से बने हुए बारीक कपड़े, जैसे कि प्रायः हमेशा बच्चों को पहनाये जाते हैं, न पहना कर मोटे ऊनी कपड़े, या और उसी तरह के, पहनाने चाहिएँ जिसमें शरीर की गरमी बाहर न निकलने पावे।

(३) कपड़े ऐसे मज़बूत होने चाहिएँ कि लड़के चाहे जितना खेलें कूदें, उन्हें हानि न पहुँचे—न वे फटें, न घिसें।

(४) कपड़ों का रंग ऐसा होना चाहिए कि पहनने और खुला रहने से उड़ न जाय।

---

* यहाँ पर यह कह देने की जरूरत है कि जिन लड़कों के हाथ पैर (टाँगें और बाजू) शुरू से ही खुले रहते हैं उन्हें उनको खुले रखने की आदत पड़ जाती है। इस लिए उनको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि खुले रहने के कारण उनके हाथ पैर ठंडे हैं। अर्थात् ठंडे होने से उन्हें कोई तकलीफ होती नहीं मालूम देती। जैसे मुँह खुला रखने की आदत पड़ जाने से, घर के बाहर घूमने फिरने में भी, हमें अपना मुँह ठंडा नहीं लगता वैसेही लड़कों को भी, आदत पड़ जाने से, हाथ पैर ठंडे नहीं लगते। परन्तु, इन अवयवों के खुले रहने से लड़कों को सरदी यद्यपि नहीं सताती, तथापि इससे यह नहीं सूचित होता कि उनके शरीर को हानि नहीं पहुँचती। हानि जरूर पहुँचती है। फयगो टापू के रहनेवाले नंगे बदन सरदी में घूमा करते हैं और उनके बदन पर बर्फ गिर गिर कर पिघला करती है। उसे वे बेपरवाही से बरदाश्त करते हैं। पर क्या इससे यह नतीजा निकल सकता है कि इस तरह नंगे बदन बर्फ में घूमने से उन्हें हानि नहीं पहुँचती?

[ग्रन्थकार]

३९—लड़कों के शारीरिक व्यायाम की तरफ़ लोगों का ध्यान पहलेही जा चुका है।

शरीर-सञ्चालना को प्रायः सब आदमी थोड़ा बहुत महत्त्व पहले ही से देते हैं। व्यायाम, अर्थात् क़सरत, करने की ज़रूरत पर उनका ध्यान जा चुका है। शारीरिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं उनमे से बहुतेरी बातों की अपेक्षा इस बात के विषय में अधिक विस्तार करने की ज़रूरत नहीं है। कम से कम जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध लड़कों की शारीरिक शिक्षा से है वहाँ तक तो हमे ज़रूरही बहुत कम कहना है। सरकारी और प्रजा के, दोनों तरह के, मदरसों मे लड़कों के खेलने कूदने के लिए जगहें बना दी गई हैं। और, बाहर मैदान में दौड़ धूप के खेलों के लिए समय भी यथेष्ट दिया जाता है। इसके सिवा सब यह भी समझने लगे हैं कि इस तरह के खेल लड़कों के लिए बहुत ज़रूरी हैं। यदि और किसी विषय मे नहो तो इस विषय में तो लोगों ने इस बात को ज़रूरही कबूल कर लिया जान पड़ता है कि लड़कों को उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार काम करने देने में लाभ है। सबेरे और शाम को देर तक पाठ याद करने के बाद खुली हुई हवा मे लड़कों को इधर उधर खेलने कूदने के लिए छुट्टी देने की जो आज कल चाल है उससे मालूम होता है कि विद्यार्थियों की शारीरिक प्रवृत्तियों को ध्यान मे रख कर उनके अनुसार मदरसे के नियम निश्चित करने की रीति ज़ोर पकड़ती जाती है। अतएव इस विषय में लोगों को झाड़ फटकार बतलाने या सूचना देने की कोई वैसी ज़रूरत हमें नहीं मालूम होती।

४०—लड़कियों के लिए आरोग्यवर्धक व्यायाम का अभाव।

पूर्वोक्त बातें स्वीकार करने में हमें—"जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध लडको की शारीरिक शिक्षा से है"—यह वाक्य लाचार होकर लिखना पड़ा है। अभाग्यवश, इस सम्बन्ध मे लड़कियों की स्थिति बिलकुल ही उलटी है। जो लड़कियाँ मदरसे में पढ़ती हैं उनकी शारीरिक-व्यायाम-सम्बन्धिनी स्थिति लड़कों की स्थिति से बिलकुल ही भिन्न है। इस बात का विचार करके कुछ

न कुछ आश्चर्य्य जरूर होता है कि हमें लड़कों और लड़कियों की स्थिति का मुकाबला करने का रोज मौका मिलता है। एक लड़कों का मदरसा और एक लड़कियों का दोनों रोज हमारी नजर के सामने आते हैं। इन दोनो की स्थिति एकसी नहीं। इनमें जो भेद है वह याद रखने लायक है। वह देखते ही ध्यान में आ जाता है। लड़को के मदरसे के हाते में जो एक बड़ा बाग़ है उसका प्रायः सभी हिस्सा खुला मैदान बना दिया गया है और उस पर रेती और मुरुम कूट दिया गया है। अतएव लड़कों के खेल-कूद के लिए उसमे काफ़ी जगह है। वहाँ कसरत के लिए मलखम है, बल्लियाँ हैं और इनके सिवा और भी सब तरह का सामान है। हर रोज़, सवेरे खाना खाने के पहले, फिर ग्यारह बजे, फिर दोपहर को, फिर तीसरे पहर, और फिर मदरसा बन्द होने के बाद एक बार शाम को खेलने-कूदने के लिए, लड़कों के बाहर निकलने पर, उनके एक साथ ज़ोर ज़ोर से हँसने और शोर करने से आस पास चारों तरफ़ हाहाकार मच जाता है; और जब तक वे बाहर उस मैदान मे रहते हैं तब तक हमारे कान और हमारी आँखें इस बात की गवाही देती रहती हैं कि लड़के उन आनन्ददायक खेलों में मग्न हो रहे हैं जिनमें लीन होने से आनन्दातिरेक के कारण उनकी नाड़ी बड़े वेग से चलने लगती है और शरीर का प्रत्येक अवयव उछल-कूद से उत्तेजित होकर आरोग्यवर्धक चञ्चलता दिखाता है। परन्तु तरुण लड़कियों की शिक्षा के लिए जो प्रबन्ध किया गया है उसका चित्र, देखिए, कितना भिन्न है! जब तक हमसे लड़कियों के मदरसे का पता नहीं बतलाया गया तब तक हमें यही न मालूम था कि लड़कियों का मदरसा हमारे घर के उतना ही पास है जितना कि लड़कों का मदरसा है। इस मदरसे में भी उतना ही बड़ा बाग़ है जितना कि लड़कों के मदरसे में है। परन्तु इस बाग़ में लड़कियों के खेल-कूद के सामान का कहीं नाम तक नहीं। परन्तु, हाँ हरी हरी घास की कियारियों, मुरुम कुटी हुई रविशों, और अनेक तरह की बेल-बूटियों और फूलों से वह ख़ूब सजा हुआ है। शहरों के बाहर जैसे बाग़ हुआ करते है वह भी बिलकुल वैसा ही है। पाँच महीने तक हम बराबर इस मदरसे के पास रहे। परन्तु किसी के हँसने, बोलने या गुलग़पाड़े को सुन कर एक दफ़े भी हमारा ध्यान उस तरफ़ नहीं खिँचा। कभी कभी लड़कियाँ पढ़ने की किताबें हाथ में लिए रविशो पर घूमती हुईं, या एक

दूसरी के हाथ में हाथ डाले हुए सिर्फ़ इधर उधर फिरती हुई देख पड़ती थीं। हाँ एक दफ़े एक लड़की को दूसरी लड़की के पीछे बाग़ के चारों तरफ़ दौड़ते हुए हमने ज़रूर देखा था। परन्तु इस एक उदाहरण के सिवा और किसी तरह का शक्तिवर्धक खेल या कसरत हमारे देखने में नहीं आई।

४१—कृत्रिम उपायों से स्त्रियों को अशक्त, सुकुमार और डरपोक बनाना बहुत बुरा है।

इतना आश्चर्यजनक फ़रक क्यों? क्या लड़कियों की शरीर-रचना लड़कों की शरीर-रचना से इतनी भिन्न है कि लड़कियों के लिए उछल-कूद की कसरत की ज़रूरत ही नहीं है? क्या गुल-गपाड़े के खेल खेलने के लिए लड़कों की तरह लड़कियों का जी ही नहीं चाहता? अथवा क्या यह बात है कि लड़कों में तो खेलने-कूदने की प्रवृत्ति, शरीर की बाढ़ पूरी होने के लिए उत्तेजनादायक समझी जाती है, परन्तु उनकी बहनों के विषय में ख़याल किया जाता है कि प्रकृति या परमेश्वर ने उन्हें इस तरह की प्रवृत्ति पाठशाला की अध्यापिकाओं को तंग करने के सिवा और किसी मतलब से दी ही नहीं? परन्तु, सम्भव है, लड़कियों को शिक्षा देनेवालों का मतलब समझने मे हम भूलते हों। हमें कुछ कुछ ऐसी शङ्का होती है कि लड़कियों का शरीर दृढ़ होने की ज़रूरत ही नहीं समझी जाती। स्वभाव में कड़ापन और शरीर मे विशेष शक्ति का होना लोग शायद गँवारपन समझते हैं। एक प्रकार की नज़ाकत, अर्थात् सुकुमारता, एक हो दो मील पैदल चल सकने की शक्ति, थोड़े ही मे क्षुधा की शान्ति, और कमज़ोरी का साथी डरपोकपन—ये बातें स्त्रियों के लिए भूषण समझी जाती हैं। हमें यद्यपि यह आशा नहीं कि इन बातों को साफ़ साफ़ सबके सामने कहनेवाले कोई मिलेंगे; पर हमारी समझ में लड़कियों को अपनी देख भाल में रखनेवाली स्त्रियों और अध्यापिकाओं के मन में बहुत करके यही आता होगा कि ऐसी युवतियाँ पैदा हों जो पूर्वोक्त नमूने से बहुत कुछ मिलती जुलती हों। यदि हमारा यह ख़याल सच हो तो यह बात ज़रूर मान लेनी पड़ेगी कि पूर्वोक्त नमूने की स्त्रियाँ बनाने के लिए लड़कियों की शिक्षा का जैसा ठान ठना

गया है—जैसी शिक्षा-पद्धति जारी की गई है—बहुत ही योग्य है। इस पद्धति के प्रसाद से जरूर उस तरह की स्त्रियाँ मदरसों की टकसाल में ढल कर बाहर निकलेंगी। परन्तु यह ख़याल करना कि उत्तम स्त्रियों का यही नमूना है बहुत बड़ी भूल है। इस नमूने की स्त्रियों को सर्वोत्तम स्त्रियाँ समझना सख़्त ग़लती है। यह बात निःसन्देह सच है कि मर्दानी शकल-सूरत और स्वभाव की स्त्रियों की तरफ पुरुषों का चित्त बहुत करके आकृष्ट नहीं होता। हम इस बात को भी मानते है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियो में कम शक्ति होने ही से वे अपनी रक्षा के लिए अधिक शक्तिमान् पुरुषों पर अवलम्बित रहती है। अतएव स्त्रियो की यह अशक्तता ही उनके मनोहर होने का कारण है। स्त्रियों के अशक्त होने ही के कारण पुरुषों का चित्त उनकी तरफ़ इतना आकृष्ट होता है। परन्तु स्त्री-पुरुषो मे शक्ति-सम्बन्धी जो यह फ़रक़ है, और जिसका होना पुरुष अच्छा समझते है, जन्म ही से होता है। वह आपही आप उत्पन्न होता है। परमेश्वर पहलेही से उसकी योजना कर देता है। अतएव कृत्रिम रीति से उसे उत्पन्न करने या बना रखने की कोशिश व्यर्थ है। इस तरह कृत्रिम उपायों से स्त्रियों में इस फ़रक की मात्रा यदि मनुष्य बढ़ाते जायँगे तो धीरे धीरे स्त्रियों की सारी मनोहरता नष्ट हो जायगी और उन्हें देख कर उलटी घृणा मालूम होगी।

४२—लड़कों की तरह लड़कियों को उछल-कूद के खेल खेलने देने से लड़कियों के बड़ी होने पर उनकी शालीनता में बाधा नहीं आ सकती।

यह सुन कर औचित्य के पक्षपातियों में से कोई शायद यह कहने दौड़ेगा कि—' तो क्या जहाँ चाहे वहाँ लड़कियों को घूमने फिरने देना चाहिए? क्या उन्हें लड़कों की तरह शरारत करने और ख़ूब ढीठ और चञ्चल होने देना चाहिए?" हम समझते हैं कि मदरसे की अध्यापिकाओं को हमेशा यही खटका लगा रहता है। दरियाफ़्त करने से हमें मालूम हुआ है कि बड़ी लड़कियों के मदरसों में धूम-धाम और गुल-गपाड़े के खेल जो लड़के रोज खेला करते हैं, खेलने की मनाई है। ऐसे खेल यदि लड़कियाँ खेलें तो उन्हें सजा मिले। इस मनाई का हम यह अर्थ करते है कि

इस तरह के खेल से लोग समझते हैं कि लड़कियों की आदत ख़राब हो जाने का डर है। अर्थात् उनकी समझ में ऐसे ऐसे खेल स्त्रियों को शोभा नहीं देते। इससे लोगों को यह खटका रहता है कि इस तरह के खेलों के कारण लड़कियों की आदत कहीं ऐसी न हो जाय जो भले घर की स्त्रियों की शान के ख़िलाफ़ हो। परन्तु इस तरह के डर का कोई अर्थ नहीं। वह व्यर्थ है। क्योंकि इस तरह के खेल खेलने पर भी, बड़े होने पर, लड़के भलमनसी के ख़िलाफ़ कोई काम नहीं करते। इसके कारण उनकी शिष्टता को ज़रा भी धक्का नहीं पहुँचता। तब इस तरह के खेल यदि लड़कियाँ खेलें तो भलेमानसों के घर की स्त्रियों की शान के ख़िलाफ़ उनकी आदतें हो जाने का क्यों डर होना चाहिए? लड़कपन में खेल के मैदान में लड़कों ने चाहे जितने धूम-धाम और अक्खड़पन के खेल खेले हों; परन्तु मदरसा छोड़ने पर, गलियों मे एक दूसरे के कन्धों पर हाथ रख कर मेंढकों की तरह उछलते या बैठक के कमरे मे गोलियाँ खेलते भी क्या किसी ने कभी उन्हें देखा है? मदरसा छोड़ते समय जब लड़के लड़कपन की पोशाक छोड़ देते हैं तभी वे लड़कपन के खेल कूद को भी तिलाञ्जलि दे देते है; और जो काम वयस्क आदमियों के अनुरूप नहीं, उनसे बचने की वे हृदय से इच्छा भी रखते हैं। इसे इच्छा नहीं, किन्तु उद्वेग कहना चाहिए। किसी किसी का उद्वेग तो इतना बढ़ जाता है कि वह कहाँ से कहाँ जा पहुँचता है। अतएव बड़े होने पर, पुरुषत्व की मर्य्यादा रक्षित रखने का ख़याल यदि लड़कपन के खेलों से युवकों को बचाता है, तो क्या स्त्रीत्व की मर्य्यादा रक्षित रखने, अर्थात् अपनी स्वाभाविक लज्जा के ख़िलाफ़ कोई काम न करने, का ख़याल, जो वयोवृद्धि के साथ साथ बढता है, लड़कियों को उनके लड़कपन के खेलों से न बचावेगा? लोकाचार का ख़याल क्या पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक नहीं होता? कौन बात देखने में अच्छी लगती है कौन बुरी, इस विषय मे क्या स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक ध्यान नहीं देतीं? इस कारण भद्दे और उच्छृङ्खलता के कामों को रोकनेवाले ख़याल क्या उनके मन मे और भी अधिक प्रबलता के साथ न पैदा होंगे? यह समझना कि मदरसे की अध्यापिकाओं के दबाव के बिना—उनकी ख़ूब कड़ी नज़र के बिना—स्त्रियों की स्वाभाविक शालीनता का विकास ही न होगा, कितना बड़ा पागलपन है!

४ ३—"जिमनास्टिक" की अपेक्षा स्वाभाविक खेल-कूद से बहुत अधिक लाभ होता है।

और विषयों की तरह इस विषय में भी एक प्रकार के कृत्रिम उपायों से होनेवाली हानियों से बचने के लिए दूसरे प्रकार के कृत्रिम उपायों की योजना की गई है। खेल-कूद और दौड़-धूप आदि ऐसे व्यायाम हैं—ऐसी कसरतें हैं—कि उनके करने की इच्छा स्वभाव ही से बच्चों के मन म पैदा होती है। ऐसी स्वाभाविक कसरत को बन्द कर देने से जब लोगों की नजर में बुरे परिणाम आने लगे तब उन्होंने एक और अस्वाभाविक उपाय की योजना की। स्वाभाविक कसरत को तो उन्होंने बन्द कर दिया और अस्वाभाविक कसरत, अर्थात् "जिमनास्टिक", शुरू करादी। लड़कों से नटों की तरह लोग कसरत कराने लगे। बिलकुल ही कसरत न करने की अपेक्षा 'जिमनास्टिक" की कसरत अच्छी है। इस बात को हम मानते हैं। परन्तु इस बात को हम नहीं मानते कि उससे उतनाहीं लाभ होता है जितना कि खेल-कूद से। "जिमनाटिस्क" में पहले तो कितनेहीं प्रत्यक्ष दोष हैं। फिर उसमें कितनी हीं ऐसी लाभदायक बातें नहीं हे जिन्हें होना चाहिए। लड़कपन के खेल-कूद में लडकों के शरीर के प्रत्येक स्नायु और पुट्ठे को गति प्राप्त होती है। दौड़ने-धूपने में शरीर का कोई अवयव ऐसा नहीं जो हिलता डुलता न हो—जिसे कसरत न पडती हो। परन्तु "जिमनास्टिक" में शरीर के सब अवयवो को अनेक प्रकार की गतियाँ नहीं प्राप्त होतीं। उसकी कसरत नियमित होती है। शरीर के कुछ ही स्नायु हिलते डुलते हैं। सब अवयवों को बराबर एकसी कसरत नहीं पडती। अतएव शरीर के कुछ ही विशेष भागो को अधिक परिश्रम पड़ने के कारण लड़के बहुत जल्द थक जाते हैं। यदि सब भागों को कसरत पडती तो परिश्रम सारे शरीर में बँट जाता और थकावट भी इतना जल्द न मालूम होती। इसके सिवा "जिमनास्टिक" में एक दोष यह भी है कि शरीर के विशेष विशेष भागोंहीं पर बहुत दिनों तक परिश्रम का बोझ पडने से शरीर के सब भागो की बाढ बराबर नहीं होती। फिर, सारे शरीर को बराबर एक सा परिश्रम न पड़ने हीं के कारण व्यायाम की मात्रा—उसकी मेकदार—कम नहीं होती; किन्तु

"जिमनास्टिक" की कसरत में लड़कों का जी न लगने के कारण भी उसके परिमाण में कमी हो जाती है। यदि सारे शरीर को श्रम पड़े तो कसरत भी अधिक हो। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे एक तो इस कारण से कसरत कम होती है, दूसरे जी न लगने से। अतः दो तरह से वह कम हो जाती है। "जिमनास्टिक" की कसरत लड़कों को उसी तरह सिखलाई जाती है जिस तरह मदरसे में उन्हें पाठ्य पुस्तकें पढाई जाती हैं। अर्थात् कसरत के भी उन्हें नियमित पाठ सीखने पड़ते है। इससे लड़कों का मनोरञ्जन नहीं होता और बहुधा वे इस तरह की कसरत से घृणा करने लगते हैं। परन्तु यदि ऐसी कसरत घृणोत्पादक या त्रासदायक न भी हो तो भी, मनोरञ्जन न होने के कारण, बार बार नियमित रीतियों से ही शरीर को तोड़ते मरोड़ते रहने से उनका जी ज़रूर ऊब उठता है। यह सच है कि परस्पर चढ़ा ऊपरी करने से शरीर के अवयवो में एक प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् एक-अङ्ग दूसरे अङ्ग की अपेक्षा अधिक सशक्त और श्रम-सहिष्णु हो जाने का हौसला दिखाता है। परन्तु अनेक प्रकार के खेल खेलने से जो आनन्द मिलता है उसकी अपेक्षा यह हौसला—यह उत्साह—कम देर तक ठहरता है। वह चिरस्थायी नहीं होता। इस सम्बन्ध मे सबसे बड़ा आक्षेप—सबसे भारी एतराज—अभी बाक़ी ही है। "जिमनास्टिक" से जो सबसे बड़ी हानि होती है वह अभी तक हमने बतलाई ही नहीं। इस प्रकार की कसरत से शरीर के स्नायु और पट्ठों को जो श्रम पड़ता है वह कम तो होता ही है; किन्तु दरजे मे भी वह बहुत हीन होता है। अर्थात् खेल-कूद के स्वाभाविक श्रम के मुक़ाबले में वह परिमाण मे भी कम होता है और दरजे में भी कम होता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि "जिमनास्टिक' की कसरत मे लड़कों का तादृश जी नहीं लगता। इससे वे बहुत जल्द उसे छोड़ देते हैं। इस जी न लगने—इस मनोरञ्जन न होने—से एक यह भी हानि होती है कि इस कसरत का बहुत कम असर शरीर पर पड़ता है। लोग अक्सर यह समझते हैं कि जब तक शरीर को बराबर एक सा श्रम पड़ता है तब तक इस बात के विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि लड़कों को उससे आनन्द मिलता है या नहीं—उनका मनोरञ्जन होता है या नहीं। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। अनुकूल मानसिक उत्साहों का बहुत बड़ा असर पड़ता है। किसी काम के करने मे जी लगने

पर जो उत्साह उत्पन्न होता है उसके असर में बहुत बड़ी शक्ति होती है। देखिए, कोई अच्छी ख़बर मिलने या किसी पुराने मित्र की मुलाक़ात होने से बीमार आदमी पर कितना असर पड़ता है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि समझदार डाक्टर विशेष अशक्त रोगियों को आनन्दवृत्ति और हँसमुख आदमियों के पास बैठने उठने की कितनी सिफ़ारिश करते हैं। विचार कीजिए कि दृश्यों में फेर-फार करने—जगह बदल देने—से जो आनन्द होता है वह आरोग्य के लिए कितना लाभदायक है। सच तो यह है कि आनन्द की प्राप्ति एक प्रकार की अत्यन्त लाभदायक पौष्टिक ओषधि है। चित्तवृत्ति आनन्दित होने से रुधिर का अभिसरण—उसका दौरान—जल्दी जल्दी होने लगता है। इससे सारे जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलते हैं; और यदि मनुष्य के स्वास्थ्य में कोई बाधा न आई हो तो वह और भी अच्छा हो जाता है, और यदि कोई बाधा आ गई हो तो वह दूर हो जाती है। इसीसे "जिमनास्टिक" की अपेक्षा स्वाभाविक खेल-कूद की महिमा इतनी अधिक है। खेलने-कूदने में लड़कों का बेहद जी लगता है—उससे उनका अत्यधिक मनोरञ्जन होता है। दौड़ने-धूपने और अक्खड़पन के खेल वे बड़े ही आनन्द से खेलते हैं। इस मनोरञ्जन और आनन्द का महत्त्व खेलने-कूदने से होनेवाली कसरत के महत्त्व से किसी तरह कम नहीं। दोनों से बराबर एकसा लाभ होता है। परन्तु "जिमनास्टिक" में न तो लड़कों का मनही लगता है और न उससे उन्हें आनन्दही मिलता है। अतएव उसकी बुनियाद ही बुरी है—उसकी जड़ही दोषपूर्ण है।

४४—खेल-कूद की बराबरी "जिमनास्टिक" नहीं कर सकती। खेल-कूद को रोकना मानो शरीर-वृद्धि के लिए ईश्वरदत्त साधनों को रोकना है।

अतएव यदि यह बात मान ली जाय, जैसा कि हम मानते लेते हैं, कि "जिमनास्टिक" से शरीर के अवयवों को जो एक प्रकार की नियमित कसरत पड़ती है वह बिलकुलही कसरत न करने की अपेक्षा अच्छी है—और यदि यह बात भी मान ली जाय कि और और कसरतों के साथ "जिमनास्टिक" की कसरत से और कुछ न सही तो थोड़ी बहुत सहायता मिलने से विशेष लाभ

होने की ज़रूर सम्भावना रहती है; तथापि हम इस वात को नहीं मानते कि जिन कसरतों को—जिन परिश्रम के कामों को—स्वभावही से करने को जी चाहता है उनकी वरावरी ये कृत्रिम कसरतें कर सकती हैं। खेल-कूद के जिन कामों की तरफ़ लड़कों और लड़कियों की स्वभावही से प्रवृत्ति होती है वे शरीर को आरोग्य रखने के लिए वहुत ज़रूरी हैं। जो आदमी उनको रोकता है वह मानो उन साधनों को रोकता है जिन्हें शरीर की वाढ़ के लिए परमेश्वर ने निर्दिष्ट किया है।

४५—हम लोग अपने पूर्वजों की अपेक्षा कम शक्ति रखते हैं और हमारी सन्तति में हमसे भी अधिक अशक्त होने के लक्षण देख पड़ते हैं।

अभी एक और विषय पर विचार करना वाक़ी है। वह विषय ऐसा है कि जिन विषयों का यहाँ तक ज़िक्र हुआ उनमे शायद वह सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वहुत आदमी यह कहा करते हैं कि पढ़े लिखे लोगो में वयस्क या प्रायः वयस्क नव-युवक अपनी पहली पीढ़ी के नव-युवकों की अपेक्षा कम मज़वूत होते हैं और वाढ़ भी उनकी पूर्व पीढ़ी के युवकों की ऐसी अच्छी नहीं होती। पहले पहल जव हमने लोगों को यह कहते सुना तव हमें यह ख़याल हुआ कि सारी पुरानी वातों को अच्छा और नई वातों को वुरा कहने की जो पूर्वापर चाल चली आती है वही इस तरह के एक-पक्षीय मत का कारण होगी। क्योंकि पुराने ज़िरहो अर्थात् झिलम-कवचों को नापने से मालूम होता है कि उस समय के आदमियों की अपेक्षा आज कल के आदमी डील डौल में वड़े होते हैं*। इसके सिवा मृत्युसंख्या का हिसाव देखने से यह भी मालूम होता है कि पहले की अपेक्षा आज कल लोगों की उम्र कम नहीं, किन्तु कुछ अधिक ही होती है। इन सव वातों का विचार करके हमे लोगो की पूर्वोक्त राय ठीक नहीं मालूम हुई। अतएव हमने उसकी तरफ़ विशेष ध्यान नहीं दिया। परन्तु इस विषय के प्रत्येक

* हिन्दुस्तान के विषय मे स्पेन्सर का यह ख़याल ठीक नहीं मालूम होता।
अनुवादक

अंश का जब हमने अच्छी तरह बारीक तौर से विचार किया तब हमें अपनी राय बदलने की जरूरत पड़ी। लोगों की पूर्वोक्त बात को पहले हम ने अन्ध-विश्वास के आधार पर स्थित समझा था। परन्तु ख़ूब विचार करने पर हमें अपना यह खयाल ग़लत मालूम होने लगा। मेहनत मजदूरी करनेवाले आदमियों को छोड़ कर और लोगों में हमने बहुत से उदाहरण ऐसे देखे हैं जिनमें लड़के अपने माँ-बाप की बराबर क़द में ऊँचे नहीं होते और उम्र की न्यूनाधिकता को हिसाब में ले कर देखने से हमें यह भी मालूम हुआ है कि अपने माँ-बाप की अपेक्षा आज कल के लड़कों का आकार भी छोटा ही होता है। डाक्टर लोग कहते हैं कि आज कल के आदमी पुराने आदमियों के बराबर फ़सद नहीं ले सकते। जितना ख़ून पुराने आदमी फ़सद खुला कर निकलवा सकते थे उतना ख़ून निकलना आज कल के लोग नहीं बरदाश्त कर सकते। असमय में ही खल्वाट हो जाना—बुड्ढे होने के पहले ही सिर के बालों का गिर जाना—पहले की अपेक्षा अब अधिक देखा जाता है। आज कल इतनी थोड़ी उम्र में लोगों के दाँत गिर जाते हैं कि उस का ख़याल करके आश्चर्य्य होता है। साधारण शक्ति का मुक़ाबला करने से भी वैसा ही आश्चर्य्य-जनक अन्तर देख पड़ता है। पुराने ज़माने के आदमी आज कल के आदमियों की तरह मिताहारी न थे। वे मन मौजी थे। जो कुछ जी चाहता था खाते थे और जहाँ कहीं जी चाहता था जाते थे। मिथ्या-हार-विहार की उन्हें कुछ भी परवा न थी। तथापि वे अधिक मेहनत कर सकते थे। मेहनत के काम कर सकने की उनमें अधिक शक्ति थी। एक पीढ़ी पहले के हमारे पूर्वज ख़ूब नशा करते थे, समय के बिलकुल पाबन्द न थे; स्वच्छ हवा की भी उन्हें कोई परवा न थी, सफ़ाई का भी उन्हें बहुत कम ख़याल था, तथापि बुड्ढे होने तक, बिना बीमार पड़े या आरोग्य को और किसी तरह की हानि पहुँचाये, देर तक मेहनत कर सकते थे। उदाहरण के तौर पर जजों और विकालत का पेशा करनेवालों ही की दिन-चर्य्या का विचार करने से हमारे इस कथन की सत्यता सिद्ध हो जायगी। हम लोगों को ज़रा देखिए तो सही। हम अपनी शरीर-रक्षा की हमेशा फ़िक्र में रहते हैं खाना-पीना भी अपना परिमित रखते हैं, बहुत अधिक नशा-पानी भी नहीं करते साफ़ हवा का भी हमेशा ख़याल रखते हैं; नहाते धोते भी अधिक हैं; हर साल सैर-सपाटे के लिए बाहर भी जाया

करते हैं; और वैद्य-विद्या के विशेष प्रचार से दवा-पानी का सुभीता भी हमें अधिक है—तथापि प्रति दिन हम काम के बोझ से बराबर कुचले जा रहे हैं। हमारे पिता और पितामह आदि पूर्वज स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों को, कितने ही विषयों में, तोड़ते थे। परन्तु, उन नियमों की यद्यपि हम बहुत अधिक परवा नहीं करते हैं, तथापि अपने पूर्वजों की अपेक्षा हम कमज़ोर मालूम होते हैं। और, आगामी पीढ़ी के युवकों की शकल सूरत और उनके बार बार बीमार पड़ने से यही मालूम होता है कि वे हम लोगों की अपेक्षा अधिक कमज़ोर निकलेंगे।

४६—शरीर-सम्बन्धी दोषों के कारणों में से मानसिक श्रम की अधिकता प्रधान कारण है।

इसका अर्थ क्या है? ऐसा क्यों होता है? हम कह चुके हैं कि आज कल बच्चों को ख़ूब पेट भर खिलाने की तरफ़ लोगों का कम ध्यान है। परन्तु, पुराने ज़माने में, बड़े भी और लड़के भी, दोनों, ख़ूब डट कर खाते थे। तो क्या इससे यह समझना चाहिए कि पहले का आकण्ठ-भोजन आज कल के परिमित भोजन की अपेक्षा कम हानिकारक था? अथवा क्या यह समझना चाहिए कि कम कपड़े-लत्ते पहना कर लड़कों को ख़ूब मजबूत बनाने का जो भ्रमपूर्ण सिद्धान्त लोगों ने निश्चित किया है वह इसका कारण है? अथवा क्या यह, झूठी शिष्टता और सफ़ाई सुथराई के ख़याल से लड़कपन के खेल-कूद को कुछ न कुछ रोक देने का फल है? जो कारण हमने बतलाये हैं—जो दलीलें हमने पेश की हैं—उनसे तो यही नतीजा निकलता है कि इन बातों में से कुछ न कुछ प्रत्येक बात इन अनर्थों का कारण है *। परन्तु एक और भी हानिकारी कारण अपना काम कर रहा है। यह कारण औरों से अधिक बलवान् है। इससे हमारा मतलब मानसिक श्रम की अधिकता से है।

* टीका लगाने से शारीरिक रोग कुछ दिनों के लिए दब जाते हैं, परन्तु इस तरह दबे हुए रोग फिर किसी न किसी समय ज़रूर पैदा हो जाते हैं। हमें इस बात का निश्चय तो नहीं है पर बहुत सम्भव है इन अनर्थों का थोड़ा बहुत कारण यही हो। रोगनिदान-विद्या की कुछ बातों का विचार करने से इस तरह का नतीजा निकलता

४७—बहुत अधिक मेहनत करने से पिता की शरीर-प्रकृति बिगड़ जाती है। इससे उसकी सन्तति भी अशक्त होती है।

आज कल के उद्योग-धन्धे ऐसे है कि उनका बोझ दिन दिन बढ़ता जाता है और उनके कारण तरुण और बूढ़े सबको खींचा खींच में फँसना पड़ता है। जितने रोजगार हैं—जितने पेशे है—सबमें चढ़ा उपरी की मात्रा बढ़ती ही जाती है। अतएव हर एक वयस्क आदमी की मानसिक शक्तियों पर पहले की अपेक्षा अब बहुत अधिक दबाव पड़ता है। इस तरह की विकट चढ़ा ऊपरी के ज़माने में अपने उद्योग-धन्धे को हानि से बचाने—हर एक बात में औरों के मुकाबले में हार न खाने—के लिए नवयुवकों को शिक्षा देने मे उनके साथ अब अधिक सख़्ती की जाती है। इससे उन्हें दोहरी हानि उठानी पड़ती है। पिता को अनेक चढ़ा ऊपरी करनेवालों का मुक़ाबला

जरूर है। जब किसी बच्चे के टीका लगाया जाता है तब टीके की जगह पड़े हुए आबलो से विषाक्त मवाद बाहर निकलता है। इस मवाद के साथ शरीर के भीतर जमा हुआ और भी रोगजनक मवाद निकलना चाहता है। इस तरह का रोगजनक मवाद यदि त्वचा या रोमकूपों के मुँह से निकलने लायक होता है तो वह और भी टीके के मवाद के साथ निकलना चाहता है। और, बहुत ही उपद्रवकारी मवाद कुछ ऐसे है भी जो त्वचा के रास्ते निकल सकते है। किसी किसी बच्चे के शरीर में इस तरह का विषाक्त विकार इतना कम होता है कि वह बीमारी के रूप मे प्रकट नहीं हो सकता। अतएव टीका लगानेवालो या और लोगो को उसके होने का ज्ञान ही नहीं होता। इस दशा मे ऐसे बच्चों के शरीर से लिये गये टीके के 'लिंफ' के साथ वह रोगमूलक विषाक्त विकार और बच्चो के शरीर में भी प्रवेश पा सकता है और उनके 'लिंफ' मे दूसरा के शरीर में भी पहुँच सकता है। इस तरह एक बच्चे का विकार अनेकों को रोगी कर सकता है।

अन्यकार।

करने में बेहद तंग होना पड़ता है। इस तरह की आपदायें भोग करते हुए भी उसे अच्छी तरह खाने पीने और रहने के लिए पहले से अधिक ख़र्च करना पड़ता है। अतएव उस बेचारे को साल भर सुबह शाम, अबेर-सबेर, सारा दिन काम ही करते बीतता है। घूमने, फिरने और व्यायाम करने के लिए उसे बहुत ही कम समय मिलता है। छुट्टियाँ भी उसे थोड़ी ही मिलती हैं। इस तरह शक्ति के बाहर बराबर काम करते रहने से उसके शरीर मे घुन लग जाता है। अतएव उसकी सन्तति भी वैसी ही अशक्त होती है। यह सन्तति, अशक्त होने के कारण, परिश्रम के साधारण कामों से ही थक जाने को पहले ही से तैयार रहती है। तिस पर भी, गत पीढ़ियों के सुदृढ और सशक्त बच्चो के लिए नियत की गई शिक्षा-पद्धति से भी चार अंगुल अधिक लम्बी चौड़ी शिक्षा-पद्धति का उससे अभ्यास कराया जाता है।

४८—शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने से हानियाँ।

इस दुरवस्था के परिणाम बहुत भयङ्कर होते हैं और वे ऐसे नहीं कि छिपे हों। सब कहीं वे देख पड़ते हैं। आप जहाँ चाहिए जाइए। थोड़ी ही देर में आपको छोटे बड़े, सब तरह के, लड़के लड़कियाँ देख पड़ेंगी, जिनकी शरीर-प्रकृति अधिक विद्याभ्यास के कारण थोड़ी बहुत ज़रूर बिगड़ी होगी। शक्ति से बाहर अभ्यास करने से पैदा हुई अशक्तता को दूर करने के लिए कही कोई लड़का आपको ऐसा मिलेगा जिसका पढ़ना एक वर्ष के लिए बन्द कर दिया गया है। कहीं कोई लड़का ऐसा देख पड़ेगा जिसका दिमाग बिगड़ गया है—जिसके दिमाग़ में ख़ून जमा हो गया है। इस रोग से वह कई महीने से पीड़ित है और जल्द अच्छे होने के अभी कोई लक्षण भी नहीं हैं। कहीं आप सुनेंगे कि किसी कारण से मदरसे मे चित्त को बहुत अधिक उत्ताप पहुँचने से किसी लड़के को बुख़ार आ रहा है। कहीं आपको इस तरह का उदाहरण मिलेगा कि एक दफ़े अमुक लड़के को कुछ समय के लिए पढ़ना बन्द करना पड़ा; परन्तु दुबारा मदरसे में भरती होने पर अब उसकी यह दशा है कि मूर्च्छा आ जाने के कारण बार बार उसे दरजे से उठा लाना पड़ता है। ये घटनायें सब सच्ची हैं—बनावटी नहीं। इनको हमें ढूँढ़ना नहीं पड़ा। किन्तु गत दो वर्षों में ये घटनायें आपही आप हमारे देखने मे आई हैं। और, ये बहुत दूर की भी नहीं हैं; पास ही की हैं। यह

भी न समझिए कि यह सूची इतनी ही है। नहीं, अभी और भी कितनीहीं घटनायें इसमें दर्ज हैं। अभी थोड़े ही दिन की बात है जब हमें इस बात के देखने का मौक़ा मिला कि ये अनर्थकारी आपदायें किस तरह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक वंशपरम्परा से चली जाती हैं। एक स्त्री थी। उसके माँ-बाप ख़ूब सशक्त और नीरोग थे। वह स्काटलेंड के एक मदरसे में पढ़ने के लिए भेजी गई। उस मदरसे के विद्यार्थियों के लिए एक बोर्डिङ्ग-हाउस (छात्रावास) भी था। वहां उससे काम तो बहुत अधिक लिया जाता था, पर खाने को उसे कम दिया जाता था। इस कारण उसकी शरीर-प्रकृति इतनी बिगड़ गई—उसका स्वास्थ्य यहाँ तक ख़राब हो गया—कि सवेरे बिछौने से उठने पर उसे चक्कर आता है; उसका सिर घूमने लगता है। इसका यह नतीजा हुआ कि उसके लड़कों को भी यही बीमारी हो गई। उनका भी दिमाग कमजोर हो गया। अब उसके कई एक लड़कों की यह दशा है कि पढ़ने लिखने में साधारण श्रम करने से भी या तो उनका सिर दर्द करने लगता है या उन्हें चक्कर आने लगता है। आज कल हम एक ऐसी तरुण स्त्री को रोज देखते हैं जिसकी शरीर प्रकृति, कालेज में अपना विद्याभ्यास पूर्ण करने की बदौलत, जन्म भर के लिए बिगड़ गई है। उसे कालेज में इतनी मेहनत करनी पड़ती थी—उसे विद्याभ्यास का इतना बोझ उठाना पड़ता था—कि घूमने फिरने या और किसी तरह का व्यायाम करने की उसमें शक्ति ही न रह जाती थी। अब उसका विद्याभ्यास पूरा होचुका है। परन्तु एक न एक बात की शिकायत उसे बनी ही रहती है। उसे अच्छी तरह भूख ही नहीं लगती और जितनी लगती है वह भी समय पर नहीं लगती। मांस वह बहुधा बिलकुलही नहीं खाती। गरमी के मौसिम में भी उसके हाथ-पैर की उँगलियाँ ठंडी रहती हैं। कमज़ोर वह इतनी हो गई है कि बहुत ही धीरे धीरे चल सकती है। ज़रा भी जल्दी चलने की शक्ति उसमें नहीं। फिर, जो कुछ वह चल सकती है सो भी थोड़ी ही देर तक। धीरे धीरे भी वह देर तक नहीं चल सकती। जीने पर चढ़ने से उसका दिल धड़कने लगता है—उसका दम फूल उठता है। दृष्टि उसकी बहुत ही मन्द हो गई है। बाढ़ उसकी रुक गई है। टाँगें और पट्ठे सब ढीले पड़ गये हैं। ये सब आपदायें उसे शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने के कारण भोगनी पड़ती हैं। उसकी एक सखी है। वह भी उसी के साथ साथ

कालेज में पढ़ती थी । उसकी भी यही दशा है । वह भी ऐसी ही कमज़ोर है । बहुत शान्त-स्वभाव की मित्रमण्डली में बैठने से भी उसे इतना उत्ताप होता है कि मूर्च्छा आने की नौबत पहुँच जाती है । आख़िर को अब उसके डाक्टर ने उसे पढ़ने लिखने की बिलकुलहही मनाई करदी है ।

४६—शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने से होनेवाली दृश्य हानियों की अपेक्षा अदृश्य हानियाँ अधिक होती हैं ।

अतएव शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने से यदि इतने बड़े बड़े अपाय होते हैं तो न मालूम छोटे छोटे कितने अपाय, जिन्हें आदमी आँखों से नहीं देख सकता, होते होंगे ! बहुत मेहनत करने से प्रत्यक्ष बीमार पड़ जाने का यदि एक उदाहरण होगा, तो, सम्भव है, आधे दर्जन उदाहरण ऐसे होंगे, जिनमें होनेवाली हानियाँ प्रत्यक्ष न देख पड़ती होंगी, किन्तु धीरे धीरे शरीर में इकट्ठी होती जाती होंगी । अर्थात् ऐसे अदृश्य उदाहरण ज़रूर होंगे जिनमें शारीरिक अशक्तता या और किसी विशेष कारण से मनुष्य के इन्द्रिय-व्यापार अच्छी तरह न चलते होंगे; अथवा शरीर की बाढ़ धीरे धीरे कम होकर असमय में ही बन्द हो जाती होगी; अथवा छिपे हुए क्षयी रोग के बीज धीरे धीरे अंकुरित होकर रोग को प्रत्यक्ष पैदा कर देते होंगे; अथवा जवानी में अधिक मेहनत पड़ने के कारण दिमाग़ से सम्बन्ध रखनेवाले जो रोग बहुधा हो जाया करते हैं उनके होने के लक्षण पहले ही से देख पड़ते होंगे । अनेक प्रकार के पेशे और व्यापार-धन्धे में बहुत अधिक मेहनत करनेवाले वयस्क आदमी भी बार बार बीमार पड़ा करते हैं । इस को ध्यान में रख कर जो लोग उन विशेष अधिक हानिकारी परिणामों का विचार करेंगे जो शक्ति के बाहर मेहनत करने से बच्चों के अपरिपक्व शरीर को भोगने पड़ते हैं उन्हें यह बात स्पष्ट मालूम हो जायगी कि इस कारण से सर्व-साधारण के स्वास्थ्य की जड़ पर किस तरह कुठाराघात हो रहा है । अच्छे जवान आदमियों की तरह लड़के न तो तकलीफ़ ही बरदाश्त कर सकते हैं, न शारीरिक श्रम ही कर सकते हैं, और न मानसिक परिश्रम ही के काम कर सकते हैं । अब आपही विचारिए कि यदि बहुत अधिक

मानसिक परिश्रम के काम करने से अच्छे अच्छे जवान आदमियों को अनेक आपदायें प्रत्यक्ष भोगनी पड़ती हैं, तो बहुधा उतना ही मानसिक परिश्रम करनेवाले लड़कों को कितनी आपदायें भोगनी पड़ती होंगी—कितना कष्ट उठना पडता होगा!

५०—इँगलिस्तान के लड़कियों के मदरसों की व्यवस्था की तफ़सील और उसके भयङ्कर परिणाम।

मदरसों में जो निर्दय क़वायद बच्चो से बहुधा बलपूर्वक ली जाती है—जिस कठोर शिक्षा-पद्धति का अनुसरण उनसे अक्सर कराया जाता है—उसकी जाँच करनें पर, यह जान कर कि उससे बच्चो को अत्यन्त हानि पहुँचती है हमें आश्चर्य्य नहीं होता। आश्चर्य्य तो हमें इस बात का विचार करके होता है कि उसे बच्चे बरदाश्त कैसे करते हैं। बहुत कुछ जाँच पड़ताल के बाद, अपनी आँख से देखी हुई बातो के आधार पर, सर जान फार्ब्स ने सारे इँगलिस्तान के मँझले दरजे के लड़कियो के मदरसे की व्यवस्था का जो हिसाब दिया है उसका विचार कीजिए। उनका दिया हुआ २४ घंटे का ख़ुलासा इस प्रकार है। इस हिसाब में हमने मिनिट आदि की तफ़सील छोड़ दी है:—

सोना	९ घंटे (बहुत छोटे बच्चे १० घंटे)
मदरसे में लिखना पढ़ना या बताये हुए और कोई काम करना	९ घंटे
मदरसे में या घर पर बड़े बच्चो ने इच्छानुसार पढ़ना लिखना या काम करना और छोटे बच्चों ने खेलना	३½ घंटे
भोजन	१½ घंटे
साफ़ हवा में घूमने फिरने के रूप में कसरत करना। इस समय भी पुस्तकें बहुधा हाथ में लिये रहना। यह भी नियत समय पर, यदि मौसिम अच्छा हो तो।	१ घंटा
	२४ घंटे

सर जान फार्ब्स इस पद्धति को विलक्षण कठोर शिक्षा-पद्धति कहते हैं। अच्छा, अब इस बात का विचार कीजिए कि ऐसी कठोर पद्धति के नतीजे क्या होते हैं? अशक्तता, तेजोहानि, उदासीनता और हमेशा रोगी बने रहना। इनके सिवा और क्या नतीजे होंगे? परन्तु फार्ब्स साहब कुछ और भी बतलाते हैं। वे कहते हैं कि मानसिक शिक्षा की प्राप्ति में बहुत अधिक ध्यान देने के कारण शरीर को नीरोग रखने के विषय में अत्यन्त असावधानी की जाती है। अर्थात् दिमाग़ से बहुत अधिक काम लिया जाता है और शरीर से बहुत ही कम। फार्ब्स साहब ने इस अव्यवस्था की जो जाँच की तो उन्हें मालूम हुआ कि इसके कारण इन्द्रियाँ अपने अपने काम अच्छी तरह नहीं कर सकतीं। यही नहीं, किन्तु इससे कुरूपता भी आ जाती है—शरीर में किसी न किसी तरह का व्यङ्ग पैदा हो जाता है। वे कहते हैं:—'अभी हाल में हमने एक बड़े क़सबे में लड़कियों का एक मदरसा देखा। उसमे ४० लड़कियाँ थीं। उनके खाने-पीने का भी प्रबन्ध वहीं मदरसे ही की तरफ़ से होता था। हमने अच्छी तरह सही सही जाँच की तो मालूम हुआ कि उन ४० लड़कियों में से एक भी लड़की ऐसी नहीं जो दो वर्ष तक उस मदरसे मे रही हो और उसकी कमर थोड़ी बहुत न झुक गई हो। और जितनी लड़कियाँ उसमें थीं प्रायः सभी दो वर्ष तक रह चुकी थीं"।

५१—एक मुदर्रिसों के मदरसे का और भी बुरा शिक्षा-क्रम।

फार्ब्स साहब ने अपनी इस जाँच का हाल १८३३ ईसवी में लिखा था। सम्भव है, तबसे इस विषय में कुछ सुधार हुआ हो; और हमें विश्वास है कि ज़रूर हुआ है। परन्तु पूर्वोक्त शिक्षा-पद्धति अब भी बहुत जगह वैसीही जारी है। नहीं, कहीं कहीं तो यह पद्धति पहले की भी अपेक्षा अधिक दूषित हो गई है। इसे अटकल न समझिए। इस बात को हम अपने निज के तजरिबे से कहते हैं। अभी कुछ ही दिन हुए हम एक नार्मल स्कूल देखने गये। मदरसों में पढ़ाने के लिए अच्छे अच्छे मुदर्रिस मिलें, इस लिए आज कल कितने ही मदरसे खोले गये हैं। यह

मदरसा इसी तरह का था। इसमे जवान जवान लडके पढ़ते थे। यह सरकारी मदरसा था और सरकार ही के नियत किये गये अध्यापक भी इसमें थे। अतएव हम समझे थे कि ग़ैर-सरकारी मदरसों की अध्यापिकाओ के निश्चित किये हुए क्रम की अपेक्षा इसका क्रम अच्छा होगा। परन्तु वहाँ हमने हर रोज़ का क्रम इस प्रकार पाया:—

६ बजे विद्यार्थी उठाये जाते है।

७ से ८ बजे तक पढना।

८ से ९ तक धर्म्म-पुस्तक का पाठ, भजन और भोजन।

९ से १२ तक फिर विद्याभ्यास—पढना, लिखना आदि।

१२ से १ ½ तक छुट्टी। यहाँ छुट्टी नाम मात्र के लिए घूमने फिरने या और किसी व्यायाम के लिए दी जाती है। परन्तु बहुत करके इस समय भी लड़के पढ़ने ही में लगे रहते हैं।

१ ½ से २ तक दोपहर का भोजन। इसमें बहुत करके २० मिनट लगते है।

२ से ५ तक फिर पढ़ना, लिखना।

५ से ६ तक चाय-पानी और विश्राम।

६ से ८ ½ तक फिर विद्याभ्यास।

८ ½ से ९ ½ तक अगले दिन के पाठ तैयार करने के लिए अपने आप, बिना अध्यापक की मदद के, अभ्यास करना।

१० बजे सो जाना।

इस प्रकार चौवीस घंटे मे से आठ घंटे सोने के लिए है, सवा चार घंटे कपडे पहनने, भजन-पूजन करने, भोजन करने और कुछ देर आराम करने के लिए है; साढ़े दस घंटे पढ़ने लिखने के लिए हैं, और सवा घंटा कसरत के लिए है, जिसका करना या न करना लड़कों की इच्छा पर छोड़ दिये जाने के कारण बहुधा कोई करता ही नहीं। परन्तु विद्याभ्यास के लिए जो साढ़े दस घंटे रक्खे गये है उनमें कसरत के लिए नियत किया गया समय मिला कर उस काम के लिए बहुधा साढ़े ग्यारह घंटे कर दिये जाते है। इतना ही नहीं, कोई कोई लड़के तो अपना पाठ तैयार करने के लिए सवेरे चार बजे उठते है और अध्यापक लोग उन्हें ऐसा करने के लिए सचमुच ही उत्तेजित करते है। एक नियमित समय मे लड़कों को बहुत अधिक विद्या-

भ्यास करना पड़ता है। फिर सब विषयों की परीक्षा में लड़कों के अच्छी तरह पास हो जाने ही पर अध्यापको की नेकनामी अवलम्बित रहती है। अतएव वे भी लड़कों को नियत समय से भी अधिक देर तक पढ़ने के लिए उत्साहित किया करते हैं। इससे क्या होता है कि रोज़ बारह बारह तेरह तेरह घटे पढ़ने के लिए अध्यापक महाशय लड़को को बार बार उत्तेजना दिया करते है।

५२—पूर्वोक्त मदरसे के विद्यार्थियों को होनेवाली बीमारियाँ।

इस बात के बतलाने के लिए किसी भविष्यद्वक्ता या ज्योतिषी की ज़रूरत नहीं कि इस तरह की शिक्षा-पद्धति से विद्यार्थियों के आरोग्य को भारी धक्का पहुँचेगा। जैसा कि उस मदरसे में रहनेवाले एक आदमी ने हमसे बयान किया, जिन लड़कों का रंग मदरसे मे भरती होते समय लाल और सतेज होता है उनका रंग वहाँ रहने से बहुत जल्द पाण्डुवर्ण और निस्तेज हो जाता है। लड़के बहुधा बीमार रहा करते हैं; कुछ लड़कों के नाम हमेशा बीमारों की फ़हरिश्त मे लिखे रहते हैं। भूख न लगनी और अजीर्ण बना रहना रोज़ की शिकायतें हैं। अतीसार और संग्रहणी का बड़ा ज़ोर रहता है—इतना कि बहुधा एक तिहाई विद्यार्थी एकही साथ इन बीमारियों से पीड़ित रहते हैं। बहुतों का सिर दर्द किया करता है। कुछ लड़के तो महीनों सिर के दर्द से दुखी रहते हैं। फी सैकड़ा कुछ लड़कों का शरीर यहाँ तक रोगी हो जाता है कि बीच ही मे मदरसा छोड़ कर उन्हें अपने घर चला जाना पड़ता है।

५३—यह इस मदरसे के अधिकारियों की निर्दयता अथवा शोकजनक मूर्खता का प्रमाण है।

यह मदरसा और मदरसों के लिए एक तरह का नमूना है। यह एक आदर्श पाठशाला है। इसे इस समय के उन विद्वानों ने खोला है जिन्होने सर्वोत्तम शिक्षा पाई है और वही इसकी देख-भाल भी करते हैं। ऐसे आदर्श विद्यालय मे—ऐसे नमूनेदार मदरसे मे—इस तरह की दुरवस्था का होना

सचमुच ही बहुत बड़े विस्मय की बात है। परीक्षायें बेहद कठोर होती हैं। तिस पर भी उनकी तैयारी के लिए बहुत थोड़ा समय दिया जाता है। इस से, बेहद सख़्त मेहनत पड़ने के कारण, परीक्षार्थी उम्मेदवारों का आरोग्य—उनका स्वास्थ्य—बिलकुल ही बिगड़ जाता है। यह इस बात का प्रमाण है कि जिन लोगों ने इस तरह की दूषित शिक्षा-पद्धति प्रचलित की है वे यदि निर्दयी नहीं है तो मूर्ख ज़रूर हैं; और मूर्ख भी कैसे कि उनकी मूर्खता का ख़याल करके शोक होता है।

५४—शिक्षा-पद्धति को विशेष कठोर करने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति का प्रमाण।

यह उदाहरण बहुत करके अपवादात्मक है—यह मिसाल बतौर मुस्तसना के है। इसी तरह के और जो मदरसे हैं उन्हीं के विद्यार्थियों को बहुत करके ऐसी आपदायें भोगनी पड़ती होंगी। परन्तु ऐसे शोचनीय उदाहरणों का होना ही इस बात का क्या कम सबूत है कि आज कल के लड़के मानसिक श्रम से पिसे जा रहे है? इस तरह के कालेजों का स्थापित किया जाना ही यह बतला रहा है कि शिक्षित आदमियों का समुदाय उन की ज़रूरत समझता है। इससे यही सूचित होता है कि इस तरह की कठोर शिक्षा-पद्धति इस समय के विद्वानों को पसन्द है। अतएव, यदि और कोई सबूत न हो, तो भी, सिर्फ़ इस इतने ही सबूत से, यह बात साबित है कि आज कल लोग शिक्षा-पद्धति को बहुत अधिक कठोर करने की तरफ़ झुके हुए हैं।

५५—बहुत अधिक मानसिक परिश्रम से बचपन में भी हानि होती है और जवानी मे भी।

बहुत छोटी उम्र में पढ़ने लिखने में शक्ति के बाहर मेहनत करने से बच्चों को जो हानि पहुँचने का डर रहता है उसे तो सब लोग अच्छी तरह जानते हैं। परन्तु इस बात का विचार करके आश्चर्य होता है कि बड़े होने पर, जवानी में बहुत अधिक मेहनत करने से लड़कों को जो हानियाँ होती है उनका सब लोग बहुत ही कम ख़याल करते है। थोड़ी उम्र में लड़को के

शरीर की अप्राप्तकालिक पूर्णता से जो अनर्थ होते हैं उसका थोड़ा बहुत ज्ञान बहुत आदमियों को होता है । हर समाज में—हर जाति में—हम देखते हैं कि जो लोग अपने छोटे छोटे बच्चों की मानसिक शक्तियों को अकाल ही में उत्तेजित करते हैं उनकी सब कहीं निन्दा होती है । बचपन की इस तरह की उत्तेजना से होनेवाले परिणामों का जितना ही अधिक ज्ञान लोगों को होता है उतना ही अधिक वे उससे डरते भी हैं । प्राणिधर्म्म-शास्त्र सिखलानेवाले एक बहुत प्रसिद्ध अध्यापक की बात सुनिए । उसने हमसे कहा कि आठ वर्ष का होने तक वह अपने लड़के को कुछ भी पढ़ाने लिखाने का नहीं । इससे आप इस बात का अन्दाज कर सकते हैं कि अकाल ही में बच्चों से मानसिक श्रम करने के विषय में उसकी क्या राय होगी । सब लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि बुद्धि को बढ़ानेवाली शिक्षा बचपन में ज़बरदस्ती देने से या तो बच्चों का शरीर अशक्त हो जाता है, या अन्त में उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है, या अकाल ही में वे काल का ग्रास हो जाते हैं । परन्तु, मालूम होता है, उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि बुद्धि को बढ़ाने में जबरदस्ती करने से जवानी में भी यही नतीजे होते हैं । चाहे उनकी समझ में आवे चाहे न आवे, पर ये नतीजे होते ज़रूर हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं । जितनी मानसिक शक्तियाँ हैं सबका क्रम भी नियत है और परिमाण भी नियत है । उसी क्रम और उसी परिमाण के अनुसार वे परिपक्वता को पहुँचती हैं । यदि उसी क्रम और उसी परिमाण को ध्यान में रख कर शिक्षा दी गई तो उत्तम । यदि न दी गई तो हानि ज़रूर होती है । क्योंकि, यदि छोटी उम्र में ऐसे पेचीदा और कठिन विषय सिखलाये गये, जो सहज ही में लड़कों की समझ में नहीं आ सकते तो ऊँचे दरजे की मानसिक शक्तियों पर ज़रूर खिंचाव पड़ता है । अथवा यदि थोड़ी ही उम्र में बहुत अधिक विद्याभ्यास कराया गया तो उस समय स्वाभाविक तौर पर बुद्धि को जितना विकसित और उन्नत होना चाहिए उससे वह अधिक विकसित और उन्नत हो उठती है । इस अकालिक खिंचाव और अस्वाभाविक बुद्धि-विकास से जो विशेष लाभ होता है उसके बदले उतनी ही, या उससे भी अधिक, हानि हुए बिना नहीं रहती ।

५६—शक्ति के ख़र्च का हिसाब रखने में प्रकृति बड़ी प्रवीण है। एक काम में अधिक शक्ति ख़र्च करने से दूसरे काम में ख़र्च होनेवाली शक्ति को वह ज़रूर उतनी घटा देती है।

इसका कारण यह है कि संसार में सब काम हिसाब से होते हैं। कोई बात ऐसी नहीं जिसका हिसाब न रहता हो। जिस मद में जितना ख़र्च होने को है उसमें से यदि उससे अधिक तुम ले लोगे तो किसी दूसरी मद से उतना ही निकाल कर जमाख़र्च बराबर करना पड़ेगा। इसमें कभी भूल न होगी। क्योंकि हिसाब रखने में प्रकृति, अर्थात् क़ुदरत, बड़ी प्रवीण है। शरीर और मन की उन्नति के लिए जिस उम्र में जो चीज़ें जितनी दरकार हैं वे यदि ठीक ठीक उतनी पहुँचाई जायँ और प्रकृति को अपने ही रास्ते पर चलने दिया जाय तो सब काम यथेष्ट होगा। इस अवस्था में प्रकृति की बदौलत मनुष्य के सब अङ्गों की बाढ़ बहुत करके बराबर होगी। परन्तु यदि तुम इस बात का आग्रह करोगे कि शरीर के किसी भाग की वृद्धि अकाल ही में हो जाय, अथवा जितनी होनी चाहिए उससे अधिक हो जाय, तो वह थोड़ी बहुत अप्रसन्नता प्रकट करके—कुछ न कुछ एतराज करके—तुम्हारी बात को मान जरूर लेगी परन्तु बीच ही में अधिक काम करने में लगे रहने के कारण कोई न कोई और ज़रूरी काम उसे बे-किये ही छोड़ना पड़ेगा। इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि जीवन-व्यापार चलाने के लिए, मनुष्य के शरीर में, हर घड़ी, जो शक्ति विद्यमान रहती है वह नियमित होती है। उसके नियमित होने के कारण यह बात बिलकुल ही असम्भव है कि जितना काम—जितना जीवन-व्यापार—उससे होना चाहिए उससे अधिक लिया जा सके। अर्थात् जितनी शक्ति होगी उतना ही काम भी होगा। शक्ति नियमित होने से जीवन व्यापार भी नियमित होने चाहिए। लड़कपन और जवानी में जीवन-व्यापार चलानेवाली इस शक्ति का बहुत अधिक ख़र्च होता है, और एकही प्रकार से नहीं, अनेक प्रकार से होता है। जैसा कि पहले, कहीं पर, बतलाया जा चुका है, परि-

श्रम करने के कारण शरीर का कुछ अंश हर रोज क्षीण हो जाता है। उस क्षीणता को—उस कमी को—पूरा करना पड़ता है। विद्याभ्यास करने में हर रोज़ जो मानसिक श्रम पडता है उससे दिमाग़ थोड़ा बहुत ज़रूर कमज़ोर हो जाता है। उस कमज़ोरी को दूर करना पड़ता है। इसके सिवा शरीर और दिमाग़ को थोड़ा बहुत हर रोज़ बढ़ना भी पड़ता है। इस बाढ़ के लिए भी सामग्री पहुँचानी होती है। इस तरह अनेक प्रकार से शरीर और दिमाग़ क्षीण हुआ करता है। इस क्षीणता की पूर्ति के लिए बहुत सा अन्न खाना पड़ता है। इस अन्न को हज़म करने के लिए भी बहुत सी शक्ति ख़र्च होती है। अब यदि इन कामों में से किसी एक काम में कुछ अधिक शक्ति ख़र्च कर दी जायगी तो उतनीहीं शक्ति किसी और काम में कम करनी पड़ेगी। शक्ति का जितना प्रवाह किसी तरफ़ अधिक हो जाता है उतनाहीं किसी और तरफ़ वह ज़रूर कम हो जाता है। यह ऐसी बात है कि शास्त्रीय रीति से भी सिद्ध है और हर आदमी के निज के तजरिबे से भी सिद्ध है। उदाहरणार्थ, सब आदमी इस बात को जानते हैं कि बहुत अधिक भोजन कर लेने से उसे हजम करने के लिए इतनी अधिक शक्ति दरकार होती है कि शरीर और मन दोनों शिथिल हो जाते हैं। उनमें विलक्षण मन्दता आ जाती है—यहाँ तक कि उसके कारण आदमी को बहुधा नींद आ जाती है। इस बात को भी सब आदमी जानते हैं कि बहुत अधिक शारीरिक परिश्रम, विचार या मनन शक्ति को घटा देता है। एकदम अधिक परिश्रम का काम करने से शरीर अवसन्न हो जाता है और कुछ देर तक चुप चाप पड़ा रहना पड़ता है। इसी तरह दस पन्द्रह कोस लगातार चलने से इतनी थकावट आती है कि फिर कुछ करने को जी नहीं चाहता—फिर मानसिक मेहनत के कामों में बिलकुल ही जी नहीं लगता। एक महीने तक बराबर पैदल चलने से मानसिक शक्तियाँ यहाँ तक क्षीण हो जाती हैं कि उन्हे फिर अपनी पहली स्थिति मे लाने के लिए कई दिन तक आराम करने की जरूरत पड़ती है। किसान आदमियों को देखिए। वे दिन रात खेती के काम मे लगे रहते हैं। इस कारण उन्हें जन्म भर शारीरिक श्रम करना पड़ता है। इसका फल यह होता है कि उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है। इन बातों को कौन नहीं जानता? हर आदमी इनसे परिचित है। फिर, एक बात और भी है। वह यह है कि लड़कपन में कभी कभी लड़कों की बाढ़

बहुत जल्द होती है। ऐसे समय में लड़कों की जीवनी शक्ति सब तरफ़ से खिंच कर बहुत अधिक ख़र्च हो जाती है। इस कारण उनका शरीर और मन यहाँ तक अवसन्न हो जाता है कि उठने को जी नहीं चाहता। यही इच्छा होती है कि पड़ेही रहें। इस बात को भी सब जानते हैं। भोजन करने के बाद यदि बहुत अधिक शारीरिक श्रम करना पड़ता है तो अन्न हज़म नहीं होता और लड़कों को यदि बहुत छोटी उम्र में अधिक मेहनत के काम करने पड़ते हैं तो वे ठिँगने रह जाते हैं। इन उदाहरणों से भी यह सिद्ध होता है कि शक्ति का प्रतिकूल व्यवहार करने से ज़रूर हानि होती है। अर्थात् एक काम में शक्ति का अधिक ख़र्च हो जाने से दूसरे काम के लिए वह ज़रूर कम हो जाती है। इस प्राकृतिक नियम का असर जब बड़ी बड़ी बातों में इतनी स्पष्टता से देख पड़ता है तब छोटी छोटी बातों में भी थोड़ा बहुत ज़रूर देख पड़ना चाहिए। अर्थात् प्राकृतिक नियम अखण्डनीय हैं। उनका असर पड़े बिना नहीं रहता। शारीरिक शक्ति का अनुचित ख़र्च चाहे बार बार थोड़ा थोड़ा हो, चाहे एकही बार बहुतसा हो, हानि ज़रूर होती है। हानि से बचाव नहीं हो सकता। अतएव, लड़कपन में, स्वाभाविक तौर पर जितना मानसिक श्रम लड़के कर सकते हैं उससे अधिक यदि उनसे लिया जाय तो दूसरे कामों के लिए जो शक्ति दरकार होती है वह ज़रूर कम हो जायगी। ऐसा होने से किसी न किसी तरह की आपदायें भोगनीहीं पड़ेंगी—कोई न कोई हानियाँ उठानीही पड़ेंगी। आइए, इन आपदाओं का—इन हानियों का—थोड़े में विचार करें।

५७—दिमाग़ी मेहनत कुछ ही अधिक होने के नतीजे।

मान लीजिए कि दिमाग़ से जितना काम लेना चाहिए उससे थोड़ाही अधिक लिया गया। इस थोड़ी सी अधिक दिमाग़ी मेहनत से सिर्फ़ इतनीही हानि होगी कि शरीर की बाढ में कुछ कमी आजायगी। अर्थात् शरीर की ऊँचाई जितनी होनी चाहिए थी उससे कुछ कम रह जायगी, या डील-डौल में कुछ कमी आ जायगी, या शरीर के पट्ठे ऐसे अच्छे न होंगे जैसे कि उचित दिमाग़ी मेहनत करने से होते हैं। इनमें से एक या एक से अधिक, कोई न कोई, बात ज़रूर होगी। इन हानियों में से कोई न कोई हानि ज़रूर ही भोगनी पड़ेगी। दिमाग़ी मेहनत करते समय दिमाग़ को अधिक

रक्त पहुँचाना पड़ता है। इसके सिवा, इस तरह की मेहनत से दिमाग़ का जो अंश क्षीण हो जाता है उसे पूरा करने के लिए, दिमाग़ी मेहनत हो चुकने के बाद भी, अधिक रक्त दरकार होता है। इस प्रकार जो रक्त अधिक ख़र्च हो जाता है वह दिमाग़ के लिए न था। यह वह रक्त था जिसे शरीर के और और भागों में अभिसरण करना था। परन्तु उसके दिमाग़ में ख़र्च हो जाने से, शरीर की जिस क्षीणता को पूरा करने या जिस बाढ़ के काम आने के लिए उसे सामग्री पहुँचानी थी, उसे पहुँचाने से वह असमर्थ हो गया। अतएव वह क्षीणता वैसीही रह गई और वह बाढ़ भी न होने पाई। इस तरह शारीरिक शक्ति के दुरुपयोग से जो हानि होती है उसमें कोई सन्देह नहीं। वह ज़रूरही होती है। तो अब विचार इस बात का करना है कि अस्वाभाविक रीति से दिमाग़ लड़ा कर जो अधिक शिक्षा प्राप्त की जाती है वह उस हानि के बराबर है या नहीं ? अर्थात् इस तरह जो ज्ञान की अधिक प्राप्ति होती है वह शरीर के ठिँगने रह जाने—बीचही में बाढ़ के बन्द हो जाने और शरीर की बनावट के पूर्णता को न पहुँचने,—से होने-वाली हानि का काफ़ी बदला है या नहीं। यहाँ पर यह बात याद रखनी चाहिए कि आदमी के पूरे ऊँचे होने और बदन की बनावट में किसी तरह की कमी न आने हीं से शरीर में शक्ति और सहिष्णुता आती है।

५८—अधिक दिमाग़ी मेहनत से अधिक हानि, और, विकास और बाढ़ का पारस्परिक विरोध।

यदि मानसिक श्रम बहुत किया जाता है—यदि दिमाग़ से बहुत ज़ियादह मेहनत ली जाती है—तो और भी अधिक भयङ्कर परिणाम होते हैं। उससे शरीर ही की पूर्णता और बाढ़ नहीं मारी जाती, किन्तु ख़ुद दिमाग की भी पूर्णता और बाढ को हानि पहुँचती है। प्राणिधर्म्मशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार बाढ़ और विकास में परस्पर विरोध है। विकास से यहाँ पर मतलब शरीर के उपचय से—उसकी परिपक्वता से है। अर्थात् शरीर की बाढ़ और परिपक्वता एक साथ नहीं होती। बढ़ने की स्थिति में शरीर के कोई अवयव परिपक्व नहीं होते और परिपक्व हो जाने पर फिर बढ़ते नहीं। फ़्रांस के विद्वान् एम० इसिडोर सेंट हिलेर ने इस सिद्धान्त को पहले

पहल ढूँढ़ निकाला। इसके बाद लुइस साहब ने "खर्वाङ्ग और दीर्घाङ्ग मनुष्य" नामक जब लेख लिखा तब उन्होंने उसमे इस सिद्धान्त का हवाला दिया। इस सम्बन्ध मे 'बाढ' शब्द का अर्थ आकार की अधिकता और 'विकास' का अर्थ 'बनावट की अधिकता' समझना चाहिए। 'विकास' (Development) का अर्थ अच्छी तरह ध्यान में आने के लिए यदि उसकी जगह पर 'परिपक्वता' या 'उपचय' शब्द का प्रयोग किया जाय तो भी अनुचित नहीं। अब, नियम यह है कि इन दोनों स्थितियों में से किसी एक स्थिति की अधिकता होने से दूसरी स्थिति मे कमी जरूर आ जाती है। विकास अधिक होने से बाढ़ बन्द हो जाती है और बाढ अधिक होने से विकास को हानि पहुँचती है। रेशम के कीड़े मे इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है।। वह अपनी पहली, अर्थात् कैटरपिलर नामक, स्थिति में बहुत बढ़ता है। उसके आकार की बेहद बाढ होती है। परन्तु उसके विकास या उपचय मे कोई विशेष अन्तर नहीं देख पडता। जैसा वह बाढ़ पूरी होने के पहले रहता है प्रायः वैसाही बाढ़ पूरी हो जाने पर भी मालूम होता है। जब यह कीड़ा अंडे से निकलता है तब इसकी लंबाई कोई पाव इंच होती है। पर थोड़े ही दिनों में बढ कर वह तीन इंच लम्बा हो जाता है। जब उसकी बाढ पूरी हो जाती है तब वह अपने मुँह से रेशम के धागे निकाल निकाल कर अपने ऊपर लपेटता है और उस रेशम का कोया बना कर उसके भीतर बन्द हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त होने पर उसकी बाढ बन्द हो जाती है; यही नहीं, किन्तु, उसका वजन भी घट जाता है। परन्तु उसके विकास में—उसके डील डौल की बनावट में—अनेक प्रकार की विभिन्नतायें देख पड़ती हैं। उसमें एक के बाद दूसरी विशेषता झट झट पैदा होती जाती है। यह विरोधी भाव रेशम के कीड़े की तरह के छोटे छोटे कृमि-कीटकों मे जितनी स्पष्टता से देख पड़ता है उतनी स्पष्टता से बड़े बड़े जीवधारियों में नहीं देख पड़ता क्योंकि विकास और बाढ, ये दोनों बातें, उनमें एक ही साथ हुआ करती हैं। परन्तु स्त्रियों और पुरुषों की इन स्थितियों का परस्पर मुकाबला करने से हमें यह पारस्परिक विरोध अच्छी तरह देख पड़ता है। लड़कियों के शरीर और मन जल्द विकसित हो उठते हैं। इसी से लड़कों की अपेक्षा उनके शरीर की बाढ जल्द बन्द हो जाती है। परन्तु लड़कों के शरीर और मन के विकसित होने में कुछ देर लगती है। उनका

विकास धीरे धीरे होता है। अतएव उनकी बाढ़ उतना जल्द नहीं बन्द होती; अधिक दिनों तक वह होती रहती है। जिस उम्र में लड़की तरुण होकर शरीर की परिपूर्णता को पहुँच जाती है और साथ ही उसकी सारी मानसिक शक्तियाँ भी परिपक्व हो जाती हैं उस उम्र में लड़कों की जीवनी शक्तियाँ, शरीर का आकार बढ़ाने मे लगी रहने के कारण, उनके शारीरिक अवयवों का पूरा पूरा विकास नहीं होता। यह बात लड़कों के शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार के, अल्हड़पन से प्रकट है। यह नियम जुदा जुदा शरीर के हर एक अवयव और इन्द्रिय के विषय में भी चरितार्थ है। और सारे शरीर के विषय मे भी। अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में जिस तरह इस विषय के अनुसार सब बातें होती हैं उसी तरह हर एक अवयव में भी होती हैं। सबके लिए एकही नियम है। यदि कोई अवयव बहुत जल्द परिपक्वता को पहुँच जाता है तो अकाल ही में उसकी बाढ़ ज़रूर बन्द हो जाती है। यह बात जैसे और सब अवयवों के विषय में घटित होती है वैसे ही मानसिक शक्तियों के विषय में भी घटित होती है। लड़कपन में दिमाग़ का आकार अपेक्षाकृत बहुत बड़ा होता है; परन्तु वह अपरिपक्व दशा में रहता है। यदि उससे अस्वाभाविक रीति से बहुत अधिक काम लिया जायगा तो उस उम्र में उसे जितना परिपक्व होना चाहिए उससे अधिक परिपक्व हो जायगा। अर्थात् अकाल ही मे वह विशेष परिपक्वता को पहुँच जायगा इसका फल यह होगा कि उसका आकार छोटा रह जायगा और उसमें जितनी शक्ति आनी चाहिए उतनी न आवेगी। अकाल ही मे परिपक्व अवस्था को पहुँचे हुए जो लड़के और नव-युवक पहले इतने तेज़ होते हैं कि किसी बात को कुछ समझते ही नहीं, कुछ दिनों के बाद उनकी तीव्रता के वहीं रह जाने और माँ बाप की बड़ी बड़ी आशाओं के धूल में मिल जाने का एक कारण—अथवा यों कहिए कि सबसे बड़ा कारण—यही है।

५६—दिमाग़ से अधिक काम लेने से शरीर पर होने वाले भयङ्कर परिणाम।

शक्ति से बाहर शिक्षा देने के जिन परिणामों का हमने ऊपर ज़िक्र किया वे सचमुच ही बड़े भयङ्कर हैं। परन्तु इस तरह की शिक्षा से शरीर

का जो नाश होता है—स्वास्थ्य को जो हानि पहुँचती है—उसके ख़याल से यह भयङ्करता कुछ भी नहीं है। इससे शरीर पर जो परिणाम होते हैं वे ऊपर वर्णन किये गये परिणामों की अपेक्षा बहुत ही भयङ्कर हैं। इससे शारीरिक स्वास्थ्य बिलकुल ही बिगड़ जाता है, शक्ति बेहद क्षीण हो जाती है. और एक प्रकार की उदासीनता छाई रहने से विचार-शक्ति भी मन्द पड़ जाती है। प्राणि-धर्म्मशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली हाल की एक जाँच से यह मालूम हुआ है कि शारीरिक व्यापारों पर दिमाग़ का बहुत अधिक असर पड़ता है। इन्द्रियजन्य व्यापारों का दिमाग़ से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। दिमाग़ पर बहुत अधिक दबाव पड़ने से—मनसे बहुत अधिक काम लेने से—अन्न-पाचन-शक्ति और रुधिराभिसरण को धक्का पहुँचता है। इस से शरीर के सारे इन्द्रिय-व्यापार बेतरह शिथिल हो जाते हैं। शरीर में वेगस नाम का एक ज्ञान-तन्तु है। उसका एक छोर दिमाग़ से लगा हुआ है, दूसरा आमाशय से। इसे छेड़ने—इसे त्रास देने—से क्या होता है, इस बात के देखने का प्रयोग पहले पहल वेबर नाम के एक विद्वान् ने किया था। जिस ने, हमारी तरह, वेबर की बतलाई हुई रीति से इस ज्ञान-तन्तु को छेड़ने का प्रयोग देखा है—अर्थात् जिसने यह देखा है कि इसे त्रास देने से रक्ताशय का व्यापार किस तरह बन्द हो जाता है, त्रास बन्द होने पर फिर किस तरह वह धीरे धीरे शुरू होता है; और फिर उसे छेड़ने से किस तरह तत्काल ही वह फिर बन्द हो जाता है—वह इस बात को अच्छी तरह समझ सकेगा कि दिमाग़ से बहुत अधिक काम लेने से शरीर पर शैथिल्य उत्पन्न करनेवाला कितना असर पड़ता है। इस तरह जिन परिणामों का होना वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किया गया है उनका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें अपने प्रति दिन के तजरिबे में मिलता है। विज्ञान जिन बातों की गवाही देता है वही बातें तजरिबे से हमे प्रत्यक्ष देख पड़ती हैं। ऐसा एक भी आदमी न मिलेगा जिसका कलेजा—आशा, डर, क्रोध और आनन्द-आदि मनोविकारों के उत्पन्न होने पर—न धड़का हो। कोई आदमी ऐसा न होगा जिसे यह तजरिबा न हुआ हो कि इन मनोविकारों के बहुत प्रबल होने पर रक्ताशय के व्यापार मे कितनी बाधा आती है। मनोविकारों के अतिशय उच्छृंखल होने से रक्ताशय का व्यापार बन्द होकर मूर्छा आने का तजरिबा यद्यपि बहुत कम आदमियों को होता है तथापि इस बात को हर आदमी

जानता है कि मनोविकारों के प्राबल्य और मूर्छा में परस्पर कार्य्य-कारण-भाव ज़रूर है। अर्थात् मनोविकारों के अतिशय प्रबल होने ही से आदमी मूर्छित हो जाता है, इसे सब लोग ज़रूर जानते हैं। इस बात को भी प्रायः सब लोग जानते हैं कि मेदे में जो ख़राबियाँ पैदा हो जाती हैं उनका कारण मानसिक विकारों की प्रबलता का एक निश्चित हद से आगे बढ़ जानाही है। यह एक बहुत ही साधारण सी बात है कि अत्यन्त आनन्द अथवा अत्यन्त दुःख पहुँचने से भूख मारी जाती है। और आनन्दित होना या दुःख पाना मन का व्यापार है। यदि भोजन करने के थोड़ी ही देर बाद कोई बहुत ही आनन्ददायक या दुःखजनक बात होती है तो खाया हुआ अन्न बहुधा पेट में नहीं ठहरता और यदि ठहरता भी है तो बहुत मुश्किल से हज़म होता है। हर आदमी, जो अपने दिमाग़ से बहुत अधिक काम लेता है, इस बात की सचाई को अपने तजरिबे से साबित कर सकता है, कि किसी विषय में बुद्धि को अतिशय लगाने से भी ऐसे ही परिणाम होते हैं। अतएव दिमाग़ और शरीर में परस्पर जो सम्बन्ध है वह जैसे इन बड़ी बड़ी बातों में साफ़ साफ़ देख पड़ता है वैसे ही छोटी छोटी बातों में भी देख पड़ता है। दिमाग़ को अल्पकालिक, परन्तु प्रबल, उत्तेजना पहुँचने से मेदे में जैसे अल्पकालिक, परन्तु प्रबल, विकार पैदा हो जाते हैं वैसे ही उसे थोड़ा, परन्तु देर तक धक्का पहुँचने से मेदे में थोड़ा, परन्तु बहुत देर तक, विकार बना रहता है। इसे आप निरा अनुमान या तर्क न समझिए। यह बात सर्वथा सच है। इसकी सचाई का प्रमाण हर एक वैद्य या डाक्टर दे सकता है। हमें ख़ुद इस बात का तजरिबा है, जिसे याद करके हमें बहुत रंज होता है। हमने ख़ुद इस व्यथा को बहुत दिनों तक भोगा है। अतएव हम ख़ुद भी इस बात के सच होने के प्रमाण हैं। बहुत दिनों तक शक्ति से अधिक मानसिक श्रम करने से अनेक प्रकार के न्यूनाधिक दुःखदायी रोग भोगने पड़ते हैं और उनसे थोड़ा बहुत बचने के लिए काम काज छोड़ कर बरसों बेकार बैठना पड़ता है। बहुत करके रक्ताशय ही अधिक बिगड़ता है—छाती धड़का करती है और नाड़ी की चाल यहाँ तक मन्द हो जाती है कि एक मिनिट में ७२ द.फे की जगह उसकी चाल ६० तक गिर जाती है और कभी कभी इससे भी कम हो जाती है। कभी कभी मेदा बिगड़ जाता है। इससे अजीर्ण पैदा हो जाता है और संसार में जीना बोझ मालूम होने

लगता है। कोई दवा कारगर नहीं होती। इस लिए अपने भाग्य पर भरोसा करके चुपचाप बैठना पड़ता है। बहुत आदमियों का तो मेदा भी ख़राब जाता है और रक्ताशय भी। उन बेचारो को दोनों व्यथायें साथही भुगतनी पड़ती हैं। बहुधा नींद अच्छी तरह नहीं आती और आती भी है तो कच्ची नींद में आँख खुल जाती है। मन का थोड़ा बहुत उदास रहना तो एक मामूली बात है।

६०—बहुत अधिक मानसिक परिश्रम से होनेवाले शारीरिक विकार।

अच्छा तो अब इस बात का विचार कीजिए कि बहुत अधिक मानसिक परिश्रम से दिमाग़ को उत्तेजित करने—उसे सन्ताप पहुँचाने—से लड़कों और नव-युवकों को कितनी सख़्त तकलीफ़ उठानी पड़ती है। जितना काम दिमाग़ से लेना चाहिए उससे अधिक लेने से स्वास्थ्य को थोड़ा बहुत हानि पहुँचे बिना नहीं रह सकती। यदि उससे इतना अधिक काम न लिया गया—यदि उसे इतना परिश्रम न करना पड़ा—कि बहुत ज़ियादह हानि पहुँच कर कोई बीमारी पैदा हो जाय तो इतना तो जरूर ही होगा कि धीरे धीरे तबीयत बिगड़ती जायगी। इस तरह के श्रम से जो खराबियाँ पैदा होंगी वे बढ़ते बढ़ते शरीर को थोड़ा बहुत विकृत जरूर कर देंगी। भूख थोड़ी—सो भी देर में लगने, अन्न अच्छी तरह हजम न होने, रक्त का अभिसरण मन्द हो जाने से लड़कों का वर्द्धमान शरीर किस तरह पनप सकता है—किस तरह वह अच्छी तरह बढ सकता है? जीवन-सम्बन्धी जितने-व्यापार हैं वे, शरीर में शुद्ध रक्त की यथेष्ट मात्रा होने ही से अच्छी तरह चल सकते हैं। शुद्ध रक्त की मात्रा शरीर में यथेष्ट न होने से मांस-ग्रन्थियाँ अच्छी तरह नहीं बनतीं, अवयव अपना अपना काम अच्छी तरह नहीं कर सकते. ज्ञान-तन्तु, स्नायु, पट्ठे झिल्लियाँ और शरीर के अन्यान्य भागों की कमी अच्छी तरह पूरी नहीं हो सकती। जिस समय शरीर की बाढ़ हो रही है उस समय मेदा कमज़ोर हो जाने से यदि यथेष्ट रक्त न पैदा हुआ और जो पैदा भी हुआ वह अशुद्ध, और रक्ताशय के कमज़ोर हो जाने से इस थोड़े और अशुद्ध रक्त का अभिसरण बहुत ही धीरे धीरे होने लगा, तो इस बात का आपही विचार कर लीजिए कि परिणाम कितना भयङ्कर होगा।

६१—लड़कों से बहुत सी बातें मार-कूट कर याद कराने से वे जल्द भूल जाती हैं। यही नहीं, इस तरह की शिक्षा से और भी अनेक हानियाँ होती हैं।

विद्याभ्यास में बहुत अधिक मेहनत करने से आरोग्य को धक्का ज़रूर पहुँचता है—स्वास्थ्य जरूर बिगड़ जाता है। इस विषय में जिन लोगों ने जाँच की है वे इस बात को क़बूल करते हैं। अतएव यदि ऐसे लोग इस प्रकार के परिश्रम को हानिकारी समझते हैं तो लड़कों के दिमाग़ में बहुत सी शिक्षा ज़बरदस्ती भर देने की जो पद्धति आज कल जारी है उसे जितना ही दोष दिया जाय थोड़ा है। चाहे जिस तरह इसका विचार किया जाय, ऐसी पद्धति को जारी रखना बड़ी ही भयङ्कर भूल है। सिर्फ़ ज्ञान-प्राप्ति से जहाँ तक सम्बन्ध है, इस भूल के होने में कोई सन्देह नहीं। क्योंकि शरीर की तरह मन भी किसी चीज को एक नियमित अन्दाज से अधिक नहीं ग्रहण कर सकता। अतएव जितनी देर में मन सिखलाई हुई बातो को अच्छी तरह ग्रहण कर सकता है उससे अधिक जल्द जल्द यदि उसमें शिक्षणीय बातें ठूँसी जायँ तो वह उन्हें याद नहीं रख सकता। थोड़े ही समय मे वे भूल जाती है। बुद्धि-रूपी पटल पर हमेशा के लिए अङ्कित हो जाने के बदले, जिस परीक्षा के पास करने के लिए वे याद कराई गई थीं उसे पास कर लेने के थोड़े ही दिन बाद, वे ध्यान से उतर जाती हैं। इस तरह बहुत सी बातें ज़बरदस्ती याद कराने से लड़कों का जी पढ़ने में नहीं लगता। इस कारण से भी यह शिक्षा-पद्धति सदोष है। बराबर लगातार मानसिक श्रम करने से होनेवाली अनेक प्रकार की पीड़ाओ की बदौलत, या बहुत अधिक श्रम करने से दिमाग के बिगड़ जाने के कारण, किताबों से घृणा हो जाती हैं। शिक्षा-पद्धति अच्छी होने से मदरसा छोड़ने पर अपना सुधार आपही आप होना चाहिए। परन्तु प्रचलित शिक्षा-पद्धति ऐसी बुरी है कि उसके कारण स्वयमेव सुधार होने के बदले बात बिलकुल ही उलटी होती है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति इस लिए भी दोष देने लायक़ है कि इसके कारण सब लोगों की समझ यह हो जाती है कि विद्या पढ़ लेना

ही सब कुछ है—ज्ञानोपार्जन ही से सब काम हो जाता है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि ज्ञान उपार्जन करके सबसे ज़रूरी बात उस ज्ञान को अपने में लीन कर लेना है, जो बहुत काल तक मनन के बिना नहीं हो सकता। साधारण तौर पर सब लोगों की बुद्धि की बाढ़ के विषय में जर्मनी का हम्बोल्ट नामक विद्वान् कहता है कि "जब किसी विषय की बहुत सी बातें एक साथ दिमाग़ में भर दी जाती है तब उस विषय के वर्णन का असर कम हो जाता है। अतएव सृष्टि-सौन्दर्य्य का ज्ञान अच्छी तरह नहीं होता—प्राकृतिक पदार्थों का मतलब ठीक ठीक समझ में नहीं आता"। यही बात अलग अलग हर आदमी की बुद्धि की बाढ़ के विषय में भी कही जा सकती है। बहुत सी बातो का शुष्क ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश से सब बातें याद नहीं रहतीं। थोड़े ही दिनों में वे भूल जाती हैं। उनके बोझ से दिमाग़ को व्यर्थ तकलीफ़ उठानी पड़ती है और धीरे धीरे बुद्धि मन्द हो जाती है। शरीर में व्यर्थ बढ़नेवाली चर्बी की जैसे कोई क़ीमत नहीं, वैसे ही जो ज्ञान बुद्धि की चर्बी बन कर रहता है उसकी भी कोई कीमत नहीं। जो ज्ञान बुद्धि-रूपी शरीर का स्नायु बन कर रहता है उसी को क़ीमती समझना चाहिए। परन्तु, इस विषय में लोग जो भूल करते हैं वह और भी अधिक गम्भीर है—वह और भी अधिक सख़्त है। बहुत सी बातो को तोते की तरह रटाने से बुद्धि का बिलकुल ही विकास नहीं होता—बुद्धि की बिलकुल ही वृद्धि नहीं होती। परन्तु, यदि, इस तरह की शिक्षा से बुद्धि की वृद्धि होती भी तो भी हम उसे बुरी ही कहते। क्योंकि, जैसा हम कह चुके हैं, इस रीति के अनुसार शिक्षा देने से शरीर की शक्ति का नाश हो जाता है। अतएव मदरसे में इतने परिश्रम से प्राप्त किये गये ज्ञान से मनुष्य को आगे सांसारिक काम-काज में कोई लाभ नहीं होता। सांसारिक झंझटों में जिस ज्ञान की इतनी ज़रूरत रहती है उसका यदि कोई उपयोग ही न हुआ तो उसके सम्पादन से क्या लाभ? शरीर ही अशक्त, अतएव बेकाम, हो जाता है। लाभ हो कैसे? जो अध्यापक सिर्फ़ विद्यार्थियों के मन को सुशिक्षित करने—उन्हें ज्ञान-प्राप्ति कराने—में उत्सुकता दिखाते हैं, उनके शरीर की स्वस्थता या अस्वस्थता की परवा नहीं करते, उन्हें यह बात याद नहीं कि शरीर सशक्त होने ही से संसार के सब काम-काज हो सकते हैं। सांसारिक कामों में कामयाबी होना जितना शारीरिक शक्ति पर अवलम्बित है उतना बहुत सा ज्ञान दिमाग़ में

भर लेने पर अवलम्बित नहीं। जो पद्धति दिमाग़ में ज़बरदस्ती ज्ञान को ठूँस कर शारीरिक बल का विनाश करती है वह आपही अपनी नाकामयाबी का कारण है। वह माने अपने ही हाथ से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारती है। शरीर में यथेष्ट बल होने ही से दृढ़ निश्चय और वेथके हुए लगातार उद्योग करने की शक्ति पैदा होती है। और जिस आदमी में दृढ़ निश्चय है, और जो बराबर परिश्रम-पूर्वक काम-काज कर सकता है, उसे ज्ञान की कमी तादृश हानि नहीं पहुँचा सकती। ऐसे आदमी की शिक्षा चाहे जितनी दोष-पूर्ण क्यों न हो, तथापि उसे अपने उद्योग धन्धे में कामयाबी हुए बिना नहीं रहती। यदि शरीर की शक्ति क्षीण हुए बिना मतलब भर के लिए शिक्षा मिल गई, और दृढ़ निश्चय तथा सतत उद्योग, इन दोनो बातों की मदद पहुँच गई, तो दिन रात सिर-खपी करके प्राप्त की गई शिक्षा के बदौलत महा अशक्त विद्वानों के साथ चढ़ा ऊपरी करने में जीत हुए बिना नहीं रह सकती। जो लोग अपनी शरीर-सम्पदा को क्षीण न करके काफ़ी शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं वे यदि दृढ़ निश्चयवान् और उद्योगी हैं तो बड़े बड़े विद्वान् भी, अशक्त होने के कारण काम-काज में उनसे पार नहीं पा सकते। जो यंजिन छोटा है और बनाया भी अच्छी तरह नहीं गया उससे यदि ख़ूब ज़ोर से काम लिया जाय तो वह उस यंजिन से अधिक काम देगा जो बडा भी है और अच्छी तरह बनाया भी गया है, पर जो धीरे धीरे चलाया जाता है। यंजिन ख़ूब अच्छा बनाने की कोशिश करने में उसके बाइलर (भभके या बंबे) को ऐसा बिगाड़ देना कि उसके भीतर भाफ ही न बन सके, कितनी मूर्खता का काम है! आपही कहिए, है या नहीं? यदि बिना भाफ के यंजिन चलही न सकेगा तो उसकी ख़ूब-सूरती को लेकर क्या चाटना है! शिक्षा का वर्तमान तरीक़ा एक और कारण से भी सदोष है। वह यह है कि जो लोग इस तरीक़े से शिक्षा पाते हैं उनको यही नहीं समझ पड़ता कि उनका मङ्गल किस बात में है—उनकी बेहतरी किस तरह हो सकती है। वे इस बात के जानने में असमर्थ हो जाते हैं कि उनका सच्चा सुख या सच्चा हित किसमें है। ज़रा देर के लिए मान लीजिए कि इस तरीक़े से सांसारिक काम-काज में हानि के बदले हमेशा लाभ ही लाभ होता जायगा—नाकामयाबी की जगह हमेशा कामयाबी ही होती रहेगी—तो भी इसकी बदौलत जन्म भर के लिए शरीर का मिट्टी हो जाना क्या एक बहुत बड़ी हानि नहीं है? उस काम-

यावी की गुरुता की अपेक्षा इस महाहानि की गुरुता क्या अधिक नहीं है? यदि आदमी हमेशा बीमार ही बना रहा तो सम्पत्ति किस काम की? सम्पत्ति के साथ साथ बीमारी बनी रहने से सम्पत्ति का उपयोग ही नहीं हो सकता। उस नामवरी की क़ीमत ही कितनी जिसके कारण आदमी विक्षिप्त हो जाय या जन्म भर उदास और म्रियमाण दशा में अपने दिन काटे? अच्छी तरह अन्न हजम होना नाड़ी का ख़ूब धड़ाके से चलना, चित्त-वृत्ति का हमेशा उल्लसित रहना, सचमुच ही सच्चे सुख के कारण है। इनके मुक़ाबले में बाहरी सुख या लाभ कोई चीज नहीं। यदि ये नहीं, तो करोड़ों की सम्पत्ति और दिगन्त-व्यापी नाम व्यर्थ है। ये ऐसी बातें हैं कि इनके गौरव के सम्बन्ध में किसी को सबक़ देते बैठने की ज़रूरत नहीं। किसी रोग से चिरकाल पीड़ित रहने से बड़ी से बड़ी आशाओं पर पानी पड़ जाता है—वे निराशा के अन्धकार में लोप हो जाती हैं। परन्तु शरीर नीरोग और सशक्त होने से मन में एक प्रकार की जो प्रफुल्लता रहती है उसके कारण आदमी बड़े बड़े अरिष्टों की भी परवा नहीं करता। तो हम इस बात पर ज़ोर देकर कहते हैं कि यह अतिशिक्षण की रीति हर तरह से दूषित है:—

(१) यह इस लिए दूषित है कि इसके योग से प्राप्त किया गया ज्ञान बहुत जल्द भूल जाता है।

(२) यह इस लिए दूषित है कि इसके कारण आदमी ज्ञान-सम्पादन से घृणा करने लगता है।

(३) यह इस लिए दूषित है कि इससे ऊपरही ऊपर का ज्ञानसम्पादन होता है। पर सम्पादित ज्ञान को अपने में लीन करने की तरफ़, जो अधिक महत्त्व का काम है, आदमी का ध्यान ही नहीं जाता।

(४) यह इस लिए दूषित है कि इसके कारण वह शारीरिक शक्ति, जिसके बिना प्राप्त की हुई शिक्षा का कोई उपयोग ही नहीं हो सकता, कम किंवा बिलकुल ही नष्ट हो जाती है।

(५) यह इस लिए दूषित है कि इससे स्वास्थ्य यहाँ तक बिगड़ जाता है कि यदि सांसारिक उद्योग-धन्धे में कामयाबी भी हुई, तो भी, आदमी सुखी नहीं होता, और यदि नाकामयाबी हुई तो दुःख दूना हो जाता है।

६२—वर्तमान शिक्षा-पद्धति से स्त्रियों को जो हानि पहुँचती है वह और भी भयङ्कर है।

दिमाग़ में इस तरह ज़बरदस्ती बहुत सी शिक्षा ठूँसने का नतीजा मनुष्यों की अपेक्षा स्त्रियों के लिए सम्भवतः और भी अधिक हानिकारी है। बहुत अधिक विद्याभ्यास से होनेवाली हानियों को लड़के आनन्ददायक और शक्तिवर्धक खेल-कूद से कम कर देते हैं। परन्तु लड़कियों के लिए इस तरह के खेल कूद की मनाई है। वे दौड़ धूप के खेल नहीं खेलने पातीं। इस कारण लड़कियों को इस शिक्षा-पद्धति की हानियाँ पूरे तौर पर भोगनी पड़ती हैं। इसीसे पढ़ी लिखी स्त्रियों मे नीरोग और पूर्ण बाढ़ पाई हुई मज़बूत स्त्रियाँ बहुत ही कम देख पड़ती हैं। लंदन में अमीर आदमियों की बैठकों में अनेक पाण्डुवर्ण, कूबड़ निकली हुई, कुरूप और अपरिस्फुट अवयव वाली तरुण स्त्रियाँ देख पड़ती हैं। यह खेलने कूदने की मनाई करके, निर्दयता से दिन रात दिमाग़ मे शिक्षा को ज़बरदस्ती भरने का नतीजा है। यदि उन्हें खेलने कूदने दिया जाता और उनके दिमाग़ पर शिक्षा का इतना बोझ न डाला जाता तो उनकी कभी इतनी बुरी दशा न होती। उनकी विद्वत्ता, कुशलता और व्यवहार-चातुर्य्य का सांसारिक कामों मे जितना उपयोग होता है, शरीर के रोगी हो जाने से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उनका संसार-सुख मिट्टी में मिल जाता है। माताओं की यह इच्छा रहती है कि उनकी बेटियाँ ऐसी प्रवीण हो जायँ कि लोग उन्हें देखतेही लट्टू हो जायँ। इसी लिए वे उनके स्वास्थ्य की कुछ भी परवा न करके उन्हें ख़ूब शिक्षित बनाती हैं। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। शरीर के आरोग्य का नाश करके मन को शिक्षित बनाने के इस तरीक़े से बढ़कर हानिकारी तरीका शायदही और कोई हो। वे या तो इस बात के जानने की परवा नहीं करतीं कि पुरुषों की रुचि कैसी है—उनकी पसन्द किस तरह की है—या इस विषय में उनका निश्चयही ठीक नहीं है। स्त्रियों की विद्वत्ता की बहुत ही कम परवा पुरुष करते हैं। उनकी सुघरता, उनके सुस्वभाव और उनकी सदसद्विचार-शक्ति ही की वे जियादह परवा करते हैं। बतलाइए तो सही, एक पढ़ी लिखी भले घर की अविवाहित तरुणी अपने अप्रतिम इतिहास-

ज्ञान की बदौलत कितने पुरुषों को मोहित कर सकती है? इटली की भाषा में पारदर्शिता प्राप्त करने हीं के कारण क्या किसी स्त्री के प्रेम में कभी कोई पुरुष पागल हुआ है? क्या ऐसा भी कोई प्रेमी देखा गया है जो अपनी प्रेयसी के जर्मन-भाषा के पाण्डित्य को देख कर ही उसका दास हो गया हो?

"बिम्बोष्ठी चारुनेत्रा गजपतिगमना दीर्घकेशी सुमध्या"

कामिनियों को देख कर पुरुष उन पर आसक्त होते हैं। सुघर और सुन्दर शरीर पर ही मोहित होने से पुरुषों की दृष्टि कमनीय कामिनियों की तरफ़ खिँचती है। शरीर नीरोग होने से स्त्रियों का चित्त हमेशा प्रसन्न रहता है; उनकी चित्त-वृत्ति हमेशा उल्लसित रहती है; उनकी बात चीत में एक प्रकार की विशेष मोहकता आ जाती है। इन्हीं गुणों के कारण पुरुष स्त्रियों से प्रेम करते हैं। प्रेम-सम्पादन में यही गुण सहायता देते हैं। और किसी गुण की परवा न करके, सिर्फ़ उनके सुन्दर और सुघर रूप पर मोहित हो कर स्त्रियों के प्रेमपाश में फँसनेवाले पुरुषों के उदाहरण, कौन ऐसा है जिसने नहीं देखे? परन्तु स्त्रियों के सुस्वभाव और सुन्दर रूप को तुच्छ समझ कर सिर्फ़ उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर उनके प्रेम के भिखारी बननेवाले एक भी पुरुष का उदाहरण शायद कोई न दे सके। सच तो यह है कि न्यूनाधिक भाव में बहुत से मनोविकारों के मेल से पुरुष के हृदय में प्रेम-नामक जो मिश्रित विकार पैदा होता है, उसमें शरीर-सौन्दर्य्य के दर्शन से पैदा हुए मनोभाव ही विशेष प्रबल होते हैं। उनसे कम प्रबल वे मनोभाव होते हैं जो सदाचरण-सम्बन्धी सद्व्यवहारों को देख कर पैदा होते हैं। और, सबसे कम प्रबल वे मनोभाव होते हैं जो विद्वत्ता इत्यादि बुद्धि-विषयक बातों को देख कर पैदा होते हैं। ये पिछले मनोभाव स्त्रियों के विद्वत्त्व और ज्ञान पर उतना अवलम्बित नहीं रहते जितना कि उनकी तीव्र बुद्धि, उनकी कल्पना-शक्ति और उनके परिज्ञान आदि स्वाभाविक गुणों पर अवलम्बित रहते हैं। यदि कोई महाशय हमारे इस कथन को अपमानजनक ख़याल करें और यह कहें कि स्त्रियों की ऐसी ऐसी तुच्छ बातों पर भूल कर पुरुषों का उन पर आसक्त होना बतलाना उनकी निन्दा करना है, तो हम उनको यह कह कर उत्तर देंगे कि ईश्वरीय नियमों में इस तरह दोषोद्भावना करना मानों अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है। जो लोग इस तरह के ख़याल रखते हैं वे यही नहीं जानते कि वे कह क्या रहे हैं—वे अपनी बातों का मतलब ही अच्छी

तरह नहीं समझे। जितनी ईश्वरीय योजनायें हैं—जितने ईश्वरीय नियम हैं—उनका अभिप्राय यदि ठीक ठीक समझ में न भी आवे तो भी निःशङ्क होकर हम इस बात को कह सकते हैं कि उनका कोई न कोई बहुत ही अच्छा उपयोग ज़रूर होता होगा। स्त्रियों की सुस्वरूपता आदि के विषय में जो लोग अच्छी तरह विचार करेंगे उनकी समझ में तत्सम्बन्धी ईश्वरीय योजनाओं का मतलब भी ज़रूर आ जायगा। प्रकृति का एक उद्देश—अथवा यह कहिए कि सबसे प्रधान उद्देश—भावी सन्तति के कल्याण की सामग्री प्रस्तुत कर देना है। परन्तु बहुत सी शिक्षा प्राप्त करने से बुद्धि यदि संस्कृत या प्रगल्भ भी हो गई, तो भी, शरीर रोगी रहने के कारण उस बुद्धि का बहुत ही कम उपयोग हो सकता है। इस तरह की बुद्धि का प्रभाव दो ही एक पीढ़ी मे नष्ट हो जाता है; क्योंकि रोगी आदमियों की सन्तति इसके आगे नहीं जीती रह सकती। विपरीत इसके, शरीर यदि सुदृढ़ और रोगरहित है तो, मानसिक शिक्षा चाहे जितनी थोड़ी हो—विद्या की प्राप्ति चाहे जितनी कम की गई हो—सन्तति की उत्पत्ति तो बराबर होती रहती है। अतएव शरीर को नीरोग बनाये रखने की बड़ी ज़रूरत है। क्योंकि, उसकी बदौलत भावी पीढ़ियों मे विद्या की अनन्त वृद्धि की जा सकती है। इन बातों का विचार करने से जिन ईश्वरीय योजनाओं का हमने ऊपर उल्लेख किया उनका महत्त्व अच्छी तरह ध्यान में आ जाता है। पूर्वोक्त ईश्वरीय योजनाओ के अनुसरण से जो लाभ होता है उसे यदि हम हिसाब में न भी लें, तो भी, जो मनोवृत्तियाँ आज तक एक सी चली आती हैं उनकी अवहेलना करके, लड़कियों की स्मरण-शक्ति पर बेहद बोझ लाद कर उनके शरीर का सत्यानाश करना ज़रूर पागलपन है। आप जितनी ऊँची शिक्षा चाहिए दीजिए। जितनीहीं अधिक आप शिक्षा देंगे उतनाहीं अच्छा होगा। परन्तु शिक्षा से शरीरारोग्य का नाश करना उचित नहीं। यहाँ पर, लगे हाथ, हम यह भी कह देना चाहते हैं कि यदि तोते की तरह रटाने की तरफ़ कम, पर सदय होकर बुद्धि को सुशिक्षित करने की तरफ़ अधिक, ध्यान दिया जाय, और मदरसा छोड़ने और विवाह होने के बीच का समय जो व्यर्थ जाता है उसमें शिक्षा का क्रम जारी रक्खा जाय, तो लड़कियाँ काफ़ी तौर पर ऊँचे दरजे की शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं। परन्तु इस तरीक़े से शिक्षा देना, या इतनी अधिक शिक्षा देना, कि शरीर किसी काम ही का न रहे मानो जिस

निमित्त इतनी मेहनत, इतना ख़र्च और इतनी फ़िक्र उठानी पड़ती है उस निमित्त ही को—उस हेतु ही को—जड़ से उखाड़ फेंकना है। लड़कियों से बहुत अधिक विद्याभ्यास करा कर माँ-बाप उनके सारे सांसारिक सुखों और सारी आशाओं पर अक्सर पानी डाल देते हैं। अधिक विद्याभ्यास से वे उनके शरीर को क्षीण करके उसके साथ ही वे उन्हें अनेक प्रकार के क्लेश, अशक्तता और उदासीनता ही के दुःख भोग करने को विवश नहीं करते; किन्तु बहुधा उनके नैरोग्य को यहाँ तक बरबाद कर डालते हैं कि उन बेचारियों को जन्म भर अविवाहित रहना पड़ता है।

६ ३—वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के चार दोष और जीवनी शक्ति के ख़र्च का हिसाब।

यहाँ तक के विवेचन से यह बात सिद्ध है कि बच्चों की शारीरिक शिक्षा-पद्धति में अनेक दोष हैं और बड़े बड़े दोष हैं। पहला दोष तो यह है कि बच्चों को पेट भर खाने को नहीं दिया जाता। दूसरा दोष यह है कि उन्हें अच्छी तरह कपड़ा पहनने को नहीं मिलता। तीसरा दोष यह है कि उनसे (कम से कम लड़कियों से) काफ़ी तौर पर व्यायाम नहीं कराया जाता। चौथा दोष यह है कि उनसे बहुत अधिक मानसिक श्रम लिया जाता है। इस शिक्षा-पद्धति की सब बातों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि यह बहुत सख़्त है। इसके कारण बच्चों को शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करना पड़ता है। यह पद्धति माँगती बहुत है, पर देती बहुत थोड़ा है। अर्थात् परिश्रम बहुत करना पड़ता है, पर लाभ कम होता है। इसकी बदौलत बच्चों की जीवनी शक्ति की इतनी खींच खाँच होती है कि बहुत छोटी उम्र में ही उन्हें वयस्क आदमियों से भी ज़ियादह काम करना पड़ता है। गर्भस्थ बालक की सारी जीवनी शक्ति उसकी बाढ़ में ख़र्च होती है। छोटे छोटे बच्चों की भी जीवनी शक्ति उनकी बाढ ही में विशेष ख़र्च होती है—वह यहाँ तक अधिक ख़र्च होती है कि शारीरिक और मानसिक व्यापारों में ख़र्च होने के लिए बहुत ही थोड़ी रह जाती है। इसी तरह लड़कपन और जवानी में भी बाढ ही की अधिक ज़रूरत रहती है।

और सब ज़रूरतों का महत्त्व उसकी अपेक्षा बहुत कम होता है। अतएव लड़कपन और जवानी में भी देना बहुत चाहिए, लेना कम। इससे यह सिद्ध है कि बाढ़ का परिमाण जितना कम या अधिक होता है, शारीरिक और मानसिक श्रम भी लड़के उतनाहीं कम या अधिक कर सकते हैं। अर्थात् जब बाढ़ का परिमाण घट जाता है तभी उनकी जीवनी शक्ति उन्हें अधिक शारीरिक और मानसिक काम करने की अनुमति दे सकती है।

६४—शारीरिक शिक्षा को तुच्छ समझने और मानसिक शिक्षा को इतना महत्त्व देने का कारण हमारी वर्तमान सामाजिक उन्नति है।

हमारे समाज की उन्नत और सुधरी हुई स्थिति ही इस अति-शिक्षण की एक मात्र कारण है। बहुत पुराने ज़माने में जब दूसरों पर आक्रमण करना और ऐसे आक्रमणों से अपना बचाव करना, यही दो बातें, सामाजिक व्यवसायों में मुख्य थीं, तब शारीरिक शक्ति और साहस ही की सबसे अधिक ज़रूरत थी। उस समय शरीर को मज़बूत बनानाहीं प्रायः सबसे बड़ी विद्या समझी जाती थी। मानसिक शिक्षा की लोग बहुत कम परवा करते थे। जिस समय देश में चारों तरफ दगे-फ़साद होते ही रहते थे उस समय मानसिक शिक्षा को लोग सचमुच ही तुच्छ दृष्टि से देखते थे। परन्तु अब वह समय नहीं है। अब देश में सब कहीं अपेक्षाकृत शान्ति का साम्राज्य है। अब तो शारीरिक शक्ति की जरूरत सिर्फ़ उन्हीं कामों मे दरकार होती है जिन्हें लोगो को हाथ से करना पड़ता है। हाथ-पाँव की मेहनत के सिवा और किसी काम में अब शारीरिक बल की ज़रूरत नहीं। इस समय जितने सामाजिक काम हैं प्रायः सबकी कामयाबी मनुष्यों के बुद्धि-बल ही पर बहुत कुछ अवलम्बित है। इसी से हमारी शिक्षा इस समय प्रायः बिलकुल ही मानसिक हो गई है। और होनी ही चाहिए। समय ही ऐसा लगा है। चाहिए था कि हम शरीर को सब कुछ समझते और मन को कुछ न समझते। पर मन की तो हम बहुत अधिक परवा करते हैं और शरीर की कुछ भी नहीं। ये दोनो बातें भूल से भरी हुई हैं। दोनों ठीक नहीं। यह बात अब तक हमारे ध्यान में नहीं आई कि हमारे जीवन में मन का अस्तित्व

शरीर ही पर अवलम्बित है। मन का सुधार होने से शरीर का भी सुधार होना चाहिए; क्योंकि मन का सारा दारो-मदार शरीर ही पर है। अतएव शरीर को बरबाद करके मन को सुशिक्षित करते बैठना मुनासिब नहीं। पुराने और नये विचारों का परस्पर सम्मेलन होना चाहिए। दोनों स्थितियों का मेल करने ही में भलाई है।

६५—आरोग्य-रक्षा मनुष्य का कर्तव्य है। जब लोग इस कर्तव्य को समझने लगेंगे तभी बच्चों के शरीर-सुख की तरफ़ वे अच्छी तरह ध्यान देंगे।

आरोग्य की रक्षा करना—स्वास्थ्य को न बिगड़ने देना—मनुष्य का परम कर्तव्य है। इस विश्वास के सर्व-साधारण में फैलने से शायद वह समय बहुत निकट आ जायगा जब शरीर और मन दोनो की उचित उन्नति करने में सब लोग अच्छी तरह मन लगावेंगे। और किसी तरह इस बात का होना सम्भव नहीं जान पड़ता। बहुत कम आदमी इस बात को जानते होंगे कि शरीर की रक्षा करना भी हमारा कर्तव्य है। आदमी हमेशा जिस तरह की बातें और जिस तरह के काम करते हैं उनसे मालूम होता है कि अपने शरीर को जिस तरह वे चाहें उस तरह रखने का उन्हें अख़तियार है—इस विषय में वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। प्राकृतिक नियमों की उपेक्षा करने से उन्हें जो शारीरिक क्लेश उठाने पड़ते हैं उनको वे एक प्रकार का अपकार समझते हैं। बीमार पड़ने पर वे समझते हैं कि उनके ऊपर अन्याय हुआ है। वे यह नहीं समझते कि ये बीमारियाँ हमारे ही अनुचित बर्तावों का—हमारे ही अनुचित कामों का—फल है। उनके बुरे व्यवहारो और अनुचित आचरणों के कारण उनके आश्रित जनों और उनकी भावी सन्तति को जो दुःख भोगने पड़ते हैं वे बहुधा उन बड़े बड़े दुःखों से कम भयङ्कर नहीं होते जो बहुत भारी अपराध करने पर लोगों को भुगतने पड़ते हैं। तथापि, लोग यह नहीं समझते कि इस विषय में वे ज़रा भी अपराधी हैं। यह सच है कि मद्यपान करने से शरीर को जो हानि पहुँचती है उसकी बुराई को लोग मानते हैं। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि मद्य पीना मानों शरीर को बरबाद करना है; अतएव मद्य न पीना चाहिए। परन्तु इससे कोई यह

नतीजा नहीं निकालता कि यदि मद्य पीना आरोग्य-रक्षा के नियमों के प्रतिकूल है, तो और जितनी बातों से शरीर को हानि पहुँचती है उन सब का करना भी इन नियमों के प्रतिकूल है। यदि मद्य पीना इस लिए बुरा है कि उससे स्वास्थ्य बिगड़ता है तो स्वास्थ्य बिगड़ने वाली और बातें भी क्यों बुरी नहीं? सच तो यह है कि आरोग्य-रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले जितने नियम हैं उनको तोड़ना एक प्रकार का शारीरिक पाप है। जब यह बात साधारण तौर पर सब लोगों की समझ में आ जायगी तभी वे बच्चों की शरीर-रक्षा की तरफ़ जैसा चाहिए वैसा ध्यान देंगे। उसके पहले इस बात का होना असम्भव सा जान पड़ता है।

अशुद्धि-संशोधन ।

विषय-सूची ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१४	प्रतिमा	प्रतिभा
१४	३	क्षुक्षा	क्षुधा

भूमिका ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१७	सलाह की है	सलाह दी है
६	२५	मनमनी	मनमानी

स्पेन्सर का चरित ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१४	निकालने की	निकालने का
७	२६	शिद्धान्तो	सिद्धान्तों

अनुवाद ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	२	क़ायदा	फ़ायदा
२९	१२	सँभल सकतीं	सँभाल सकतीं
७१	३	वैसाही	वैसीही
८२	११	श्रोह	श्रोर
९५	१२	जो लोग	लोग
९८	२४	उसके	उनके
१०२	२०	जो कि	कि जो
१०७	१४	सांसार	संसार
१४६	२०	व्यवहार में	व्यवहार मे—
१४६	२१	तरकीबें में	तरकीबें में—
१७७	५	उनसे	उससे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८१	३	रंगी	रंगीन
१९१	२१	लड़कों को	लड़कों के
२११	१	या तो विषय का	या तो इस विषय का
२१५	३	वह	यह
२१५	५	वह	यह
२३७	पृष्ठाङ्क	३३७	२३७
२५०	१२	लर	लट
२५९	५	अचित	अनुचित
२७७	४	शिशा-पद्धति	शिक्षा-पद्धति
३१०	४	मिला जाय	लिया जाय
३१३	१	खान	खाना
३२०	२४	हीती	होती
३४४	५	तेरह तेहर	तेरह तेरह
३६५	२८	य	यह
३६६	४	बिगाड़ता है	बिगड़ता है

☞ मात्राओं के टूटने से और भी कितने ही शब्दों की शुद्धि में अन्तर आ गया है। ऐसे शब्दों को पाठक कृपा-पूर्वक सुधार कर पढ़ें।